
नवकारमंत्र
नमो अरिहंताणं
नमो सिद्धाणं
नमो आयरियाणं
नमो उवज्झायाणं
नमो लोए सव्व साहूणं
एसो पंच नमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं

उत्तर भारतीय प्रवर्तक राष्ट्र सन्त भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज के
प्रवर्तक पद-चादर महोत्सव के शुभावसर पर

अमर दीप

[अध्यात्म शास्त्र-ऋषिभाषितानि पर चिन्तन प्रधान प्रवचन]

[द्वितीय भाग]

प्रवक्ता

उत्तर भारत केसरी श्रुतवारिधि

श्री अमर मुनि

सम्पादक

'श्रीचन्द सुराना सरस'

प्रकाशक

श्री आत्म ज्ञान पीठ

मानसा मण्डी, (पंजाब)

☐ **अमर दीप (द्वितीय भाग)**

☐ **श्री पी० सी० जैन, द्वारा-जैन एण्ड एसोसियेटेड**
चण्डीगढ़ के उदार अर्थ सौजन्य से प्रकाशित

☐ **प्रथमावृत्ति**
वि० स० २०४२ चैत्र
३० मार्च १९८६

☐ **प्रकाशक**
श्री आत्म ज्ञान पीठ
मानसा मण्डी, (पंजाब)

☐ **मुद्रण व्यवस्था**
राजेश सुराना,
दिवाकर प्रकाशन के निदेशन में
शक्ति प्रिंटर्स आगरा
एन० के० प्रिंटर्स आगरा

☐ **मूल्य**
लागत मात्र बीस रुपया

समतायोग के समर्थ साधक
भारतीय ऋषि-परम्परा के गौरव
आदर्श श्रमण, आत्म-कुल-द्योतक

राष्ट्रसन्त, उत्तरभारतीय प्रवर्तक शासन ज्योति

गुरुदेव श्री भण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज

के

कर-कमलों में
सादर-सविनय भेंट

—अमर मुनि

प्रकाशकीय

अपने प्रेमी पाठकों के हाथों में हम आज एक महत्त्वपूर्ण अध्यात्म ग्रन्थ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसे जीवन का ग्रन्थ भी कह सकते हैं। इस ग्रंथ में भारत के ४५ ऋषि महर्षियों की साधना से प्राप्त अनुभवों पर आधारित उपदेश वचनों की व्याख्या है। जैन परम्परा में यह ग्रन्थ 'ऋषिभाषितानि' नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में अनेक शिक्षाप्रद, रोचक अध्यात्म प्रधान विविध विचार हैं। हमारे परम श्रद्धेय उत्तर भारत केसरी श्री अमर मुनि जी महाराज तो इसे जैन परम्परा का 'उपनिषद्' ही कहते हैं, और स्थान-स्थान पर इसी ग्रन्थ के आधार पर बड़े प्रेरक, जीवनस्पर्शी प्रवचन करते हैं।

इस पुस्तक में ऋषिभाषितानि सूत्र पर प्रदत्त प्रवचनों का संग्रह है। इन प्रवचनों में जीवन को आलोक प्रदान करने वाली अद्भुत ज्योति है, प्रकाश है और यह प्रकाश एक शास्वत प्रकाश है, अक्षय ज्योति है—इसलिए इसका सार्थक नाम भी यही रखा गया है—'अमरदीप'।

इन प्रवचनों का संग्रह करने में गुरुदेव श्री के मेधावी शिष्य श्री सुव्रत मुनि शास्त्री जी ने बड़ा परिश्रम किया है, तथा इनके सम्पादन में प्रसिद्ध साहित्यकार भाई श्रीचन्द जी सुराना ने बड़ी निष्ठा के साथ कठिन प्रयास किया है।

इस पुस्तक के सम्पादन में जैन समाज के जाने-माने कार्यकर्त्ता, उदार हृदय श्रीयुत प्रेमचन्द जी जैन (जैन एण्ड एसोसियेटेड चन्डीगढ) ने अपने पूज्य माता-पिता जी की भावनानुरूप बड़ी उदारता के साथ धनराशि प्रदान की है। वे गुरुदेव श्री के परम भक्त हैं और समाज के दानवीरों में उनकी गिनती है। हम संस्था की तरफ से उनको भी हार्दिक धन्यवाद देते हैं, पुस्तक बड़ी होने से इसे दो भागों में विभक्त किया गया है। यह द्वितीय भाग पाठकों के कर-कमलों में सादर समर्पित है।

पूज्य गुरुदेव उत्तर भारतीय प्रवर्तक राष्ट्रसन्त श्री भण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज के प्रवर्तक पद चादर महोत्सव पर इस पुस्तक का प्रकाशन 'सोने में सुगन्ध' की तरह हो गया है। हमें विश्वास है, हमारे इस प्रकाशन से जनता लाभ उठायेगी।

फकीरचन्द जैन
प्रधान—आत्म-ज्ञान पीठ

जैन परम्परा का उपनिषद्—ऋषिभाषितानि

हम जिस संसार में जी रहे हैं, इसका नाम है लोक ! लोक का अर्थ है, जो दीखता है, या जो देखा जाता है। यह दुनिया हमें आँखों से साफ दिखाई देती है—इसलिए हम इसे 'लोक' कहते हैं।

एक आचार्य ने लोक का अर्थ किया है—

यत्र पुण्य-पाप फल-लोकनं स लोक :—(राजवार्तिक)

जहाँ पुण्य और पाप का फल प्रत्यक्ष देखा जाता है, वह है लोक।

मनुष्य को, इन्सान को भी लोक कहते हैं। जो स्वयं देख सकता है—जो देखता है वह भी लोक है अर्थात् मनुष्य में देखने की शक्ति है, इस लिए इसे भी 'लोक' कहते हैं।

आप कहेंगे, देखने की शक्ति तो पशु में भी है, बिल्ली बड़ी तेज देखती है, गीध की दृष्टि भी बड़ी तेज है, पर यह 'लोक' क्यों नहीं ? इसका उत्तर स्व० विनोबा जी ने यों दिया है—

पश्यति इति पशु—जो सिर्फ देखता है, वह पशु है।

मननशील: मनुष्य :—

—"जो देखकर उस पर विचार भी करता है, चिन्तन मनन करता है, वह मनुष्य है।

पशु और मनुष्य में यही अन्तर है—पशु सिर्फ देखता भर है, उस पर विचार नहीं करता। क्यों, क्या, कैसे, किसलिए—इन प्रश्नों पर उसका दिमाग काम नहीं करता, किन्तु मनुष्य लोकन करता है, अवलोकन भी करता है। मनन करता है, विचार करता है। अपने जीवन के विषय में, अपने अतीत के विषय में और अपने भविष्य के विषय में भी सोचता है—मननशील है, इसलिए वह मनुष्य है। अवलोकनशील है, इसलिए यह लोक है।

जब मनुष्य देखता है, तो क्या देखता है—यही कि इस दुनिया में कुछ लोग बुरे हैं, कुछ भले हैं। कुछ सज्जन हैं, कुछ दुर्जन हैं ! कुछ सुखी

हैं। कुछ दुखी हैं। फिर इस पर विचार करता है—सुखी है तो क्यों है? दुखी है तो क्यों? बुरा है तो क्यों है? भला है तो क्यों है? यह जीवन क्या है? जगत क्या है? मैं इस दुनिया में आया हूँ तो मुझे क्या करना है, यह जिन्दगी कितने दिन की है? जब मनुष्य यह शरीर छोड़ जाता है तो कहाँ जाता है? मर कर मिट्टी का पुतला यहीं खत्म हो जाता है या कोई ऐसा तत्व है, जो मर कर भी 'अमर' रहता है?

इन सब बातों पर विचार, चिन्तन करना मनुष्य का स्वभाव हैं। वह सदा-सदा से इन बातों पर विचार/मनन करता आया है। यह विचार ही 'दर्शन' कहलाता है। दर्शन की उत्पत्ति जिज्ञासा से होती है। जिज्ञासु मनुष्य दार्शनिक बनता है।

भारत की मिट्टी की यह विशेषता है कि यहाँ का मानव प्रारम्भ से ही जीवन और जगत के विषय में सोचता आया है। साधारण से साधारण दीखने वाला व्यक्ति भी यहाँ 'आत्मा' 'परमात्मा' लोक, परलोक कर्म और पुनर्जन्म की बातें करता है। जीवन की गति प्रगति का रहस्य जानने को वह सदा से उत्सुक रहा है। चिन्तन की यह उत्सुकता मनुष्य को ज्ञान-विज्ञान और अध्यात्म के क्षेत्र में आगे बढ़ाती है।

भारत के ऋषि-मुनि चिन्तनशील, मननशील तो रहे हैं पर साथ ही आत्म-दृष्टा भी रहे हैं। जो सिर्फ जीव और जगत के विषय में सोचता है, वह दार्शनिक होता है, किन्तु जो अपने विषय मे भी सोचता है, वह आध्यात्मिक होता है।

भारत का दार्शनिक सिर्फ दार्शनिक नहीं, किन्तु 'आध्यात्मिक' भी रहा है। वह संसार के विषय में सोचता हुआ अपने विषय में भी सोचता है! ससार में कोई मनुष्य सुखी है, बुद्धिमान है, सुन्दर है, और सर्वत्र उसका सम्मान होता है, तो कोई मनुष्य दुखी है, निरा बुद्धू है, दीखने में भी कुरूप है, पद-पद पर उसे अपमान और असफलता का सामना करना पड़ता है—यह सब भेद क्यों है, किस कारण है? इस तथ्य पर जब चिन्तन किया जाता है तो मनुष्य की 'आत्मा' सामने आती है। कर्म, पर विचार आता है। जिस आत्मा ने जैसा कर्म किया है, पुण्य या पाप, शुभ या अशुभ जैसा आचरण किया है, उसी के अनुसार जीवन में उसके परिणाम या फल मिलते हैं। जैसा बीज बोया जाता है उसी प्रकार का फल भी लगता है।

भारतीय विचारकों में मुख्यत: तीन प्रकार की विचार धाराएँ चलती रही हैं।

१. नास्तिकवादी

२. ईश्वरवादी

३. आत्मवादी

नास्तिक, जिसे प्राचीन भाषा में चार्वाक कहते थे, वह सिर्फ शरीर को ही मानता है। उसका कहना है—"मनुष्य तो माटी पानी के संयोग से पैदा हुआ एक पुतला है, कुछ दिन अपना खेल दिखाकर वापस इसी मिट्टी पानी, आकाश में मिल जायेगा। इस शरीर से आगे कोई नई दुनिया नहीं है।" इस प्रकार की नास्तिक विचारधारा में 'पुण्य-पाप' आत्मा-परमात्मा नाम की वस्तु ही नहीं है। कोई परम शक्ति या शाश्वत तत्व ही नहीं हैं। खाना-पीना भोग-विलास, यही क्षुद्र लक्ष्य है इस जीवन का।

दूसरी विचारधारा है—ईश्वरवादी ! उनका कहना है—मनुष्य केवल क्षणस्थायी माटी का पुतला नहीं है, इसके अन्दर अमरत्व का दीपक भी जल रहा है। जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद पुन: जन्म—यह संसारचक्र है और इस विराट संसारचक्र को चलाने वाली कोई परमशक्ति या सत्ता भी है, वह सत्ता भले ही हमें दृष्टिगोचर नहीं हो रही है, किन्तु वह दूध में चिकनाई की तरह कण-कण में व्याप्त है, और उस परम सत्ता के इशारे पर ही मनुष्य-प्राणी कठपुतली की तरह नाच रहा है। वह परम सत्ता है 'ईश्वर'। उसी की प्रेरणा से मनुष्य शुभ कार्य करता है, अशुभ कार्य भी उसी की प्रेरणा से करता है।

तीसरी विचारधारा—आत्मवादी है। आत्मवादी का कहना है, मनुष्य स्वयं ही शक्ति का केन्द्र है। मनुष्य एक आत्मा है, और आत्मा ही परमात्म शक्ति का रूप है। जब तक कर्म का, वासना का, मोह माया का आवरण या पर्दा पड़ा है तब तक वह परम ज्योति निखर नहीं पाई है, इसलिए यह मानव दीन-हीन असमर्थ दीखता है। जब यह प्रयत्न करके, तपस्या और साधना करके उन आवरणों को हटा देगा तो उसी के भीतर से वह परम ज्योति फूट पड़ेगी। आत्मा ही परमात्मा के रूप में प्रकट हो जायेगा। बीज ही वृक्ष का विराट रूप धारण कर लेगा। बीज और वृक्ष दो अलग वस्तुएँ नहीं हैं, इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा की भी अलग सत्ता नहीं है। जीव ही शिव है, नर ही नारायण है। सिर्फ जरूरत है पुरुष को पुरुषार्थ करके, साधना करके 'परमेश्वर' स्वरूप प्रकट करने की।

यह तीसरी विचारधारा—आत्मवादी विचारधारा है। इसे हम जैन दर्शन या जैन विचारधारा कह सकते हैं।

आत्मवादी विचारधारा मनुष्य के विराट रूप में विश्वास करती है, और इसे आत्मा से परमात्मा बनने की प्रेरणा देती है। वह प्रेरणा है, त्याग, संयम, साधना, वैराग्य और समाधि की। साधना—ईश्वर का दर्शन करने के लिए नही, किन्तु अपने भीतर छुपे ईश्वर स्वरूप को प्रकट करने के लिए है।

तो आत्म-विकास के विचार, चिन्तन, उपदेश जिन शास्त्रों में होते हैं, वे अध्यात्म शास्त्र कहलाते हैं। जिन ऋषियों ने अपने अनुभव से जो कुछ देखा है, जाना है, अनुभव किया है, वे वही अनुभव दूसरों के कल्याण के लिए प्रकट करते हैं, उनके वे अनुभव ही शास्त्र हैं, ग्रन्थ हैं।

हम जिस 'ऋषिभाषित' सूत्र पर आगे चर्चा कर रहे हैं, वह एक अध्यात्मशास्त्र है। भारत की अध्यात्मवादी विचारधारा का इस पर गहरा प्रभाव है। इसमें ऋषि मुनि, तपस्वी परिव्राजक और भिक्षुओं के जीवनानुभव हैं। साधना के द्वारा जो 'अमृत' उन्हें प्राप्त हुआ वही विचारों का अमृत उन्होंने हमारे लिए प्रस्तुत किया है, इस ग्रन्थ में।

'ऋषिभाषित' सूत्र किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है, किन्तु यह तो भारत की तपोभूमि पर पैदा हुए उन विभिन्न ४५ ऋषि-मुनियों के आत्मानुभव का संकलन है, जिन्होंने स्वयं को तपाया है, खपाया है, साधना के क्षेत्र में। इसमें विविध प्रकार के विषय हैं त्रिविध प्रकार की शैलियां है, और अपने-अपने आत्मानुभव में बड़ी विविधता और रोचकता है।

'ऋषिभाषितानि' का मैंने कई बार अध्ययन किया है, इस पर अनेक बार प्रवचन दिये हैं। मैं जैसे-जैसे इस पर विचार करता हूँ—मुझे लगता है यह ग्रन्थ जैन परम्परा का उपनिषद् हैं। उपनिषद् में जिस प्रकार विविध ऋषियों के अध्यात्म अनुभव गुम्फित हैं, इसी प्रकार इस ग्रन्थ में भी बड़े ही गहन, अनुभव मूलक, आत्मस्पर्शी अध्यात्म-अनुभव है। इसकी भाषा शैली भी सूत्रात्मक है, थोड़े में बहुत व्यक्त करने वाले गूढ़ वचन हैं। ऋषियों ने बड़ी स्पष्टता और सूक्ष्मता के साथ मनुष्य के अन्तर मन को जागृत करने, प्रबुद्ध करने का प्रयास किया है। इसीलिए कहीं-कहीं यह सूत्र बहुत गम्भीर भी हो गया है। चूंकि यह 'अध्यात्मवाद' का ग्रन्थ है, इसलिए कथा-कहानी जैसा सरल और रोचक होने का प्रश्न ही नहीं। इससे जीवन की, अन्तरमन की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया गया है। इसमें आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, संयोग-वियोग, क्रिया-अक्रिया, संयम, निर्जरा-संवर

तप जैसे गहन विषय हैं तो कहीं-कहीं बड़े सरल, रोचक और शिक्षाप्रद विषय भी हैं। इसलिए हो सकता है ये प्रवचन पाठकों को एक ही बार में समझ में कम आये; वे इसे पुनः पुनः, मननपूर्वक पढ़ेंगे, उन पर चिन्तन करेंगे तो विषय हृदयंगम हो सकेगा। और जैसे-जैसे वे इनकी गहराई में पहुँचेंगे, लगेगा इन में लीक से हटकर कुछ नया है, और विचार सामग्री भी नई है, सूक्तियाँ भी मन को छूने वाली हैं।

बहुत वर्षों से मेरी भावना थी कि इन प्रवचनों का संकलन कर पुस्तकाकार रूप प्रदान किया जाये तो अध्यात्म रसिक बन्धुओं के लिए काफी अच्छी सामग्री तैयार हो जायेगी। मेरे परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव राष्ट्रसन्त श्री भण्डारी जी महाराज की भी प्रेरणा रही। और मेरे शिष्य श्री सुव्रत मुनि शास्त्री एवं स्नेहीबन्धु श्रीचन्द जी सुराना की भी इच्छा थी कि इन प्रवचनों का सम्पादन प्रकाशन होना चाहिए, अब यह पुस्तकाकार 'अमरदीप' बनकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। ऋषिभाषितानि पर कुल ४८ प्रवचन हैं, २१ प्रवचन प्रथम भाग में आ चुके हैं, अतः २२ से ४८ (२४ प्रवचन) द्वितीय भाग में हैं। आशा है प्रेमी और जिज्ञासु पाठक गम्भीरतापूर्वक इन्हें पढ़कर लाभ उठायेंगे।

इस प्रकाशन में धर्मप्रेमी श्री पी० सी० जैन के परिवार ने जो सहयोग दिया है, वह भी अनुकरणीय और प्रशंसनीय है।

—अमर मुनि

□



धर्मप्रेमी उदारहृदय सेठ श्रीराम जैन तथा उनका परिवार–

[एक परिचय]

जैसे फूल की विशेषता उसकी सुगन्ध है, दीपक की महत्ता प्रकाश में है, वैसे ही मनुष्य जीवन की महत्ता उसके सद्गुणों में है।

जिस जीवन में सद्गुण हैं, धर्म-प्रेम, उदारता, प्रभु भक्ति, राष्ट्रभक्ति और मानव-सेवा की भावना जिस मानव में है, वह मानव मानवता का शृंगार है, ससार का श्रेष्ठ मानव है।

सेठ श्रीराम जी जैन भी श्रेष्ठ मानवों की इस शुभ परम्परा में आते हैं। आपका पूरा परिवार ही भगवान महावीर की उदार शिक्षा और उपदेशों पर आचरण करने वाला, राष्ट्रीय विचारों का सुसंस्कृत तथा प्रतिष्ठित परिवार है।

आप मूलतः ग्राम मडलोडा जि० करनाल (हरियाणा) के निवासी हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती कलावती जैन भी बड़ी धार्मिक, श्रद्धाशील और सेवापरायण नारीरत्न है। आपके पांच सुपुत्र तथा पांच सुपुत्रियाँ हैं।

सहारनपुर (उ० प्र०) में आपका चावल मिल तथा सालवेंट प्लाण्ट है। आप एक परिश्रमी तथा नीतिमान उद्योगपति है। आपके ही सुसंस्कार आपके पुत्र-पुत्रियों में, परिवार में पल्लवित हुए हैं। आपकी सभी सन्तान आज्ञाकारी, सुशिक्षित तथा अपने व्यवसाय में कुशल हैं। आपके समस्त परिवार की जैनधर्म, भगवान महावीर तथा राष्ट्रसन्त गुरुदेव भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज के प्रति अगाध श्रद्धा है।

आपकी पाँचों पुत्रियाँ अच्छे प्रतिष्ठित सुखी परिवार में विवाहित हैं। पाँचों पुत्रों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—



धर्मप्रेमी उदारहृदय उद्योगपति

सेठ श्रीराम जैन, मडलोडा (करनाल)



धर्मशीला सुश्राविका श्रीमती कलावती जैन

धर्मपत्नी सेठ श्रीराम जैन, मडलोड़ा

१. **श्री प्रेमचन्द जैन** (C.A.) आपकी धर्मपत्नी हैं—
—श्रीमती कमलश्री जैन बी.ए., बी. एड.

२. **श्री बाबू राम जैन** (C.A.) धर्मपत्नी; **श्रीमती डा० अनीता जैन** एम. बी. बी. एस.।

३. **श्री ब्रिजेन्द्र जैन** (C.A) धर्मपत्नी **श्रीमती सन्तोष जैन** एम.ए.।

४. **श्री सुशील जैन** (C.A.)

५. **श्री राकेश जैन** (B.Com.) अध्ययन कर रहे हैं।

आपके सुपुत्र देश के विभिन्न बड़े नगरों जैसे चण्डीगढ़, पानीपत, दिल्ली, बम्बई आदि में अपने व्यवसाय में संलग्न हैं। चार्टर्डट एकाउन्टेण्ट तथा अन्य उद्योग व्यवसाय भी सम्भालते हैं।

आपकी प्रमुख फर्मों के कार्यालय निम्न हैं—

जैन एण्ड एसोसियेट्स
S. C. O. 819 20 सेक्टर 22 A.
चण्डीगढ़, 160-022

फोन : 20761/20967

हम प्रभु जिनशासनदेव से प्रार्थना करते है कि यह सुसंस्कारी प्रतिष्ठित परिवार धर्म एवं राष्ट्र की सेवा करता हुआ धार्मिक संस्थाओं को इसी प्रकार उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान करता रहेगा।

फकीरचन्द जैन
प्रधान—श्री आत्म ज्ञानपीठ, मानसा मंडी

नवयुग सुधारक राष्ट्रसन्त उत्तर भारतीय प्रवर्तक श्री भंडारी पद्मचन्द जी महाराज

कुछ लोग अपने माता-पिता तथा गुरु के नाम से प्रसिद्ध होते हैं, तो कुछ लोग अपने ज्ञान व अध्ययन-डिग्री आदि के कारण। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो अपनी सेवा और उदारता के कारण ही प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं।

हमारे पूज्य गुरुदेव प्रवर्तक श्री पद्मचन्द्र जी महाराज अपनी उदारता, सेवाभावना के कारण समाज में प्रारम्भ से ही 'भण्डारी जी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज ने ही आपकी सेवा और सब के लिए, सब कुछ समर्पण की भावना को देखकर भण्डारी नाम का प्यारा व सार्थक सम्बोधन दिया था। आचार्यश्री के प्रमुख शिष्य प्रकाण्ड पण्डित और शान्तमूर्ति पण्डित श्री हेमचन्द्र जी महाराज आपके दीक्षा गुरु थे। प्रारम्भ से ही आप गुरुदेव तथा दादागुरु आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज की सेवा में रहे। आचार्यश्री की अन्तिम अवस्था में तो आपने उनकी अभूतपूर्व सेवा की, जिसके कारण उन्हें परम शान्ति व समाधि अनुभव हुई।

आपश्री स्वभाव से बहुत ही सरल, निष्पृह, नाम की कामना से दूर रहते हुए धर्म का प्रचार करते हैं। आपके सदुपदेश तथा प्रेरणा से आपश्री के सुयोग्य शिष्य श्री अमरमुनि जी महाराज के मार्गदर्शन से पंजाब एवं हरियाणा में स्थान-स्थान पर धर्मस्थानक, जैन हॉल, विद्यालय आदि का निर्माण हुआ है। आपश्री जी की प्रेरणा व प्रयत्न से पटियाला यूनीवर्सिटी में 'जैन चेयर' की स्थापना हुई जहाँ जैन धर्म, दर्शन व साहित्य पर विशेष शोध-अध्ययन चल रहा है।

जैन शासन एवं श्रमण संघ की उन्नति-अभ्युदय में आपका योगदान इसी प्रकार दीर्घकाल तक मिलता रहे, और आप स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन प्राप्त करें—यही मंगल भावना है। □



राष्ट्रसन्त, नवयुग सुधारक, उत्तरभारतीय प्रवर्तक श्री भण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज

वाणी के जादूगर : प्रवचनभूषण

उत्तर भारत केसरी श्री अमर मुनि

वक्ता वाग्देवता का प्रतिनिधि है। वक्ता की वाणी मुर्दों में प्राण फूंक देती है तथा पापियों को पुण्यात्मा बना देती है।

प्रवचनभूषण श्री अमर मुनि जी एक उच्चकोटि के सन्त-वक्ता हैं। वे कवि भी हैं, भक्ति धारा में डुबकियाँ लगाने वाले सन्त हैं, और ऊँचे विचारक, विद्वान तथा लेखक भी हैं। हृदय से बड़े सरल, सबका भला चाहने वाले, अत्यन्त मृदुभाषी और वह भी अल्पभाषी, देव-गुरु-धर्म-के प्रति अटल श्रद्धा-भक्ति रखने वाले, प्रसन्नमुख और आकर्षक व्यक्तित्व के धनी ऐसे सन्त हैं जिनके निकट एक बार आने वाला, बार बार उनसे मिलना चाहता है, बोलना चाहता है, सुनना चाहता है और पाना चाहता है उनका आशीर्वाद।

वि० सं० १९९३, भादवा सुदि ५ तदनुसार ई० सन् १९३६ सितम्बर में क्वेटा (बलूचिस्तान) के सम्पन्न मल्होत्रा परिवार में आपका जन्म हुआ। आपके पिता श्री दीवानचन्द जी और माता श्री बसन्तीदेवी बड़े ही उदार और प्रभुभक्त थे।

पूर्व जन्म के संस्कार कहिए या पुण्यों का प्रबल उदय, आप ११ वर्ष की लघु वय में आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के चरणों में पहुँच गये और वैराग्य संस्कार जागृत हो उठे। आचार्यश्री ने अपनी दिव्य दृष्टि से आप में कुछ विलक्षणता देखी और जब आपकी भावना जानी तो अपने प्रिय सेवाभावी प्रशिष्य भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज को कहा—"भण्डारी, इसे तुम सँभालो, यह तुम्हारी सेवा करेगा और नाम रोशन करेगा।"

११ वर्ष की आयु से ही आपने हिन्दी, संस्कृत और जैन धर्म का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। १५ वर्ष की आयु में वि० सं० २००८ भादवा सुदि ५ को सोनीपत मण्डी में जैन श्रमण दीक्षा ग्रहण करली।

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के स्नेहाशीर्वाद एवं गुरुदेव श्री भंडारी जी महाराज की देख-रेख में आपने जैनधर्म, दर्शन, प्राकृत, संस्कृत, गीता, रामायण, वेद तथा भारतीय दर्शनों व धर्मों का गहरा अध्ययन किया। आप एक योग्य विद्वान, कवि और लेखक के रूप में प्रसिद्ध हुए। आपकी वाणी, स्वर की मधुरता और ओजस्विता तो अद्भुत हैं ही, प्रवचन शैली भी बड़ी ही रोचक, ज्ञानप्रद और सब धर्मों की समन्वयात्मक हैं। हजारों जैन-जैनेतर भक्त आपकी प्रवचन सभा में प्रति-दिन उपस्थित रहते हैं।

आप समाज की शिक्षा एवं चिकित्सा आदि प्रवृत्तियों पर ज्यादा ध्यान देते हैं। जगह-जगह विद्यालय, गर्ल्स हाईस्कूल, वाचनालय, चिकित्सालय और सार्वजनिक सेवा केन्द्र तथा धर्मस्थानकों का निर्माण आपकी विशेष रुचि व प्रेरणा का विषय रहा है। पंजाब व हरियाणा में गाँव-गाँव में आपके भक्त और प्रेमी सज्जन आपके आगमन की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

आपश्री ने जैनधर्मदिवाकर आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज की जन्म शताब्दी वर्ष में उनकी स्मृति में जहाँ अनेक धर्मस्थानक, हाईस्कूल आदि की प्रेरणा दी है, वहाँ साहित्य के क्षेत्र में भी महान स्मरणीय कार्य किया है।

सूत्रकृतांग जैसे दार्शनिक आगम का दो भागों में सम्पादन-विवेचन किया, भगवती सूत्र जैसे विशाल सूत्र का (४ भाग) सम्पादन विवेचन किया है जो आगम प्रकाशन समिति ब्यावर से प्रकाशित हो रहे हैं। आचार्य श्री की अमरकृति "जैन तत्त्व कलिका विकास" को भी आधुनिक शैली में सुन्दर रूप में सम्पादित किया है। और 'जैनागमों में अष्टांग योग' का भी बहुत ही सुन्दर व आधुनिक ढंग का एक परिष्कृत-परिवर्धित संस्करण 'जैन योग: सिद्धान्त और साधना' के रूप में तैयार किया है। ऋषि भाषितानि सूत्र पर आपश्री के विवेचना पूर्ण प्रवचन अमरदीप में संकलित है।

आप यश एवं पद की भावना से दूर रहकर समाज में धर्म तथा ज्ञान का प्रचार करने में ही रुचि रखते हैं। समाज ने आपको प्रवचन भूषण, श्रुतवारिधि, उत्तरभारत केसरी आदि पदवियों से सम्मानित किया है। गुरुदेव भंडारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज के सान्निध्य में आप युग-युग तक धर्म की यश:पताका फहराते रहें – यही मंगल कामना है। □



प्रवचन भूषण उत्तर भारत केसरी

श्री अमर मुनि जी महाराज

अमर दीप

अनुक्रमण

(अमर दीप : द्वितीय भाग)

□

२२

आर्य और अनार्य की कसौटी

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आज मैं भारतीय संस्कृति और धर्मों से सम्बन्धित एक ऐसे विषय की चर्चा करना चाहता हूं, जिसकी आधारशिला आचार-विचार की पवित्रता और अपवित्रता पर आधारित है। वे दो शब्द हैं, जिन पर मुझे आज प्रकाश डालना है—आर्य और अनार्य। आर्य कौन हैं और अनार्य कौन हैं? इस पर अगर हम ऐतिहासिक दृष्टि से ही पर्यालोचन करेंगे तो वस्तुतत्व की वास्तविक तह में नहीं पहुँच पाएँगे। जाति, देश और भाषा आदि स्थूल बातों के आधार पर ही आर्यत्व और अनार्यत्व का यथार्थ निर्णय नहीं किया जा सकता। यदि आप कहेंगे कि जिसने आर्यजाति में जन्म लिया वह आर्य है. तो आर्यत्व केवल रक्त में ही रह जाएगा। उच्च आचार और विचार से शून्य व्यक्ति भी आर्य कहलाने लगेगा। वास्तविकता यह है कि आर्य वह है जो उत्तम विचार और श्रेष्ठ आचार से युक्त हो, जिसके विचारों में आर्यत्व है, जिसका सुसंस्कृत आचारआर्यत्व के अनुरूप है, वही व्यक्ति आर्य कहलाने योग्य है।

आचार की पवित्रता विचारों की पवित्रता पर अवलम्बित है और विचारों की पवित्रता श्रेष्ठ पुरुषों की संगति एवं तदनुसार श्रेष्ठ आचरण के अभ्यास से सुरक्षित रहती है। कहावत है—'जैसा संग, वैसा रंग'। मनुष्य जिसके साथ अधिक रहता है, वैसा ही बन जाता है। एक पाश्चात्य विचारक महाकवि कहता है—

Tell me with whom thou art found,
and I will tell thee, what thou art.

मुझे बताओ कि तुम किसके साथ अधिक रहते हो, मैं तुम्हें बता दूंगा कि तुम क्या हो?'

यही कारण है कि उन्नीसवें अध्ययन में अर्हतर्षि आर्यायण ने इसी ज्वलन्त प्रश्न की चर्चा करते हुए कहा—

सव्वमिणं पुरा आरियमासि आरियायणेणं अरहता इसिणा वुइतं ।
वज्जेज्ज अणारियं भावं, कम्मं चेव अणारियं ।
अणारियाणि य मित्ताणि आरियत्तमुवट्ठिए ॥१॥

—पहले यहाँ सब लोग आर्य ही थे, इस प्रकार अर्हतर्षि आर्यायण ने कहा। (सच्चे माने में आर्य बनने के लिए व्यक्ति को चाहिए कि वह) अनार्य-भाव (विचार) का परित्याग करे, साथ ही अनार्य कर्म (आचार या आजीविका के कर्म) को भी छोड़े। इसके लिए अनार्य मित्रों की भी संगति छोड़े, और आर्यत्व में प्रवेश करने के लिए उद्यत हो जाये।

अर्हतर्षि आर्यायण ने सर्वप्रथम यह चिन्तन किया कि प्राचीनकाल में यहाँ सभी आर्य थे। इसीलिए भारत देश का प्राचीन नाम 'आर्यावर्त' था। यहाँ के रहन-सहन, संस्कृति, वेशभूषा, भाषा, आचरण, व्यवहार और विचारों में आर्यत्व ओतप्रोत था। किन्तु आज भारत मे आर्यत्व विदा ले रहा है और अनार्यत्व पनप रहा है। भारतीय जनमानस में आज अनार्यत्व की छाया पड़ चुकी है। उसके कर्मों में, आचरण और व्यवहार में अनार्यत्व प्रतिबिम्बित हो रहा है। उसके रहन-सहन, संस्कृति, वेशभूषा एवं भाषा में भी अनार्यत्व के संस्कार घुस चुके हैं। यहाँ की पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न हो चुकी हैं। उदात्त धार्मिक विचार लुप्त हो रहे हैं। संकीर्ण जातिवाद, वर्णवाद, रंगवाद एवं स्वार्थवाद ने आर्यत्व की जड़ें हिला दीं। भाई-भाई बनकर रह रहे भारतीय जनों को इन संकीर्ण विचारों और स्वार्थ के कीड़ों ने अलग अलग कर दिया। जिसके पास धन अधिक रहा, जिसके पास आजीविका के अच्छे स्रोत रहे भोग-विलास के प्रचुर साधन रहे, तथा जिसके हाथों में सत्ता आ गई वह कर्म और आचरण से कैसा भी रहा, 'आर्य' बन बैठा। उन अनार्यसंस्कारी सत्ताधारी और धनिकों के साथ अच्छे विचार और आचार वाले निर्धन व्यक्तियों ने भी साठ गाँठ की, उनकी संगति में रहने लगे और इस प्रकार भारतवर्ष में अनार्यत्व पनपने लगा।

आर्य और अनार्य की परिभाषा

सामान्यतया आर्य शब्द का अर्थ होता है—श्रेष्ठ। शब्दशास्त्र की दृष्टि से आर्य शब्द के प्रायः दो अर्थ मुख्यतया शास्त्रों की टीकाओं में मिलते हैं—

'आरात् सर्वहेयधर्मेभ्य इति आर्यः'
'ऋच्छति—प्राप्नोति सद्गुणानिति आर्यः'

—जो समस्त त्याज्य धर्मों, अर्थात् अहितकर एवं निन्दनीय कार्यों से दूर रहता है, वह आर्य है।

—अथवा जो व्यक्ति और समाज के लिए कल्याणकारी सद्गुणों को प्राप्त करता है, वह आर्य है।

भारतीय संस्कृति के अनुसार दैवी प्रकृति के धनी को आर्य और आसुरी प्रकृति के धनी को अनार्य कहा जा सकता है।

दैवी प्रकृति से सुशोभित आर्य-पुरुषों की यही विशेषता होती है कि वे अपने हृदय में किसी के प्रति वैर-विरोध, छल-छिद्र, द्वेष-वैमनस्य को स्थान नहीं देते। वे स्वभाव से ही सरलस्वभावी, समदर्शी एवं समभावी होते हैं।

प्राचीन नीति ग्रन्थों में आर्य के कुछ लक्षण बताये गये हैं, जिनसे भी आपको आर्य शब्द का महत्त्वपूर्ण अर्थ मालूम हो जाएगा—

कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः ॥१॥

कुलं शील दया दानं धर्मः सत्यं कृतज्ञता।
अद्रोह इति येष्वेतत् तानार्यान् संप्रचक्षते ॥२॥

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं, न दर्पमारोहतिनास्मयेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं, तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥३॥

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं, नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुते यस्ताप, स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥४॥

अर्थात्—जो अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह से पालन करता है, किन्तु अकर्त्तव्य का आचरण नहीं करता, बल्कि अपने स्वाभाविक श्रेष्ठ आचरण में दृढ़ रहता है, वही आर्य कहलाता है।

श्रेष्ठ कुल, उत्तम शील, दया, दान, धर्माचरण, सत्य, कृतज्ञता एवं अद्रोह आदि सद्गुण जिनमें हों, वे ही आर्य कहलाते हैं। जो शान्त हुए वैर-विरोध को उभारता नहीं न घमण्ड करता और न ही अस्मिता या रोष करता है। स्वयं बड़ी से बड़ी विपत्ति में फँस जाने पर भी अकार्य नहीं करता, उसी आर्यशीलशाली पुरुष को आर्य कहा गया है।

जो अपने सुख में कभी हर्षित नहीं होता और दूसरे को दुःख में देखकर खुश नहीं होता है, दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, उसी सत्पुरुष को आर्यशील कहा जाता है।

सचमुच, आर्य शान्ति और धैर्य को क्षण भर के लिए भी नहीं छोड़ते। भयानक से भयानक परिस्थिति में भी वे अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। वे सांसारिक वैषयिक सुखों को आत्मिक सुखों के आगे तुच्छ मानते हैं। उन्हें दृढ़ विश्वास होता है कि संसार का समस्त वैभव तथा विषयोपभोग आत्मा को जरा भी सुखी नहीं कर सकते।

योगिराज भर्तृहरि ने नीतिशतक में भी आर्यजनों के सुमार्ग का वर्णन करते हुए कहा है—

> प्राणघातान्निवृत्तिः परधनहरणेसंयमः सत्यवाक्यम्,
> काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
> तृष्णास्रोतो-विभंगो, गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा,
> सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥५४॥

—जो महानुभाव प्राणिहत्या से निवृत्त होते हैं, पर-धन को हरण करने में संयम रखते हैं, सत्य वचन बोलते हैं, समय आने पर शक्ति अनुसार दान देते हैं, परस्त्रियों की विकथा में मौन रहते हैं, जिन्होंने तृष्णा के स्रोत को समाप्त कर दिया है, जो श्रेयस्कर शास्त्रों के विधान को तोड़ते नहीं, यही श्रेष्ठ पुरुषों (आर्यों) का उज्ज्वल पथ है।

ऐसे आर्य पुरुषों के हृदय में प्राणिमात्र के प्रति मैत्री, करुणा और आत्मीयता की भावना होती है। अपनी विशाल दृष्टि और उदारवृत्ति के कारण वे सबको अपना आत्मीय समझते हैं। वे विश्वकुटुम्बी बनकर मन से किसी भी प्राणी का अहित चिन्तन नहीं करते, वचन से एवं कार्य से भी किसी का अनिष्ट नहीं करते। वे दूसरों के सुख-दुःख एवं हानि-लाभ को अपना सुख-दुःख एवं हानि लाभ समझते हैं। वे अत्यन्त कष्ट में होते हुए भी धर्म-पथ को नहीं छोड़ते, न ही पाप-पथ को स्वीकार करते हैं। वस्तुतः आर्यजन अपने विचारों और कार्यों से अपनी आत्मा को उन्नत एवं पवित्र बनाते हैं, और इहलोक एवं परलोक में सुख के भागी बनते हैं।

इसके विपरीत जो अनार्य पुरुष होते हैं, वे आसुरी शक्ति के धनी होते हैं। उनकी भावनाएँ क्रूर और हिंसापूर्ण होती हैं। उनके कृत्य अतिनिन्दनीय होते हैं। ऐसे पुरुष निर्बलों और पीड़ितों का आर्थिक दृष्टि से शोषण एवं उत्पीड़न करते हैं, अन्याय और अत्याचार करते हैं; तथा दूसरे के अधिकारों का अपहरण करने में वे जरा भी नहीं चूकते। वे अनीति और अधर्म से अर्थोपार्जन करते हैं। दूसरों का अनिष्ट करने में वे रंचमात्र भी नहीं डरते और न ही झूठ बोलने, ठगी एवं बेईमानी करने तथा कपट करने में संकोच

करते हैं। वे जरा सा अधिकार या पद पाकर दूसरों को पछाड़ने, नीचा दिखाने एवं बदनाम करने में तत्पर रहते हैं। मद एवं अहंकार में छके रहने के कारण वे दूसरों का अपमान करते देर नहीं लगाते। धन और सत्ता के लिए वे तिकड़मबाजी और हेराफेरी करते रहते हैं। पापकर्म करने में जरा भी भय न होने के कारण उन्हें भविष्य में होने वाली दुर्गति का जरा भी भान नहीं रहता। उत्तराध्ययन सूत्र के शब्दों में अनार्य का लक्षण देखिये—

हिंसे बाले मुसावाई माइल्ले पिसुणे सढे।
भुञ्जमाणे सुरं मंसं सेयमेयं ति मन्नई॥
कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागुव्व मट्टियं॥

—उत्तरा० ५/९-१०

अर्थात्—अज्ञानी अनार्य व्यक्ति हिंसापरायण, मृषावादी, मायी (कपटी), चुगलखोर एवं शठ (धूर्त) होता है, वह मांस और मदिरा का सेवन करता हुआ, इसी में अपना श्रेय समझता है। वचन और काया से वह मदोन्मत्त, धनलोलुप और कामी (स्त्रियों में आसक्त) पुरुष बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ओर से पाप-कर्ममल का उसी तरह संचय करता है; जिस प्रकार शिशुनाग (अलसिया) अपने पेट में और शरीर पर भी मिट्टी संचित कर लेता है।

'आर्यत्व' का अर्थ है—श्रेष्ठता। श्रेष्ठता कपड़ों में, मकानों में या नये-नये सुख-साधनों में नहीं, वह तो मनुष्य के चरित्र में है।

कहते हैं—एक बार स्वामी विवेकानन्दजी अमेरिका की सड़कों पर घूम रहे थे। उनके बदन पर संन्यासी की सिर्फ एक गेरुआ चादर बड़ी बेतरतीब लिपटी हुई थी। उनके इस रंग-ढंग को देखकर अमेरिकावासियों ने स्वामी जी को घूर-घूर कर देखा, कइयों ने कहा—"भारत में सभ्यता और संस्कृति का विकास नहीं हुआ।" तब स्वामी जी ने उनको लताड़ते हुए कहा—"तुम्हारे यहाँ की संकृति का निर्माण दर्जी करता है, भारत की संकृति का निर्माण चरित्र से होता है। तुम्हारी संस्कृति कपड़े में झलकती है, भारत की संस्कृति मनुष्य के आचरण से प्रकट होती है।"

नौ प्रकार के आर्य : एक चिन्तन

धार्मिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो आर्यों के अनेक प्रकार हैं।

प्रज्ञापनासूत्र में क्षेत्र, कुल, जाति आदि कई अपेक्षाओं से आर्य के नौ प्रकार बताये गये हैं—

खेत्ते जाई कुल-कम्म-सिप्प-भासाइ-नाण-चरणे य ।
दंसण-आरिय णवहा मिच्छा सगजवणखसमाई ।

अर्थात्—क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, शिल्प, भाषा, ज्ञान, दर्शन और चारित्र, यों नौ अपेक्षाओं से नौ प्रकार के आर्य कहलाते हैं। इनकी परिभाषा इस प्रकार हैं—

क्षेत्रार्य- आर्य क्षेत्र में जन्म लेने या रहने वाला। भारतवर्ष के प्राचीन भूगोल के अनुसार शास्त्र में २५। आर्य क्षेत्र माने जाते हैं। जहाँ प्रायः पापाचरण न होता हो, धर्म-कार्यों मे प्रवृत्ति हो, तथा पापाचरण समाज द्वारा निन्द्य तथा अननुमोदित हो, वह आर्य क्षेत्र है। आर्य क्षेत्र में स्वभावतः पाप कार्यों के प्रति घृणा होती है। किन्तु अनार्य क्षेत्र वे हैं जहाँ जन्म से ही बालक हिंसक, पापी और दुर्बुद्धि बन जाते हैं।

जात्यार्य—उच्च जाति में जन्म लेने वाले प्रायः जात्यार्य माने जाते हैं। जाति का अर्थ मातृपक्ष है। जिसका मातृपक्ष उत्तम सस्कारों से सम्पन्न हो, वह जात्यार्य है।

कुलार्य— विशुद्ध वंश परम्परा मे जन्म लेने वाले प्रायः कुलार्य कहलाते हैं। साधारणतया पितृपक्ष कुल कहलाता है। कुलीन वंश में जन्म लेने वाला बालक प्रायः उत्तम विचार और आचरण को ग्रहण कर लेता है। विवाह करते समय इसी कारण कुल—खानदान देखा जाता है।

कर्मार्य—जिनका व्यवसाय सात्त्विक हो, हिंसा, झूठ, ठगी, बेईमानी आदि का न हो, वे कर्म (आजीविका) से आर्य कहलाते हैं।

शिल्पार्य—बर्तन बनाना, काष्ठ से वस्तुओं का निर्माण करना, रूई धुनना, वस्त्र बुनना आदि शिष्ट सात्त्विक शिल्प (हुनर) से जो आर्य हो, वह शिल्पार्य है।

भाषार्य—स्पष्ट और शुद्ध व्यक्त शिष्टपुरुषप्रयुक्त भाषा आर्य-भाषा कहलाती है। अतः जो भाषा से आर्य हो, वह भाषार्य है।

ज्ञानार्य, दर्शनार्य, चारित्रार्य— सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र जिन्हें प्राप्त हो, वे ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र से आर्य कहलाते हैं।

नाम से आर्य : काम से नहीं

ये कुल, जाति, क्षेत्र, कर्म, शिल्प और भाषा से आर्य तो इस अपेक्षा से आर्य कहलाते हैं, कि उच्च कुल, जाति, आर्यक्षेत्र, आर्यकर्म, सात्त्विक शिल्प, शिष्टभाषा आदि के सम्पर्क से, उस-उस कुल, जाति आदि के वातावरण से मनुष्य अनार्यकर्म करने से बच जाते हैं, प्रायः वे आर्यत्व के संस्कार पा लेते हैं। उच्चकुल, जाति, क्षेत्र आदि में जन्म लेने पर भी यदि मनुष्य सद्विचार और सदाचार से हीन है, तो वह आर्य नहीं कहला सकता। अशुभ विचारों और अनिष्टकारी कृत्यों के कारण मनुष्य अनार्य या म्लेच्छ ही कहलाएगा, फिर भले ही वह उच्चकुल, जाति, क्षेत्र का हो, भले ही वह सात्विक शिल्प, शिष्टभाषा या आर्यकर्म से युक्त हो। कई व्यक्ति उच्चकुल, उच्चजाति आदि मे पैदा होकर भी जीवन को निम्नकोटि का बना लेते हैं, उनका हृदय ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा, कलह, एव क्रोधादि कषाय का अखाड़ा बन जाता है। फलतः ऐसे लोग उच्चकुल आदि में जन्म लेकर भी सदैव निन्दित, गर्हित एवं घृणित कार्य करते रहते हैं। इसलिए सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के धनी पुरुष ही सच्चे माने में आर्य हैं।

आर्य और अनार्य की पहचान के लिए

यही कारण है कि आर्यायण अर्हतर्षि को चेतावनी के स्वर में उन उच्चकुल आदि में पैदा हुए लोगों को कहना पड़ा—

> जे जणा अणारिए णिच्चं, कम्मं कुव्वंत अणारिया।
> अणारिएहि य मित्तेहि, सीदंति भव-सागरे ॥२॥

जो व्यक्ति अनार्य मित्रों के साथ मिलकर हमेशा ही अनार्य कर्म करते रहते है, वे (भले ही उच्चजाति, कुल आदि मे पैदा हुए हों) अनार्य ही है। ऐसे अनार्यजन भवसागर में डुबकियां लगाते हैं।

स्थानांगसूत्र में आर्य और अनार्य का सुन्दर विश्लेषण किया गया है, जिसके आधार पर हम निर्णय कर सकते हैं कि सच्चे माने में आर्य कौन है, अनार्य कौन है? वह सूत्र इस प्रकार है—

> चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—
> (१) अज्जे णाममेगे अज्जभावे,
> (२) अज्जे णाममेगे अणज्जभावे,
> (३) अणज्जे णाममेगे अज्जभावे,
> (४) अणज्जे णाममेगे अणज्जभावे।

अर्थात्—चार प्रकार के पुरुष शास्त्र में बताए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) जो नाम से भी आर्य होते हैं और विचारों (भावों) से भी आर्य होते हैं।

(२) जो नाम से आर्य होकर भी भावो (विचारो एवं कार्यों) से अनार्य बन जाते हैं।

(३) जो जाति-कुलादि से अनार्य होने पर भी भावों से आर्य होते हैं।

(४) चौथे प्रकार के पुरुष ऐसे हैं, जो नाम से भी अनार्य हैं, और भावो से भी सदा अनार्य बने रहते हैं।

इनमें सच्चे माने में आर्य प्रथम भंग के व्यक्ति हैं। जैसे—श्रीराम आदि चारो भाई आर्यक्षेत्र, आर्यकुल-जाति एवं आर्यभाषा आदि में जन्म लेते हैं, और उसी के अनुरूप अपने विचार, संस्कार और जीवन को उच्च बनाते हैं। वे सप्त कुव्यसनो (जुआ, चोरी आदि निन्द्य कर्मों) को नहीं करते। वे शिष्ट भाषा बोलते हैं, आजीविका के लिए व्यवसाय भी अल्पारम्भी, सात्विक करते है, शिल्प ऐसा अपनाते हैं जो परम्परा से धर्मानुप्राणित हो। वे धर्मानुरूप अपने जीवन को ढालते हैं। वे आचरण द्वारा कदापि अपने जाति कुल को कलंकित नही होने देते। अनेकानेक कष्ट सहकर भी वे अपने उच्च गुणो एवं उन्नत विचार-आचार को नही छोड़ते। आचार्य चाणक्य ने कहा है—

> छिन्नोऽपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्धं,
> वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम्।
> यंत्रार्पितो मधुरिमां न जहाति चेक्षुः,
> क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान् कुलीनः॥

जिस प्रकार चन्दन का पेड़ काटे जाने पर भी सुगन्ध को नहीं छोड़ता, बूढ़ा हो जाने पर भी गजराज अपनी मस्त चाल-ढाल (लीला) नहीं छोड़ता, कोल्हू में पेरी हुई ईख अपनी मिठास को नहीं छोड़ती; उसी प्रकार धन, वैभव या शरीर-सम्पदा से क्षीण हो जाने पर भी कुलीन व्यक्ति शील-गुणों का परित्याग नहीं करता। वह पापाचरण से कोसों दूर रहता है। अपने विरोधी के प्रति भी उसके हृदय में प्रतिशोध की भावना नहीं रहती, वह विरोधी व्यक्ति को भी शान्ति से समझा कर आर्य पथ पर लाने का प्रयत्न करता है।

महात्मा गांधी जाति, कुल आदि से भी आर्य थे और विचारों से भी। जब वे विदेश जाने लगे तो उनकी माता पुतलीबाई ने बेचरजी स्वामी से तीन प्रतिज्ञाएं दिलवाई थीं—(१) शराब न पीना, (२) मांसाहार न करना, और (३) परस्त्रीगमन न करना। इन तीनों प्रतिज्ञाओं की कई बार कसौटी भी हुई, विशेषतः परस्त्रीगमन के त्याग की तीन बार कठोर कसौटी हुई; लेकिन गांधीजी अपनी प्रतिज्ञा से एक इंच भी इधर-उधर नहीं हुए।

एक बार वे एक अंग्रेज प्रोटेस्टेंट पादरी के सम्पर्क में आए। पादरी गांधीजी के विचारों से बहुत प्रभावित हुआ। पादरी का सारा परिवार मांसाहारी था। उसका एक छह-सात वर्ष का लड़का था। पादरी ने गांधीजी को अपने यहाँ भोजन के लिए आमन्त्रित किया। गांधी जी तो चुस्त वैष्णव और शाकाहारी थे। उन्होंने तो शाकाहारी भोजन ही किया गांधीजी से पादरी के उस लड़के ने मांसाहार न करने का कारण पूछा। उन्होंने ऐसे तर्कों से समझाया कि लड़के के गले उनकी बातें उतर गई, अपने पिता द्वारा बहुत समझाने के बावजूद भी लड़के ने मांसाहार नहीं किया, और गांधीजी के विचारों के अनुसार मांस का सदा के लिये त्याग कर दिया। यह था—आर्य के सत्संग का अनार्य पर अमिट प्रभाव !

दूसरे प्रकार के पुरुष वे हैं, जो उच्चकुल, जाति, क्षेत्र आदि में पैदा होकर भी अनार्यकर्म करते रहते हैं। वे आर्यकर्म करने का तथा अनार्यकर्म छोड़ने का भी विचार भी नहीं करते, न ही किसी सतपुरुष की वाणी सुनते हैं। दुर्योधन उच्चकुल, जाति एवं क्षेत्र में जन्मा था, इसलिए नाम से आर्य होने पर भी उसने अपना सम्पूर्ण जीवन अनार्य विचार और अनार्य आचार में ही बिताया। अन्त में, महाभारत जैसा भयानक महायुद्ध करके अपने कुल का नाश किया और लाखों व्यक्तियों का संहार कराया। अतः आर्यकुलादि में जन्म लेने पर भी जब तक व्यक्ति के जीवन से पाशविक एवं दानवी वृत्ति-प्रवृत्ति नहीं निकलती, तब तक वह आर्य कहलाने का अधिकारी नहीं होता।

अर्हतर्षि आर्यायण के अनुसार ऐसा व्यक्ति अपने अनार्य साथियों—सहयोगियों के साथ मिलकर सदैव अनार्यकर्म करता रहता है। वह अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए हजारों व्यक्तियों को मौत के घाट उतार देता है। अतः सरलता, सत्यता, प्रामाणिकता एवं मानवता के बिना जाति, कुल भाषा, क्षेत्र आदि से आर्य होकर भी विचारों और कार्यों से अनार्य ही रहता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने ऐसे नीच व्यक्तियों के लिए कहा है—

ऊँच निवास नीच करतूती, देखि न सकहिं पराई विभूती।

ऐसा अनार्य व्यक्ति दूसरों की उन्नति और वैभव देखकर मन ही मन ईर्ष्या से जलता रहता है। ऐसे लोग नाम के ही आर्य हैं, वस्तुत. वे अनार्य ही हैं। ऐसे व्यक्ति यदि किसी परम आर्य (साधु) पुरुष के सम्पर्क में आते हैं, तो भी अपनी अनार्यवृत्ति नहीं छोड़ते । अपने भोगविलास, विषयासक्ति, पाशविकता आदि दुर्गुणों को छोड़ने के लिए बार-बार प्रेरणा करने पर भी तैयार नहीं होते। महामुनि चित्त और सम्भूत पांच जन्मों तक सहोदर के रूप में साथ-साथ रहे, किन्तु छठे भव में दोनो बिछुड़ गए। सभूत का जीव साधु-जीवन में निदानकृत तप के कारण ब्रह्मदत चक्रवर्ती बना और चित्त का जीव आर्यधर्म के उत्तम संस्कार-सम्पन्न जाति-कुल मे जन्म लेकर साधु बना।

परन्तु एक बार ब्रह्मदत्त को अपने पूर्वजन्म का स्मरणज्ञान हो गया, अपने भाई से इस जन्म मे पृथक् होने के कारण उनसे मिलने के लिए आतुर हो गया। आखिर बहुत प्रयत्न के बाद चित्त महामुनि से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का मिलन हुआ। चित्त महामुनि ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को काम-भोगों को त्यागने का बहुत उपदेश दिया, मगर ब्रह्मदत्त पर उसका बिलकुल असर न हुआ। अत अन्त मे चित्त महामुनि को कहना पड़ा।

जइ तं सि भोगे चइउं असत्तो, अज्जाइं कम्माइ करेह राय।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकंपी तो होहिसि देवो इओ विउव्वी ॥

हे राजन्! यदि तू इन कामभोगों को छोड़ने मे स्वय को असमर्थ पा रहा है तो कम से कम आर्यकर्म तो कर। शुद्ध धर्म में स्थित होकर प्राणिमात्र पर अनुकम्पा करोगे तो भी (इस प्रकार के आर्यकर्म से) तुम यहाँ से शरीर छोड़कर देव तो बन ही जाओगे। परन्तु जाति-कुलादि से आर्य होकर भी ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आर्यकर्म को नहीं अपना सकने के कारण मरकर नरक का अधिकारी बना। इसीलिए अहर्तर्षि आर्यायण ने ऐसे लोगो को आर्यत्व का पथ अपनाने की स्पष्ट प्रेरणा दी है -

संधिज्जा आरियं मग्ग, कम्म जं वा वि आरियं।
आरियाणि य मित्ताणि, आरियत्तमुवट्ठिए ॥३॥
जे जणा आरिया णिच्चं, कम्म कुव्वति आरियं।
आरिएहि य मित्तेहि मुच्चति भवसागरा ॥४॥

इसीलिए मानव जन्म, उत्तम कुलादि को पाये हुए मानव को चाहिए कि वह आर्यमार्ग को ग्रहण करे, और जो आर्यकर्म हैं, उन्हें ही करे, तथा आर्य मित्रों की संगति से आर्यत्व का पालन करने के लिए उद्यत रहे।

जो व्यक्ति आर्य मित्रों के साथ रहकर नित्य आर्यकर्म करते हैं वे वास्तव में आर्य हैं, भले ही वे अनार्यकुल, जाति या क्षेत्र आदि में उत्पन्न हुए हों। ऐसे आर्यजन ही भवसागर से छुटकारा पा (मुक्त हो) सकते हैं।

जाति आदि से अनार्य किन्तु अन्तर् से सच्चे आर्य

तीसरे प्रकार के व्यक्ति वे हैं, जो जाति, कुल आदि से अनार्य होने पर भी विचार और आचार से अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से आर्य होते हैं। नदी की जलधारा के प्रवाह में पड़ा हुआ तिनका सागर से जाकर मिल जाता है वैसे ही महापुरुषों का साहचर्य पाने वाला कुल-जातिविहीन तथाकथित अनार्य व्यक्ति भी आर्यत्व के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है. उसकी आत्मा सम्यग्ज्ञान दर्शन-चारित्र-तप से कर्ममुक्त एव विशुद्ध होकर परमात्मतत्व को प्राप्त कर लेती है।

हरिकेशी मुनि गंगा तट पर चाण्डालों की बस्ती में चाण्डाल कुल और शूद्र जाति में पैदा हुए थे। रंग-रूप में भी वे बहुत बदसूरत थे। मुँह के भी कटुभाषी थे। कुरूपता और कटुभाषिता इन दो दुर्गुणों के कारण वे सर्वत्र अपमानित होते थे। अतएव हरिकेशबल जाति, कुल, क्षेत्र, कर्म, भाषा और शिल्प सभी दृष्टियों से अनार्य थे। किन्तु होश सभालने पर एक दिन उन्हें एक दुमुही (सर्प) से प्रशान्त जीवन जीने की प्रेरणा मिली। वे संयमी बनकर तप और संयम की साधना से अपनी आत्मा को शुद्ध-निर्मल कर्ममलमुक्त बनाने में लग गए। अपने हृदय को समस्त कलुषित वृत्तियों से दूर रखकर श्रेष्ठ (आर्य) वृत्तियों में बदला। उनकी तपस्या और चारित्र की उत्कृष्टता की कसौटी भी हुई। उसमें वे खरे उतरे। चेहरे से अनार्य-से प्रतीत होने पर भी उनके अन्तरात्मा में आर्यत्व सोलह कलाओं से खिल उठा। उनकी समता और धीरता की भी परीक्षा हुई। आर्यत्व के उत्तम गुणों में पारगत देखकर तिन्दुक वन स्थित एक यक्ष इनका परमभक्त होकर सेवा में रहने लगा। उन पर आये हुए उपसर्ग का निवारण किया। हरिकेशी मुनि को मासखमण के पारणे पर मारने को उतारू याज्ञिक विप्र इनके परम भक्त बन गए, भक्तिपूर्वक आहार दिया। अन्त में, पूर्ण संयम साधना के बल पर केवलज्ञान प्राप्त किया और भवसागर से पार होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। हरिकेश मुनि अज्ज मुहम्मा, अज्ज जंबू (आर्य सुधर्मा, आर्य जबू) की तरह परम-आर्य बन गए।

बन्धुओ! जीवन को श्रेष्ठ (आर्य) बनाने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य ने उच्चकुल, जाति, ऐश्वर्ययुक्त देश या उन्नत क्षेत्र में जन्म लिया

हो। आर्यत्व की आधारशिला सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूप त्रिवेणी है। ये आत्मा के निजी गुण हैं, ये ही आत्मा को ऊँचा उठाते हैं। कषायों की मन्दता, विषयों की उपशान्तता, तप, त्याग और संयम की आराधना, रत्नत्रय की साधना, ये सद्गुण ही मनुष्य को अनार्यत्व से हटा कर आर्यत्व में स्थापित कर देते हैं। अर्हतर्षि आर्यायण ने परम आर्यों का सत्संग जीवन को बदलने हेतु अधिक सक्षम बताते हुए कहा है—

> आरिय णाणं साहू, आरिय साहू दंसणं।
> आरिय चरण साहू, तम्हा सेवय आरियं ॥५॥

आर्य का ज्ञान श्रेष्ठ है, आर्य का दर्शन श्रेष्ठ है तथा आर्य का चारित्र श्रेष्ठ है। अतएव आर्य की ही उपासना करो। निष्कर्ष यह है कि जिस ज्ञान, दर्शन और चारित्र में आर्यत्व है, वही सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र है।

सचमुच, हरिकेशबल जैसी महान् आत्माएँ नाम से आर्य न होकर भी अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बल से अथवा अपने विचारों और कार्यों से आर्य परम आर्य कहलाती हैं।

अब रहे चतुर्थ भंग के अधिकारी। ऐसे मनुष्य नाम से भी अनार्य होते हैं और विचारों तथा कार्यों (भावों) से भी सदा अनार्य बने रहते हैं। ऐसे लोगों को चाहे जितना सदुपदेश मिले, उनका जीवन नहीं सुधरता। वे जीवन के अथ से इति तक अनार्य ही बने रहते हैं। वे अनार्य कुल-जाति में ही जन्म लेते हैं और जिन्दगी भर अनार्यकर्म ही करते रहते है। वे सदैव अज्ञानान्धकार में ग्रस्त रहते हैं, जन्म-मरण के चक्र में फँसे रहते हैं। वे भवसागर से पार नही हो सकते।

बन्धुओ! इन चारों भगों में से पहला और तीसरा ये दो भंग सच्चे आर्य के हैं, दूसरा भंग नाम के हो आर्य का है, और चोथा भग तो अनार्य का ही है। इस पर से आप आर्य और अनार्य का यथार्थ विवेक करके अपने जीवन को आर्यत्व से ओतप्रोत बनाने का पुरुषार्थ कीजिए, यही अर्हतर्षि आर्यायण का सन्देश है।

□

२३

सावधान ! इन नास्तिकवादों से

देहात्मवाद : कब और क्यों ?

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! मानव जब प्रथम बार आँखे खोलता है, तब उसके समक्ष शरीर ही प्रत्यक्ष होता है । वह माँ के उदर से निकलता है तो शरीर के रूप में। आत्मा नाम की कोई भी चीज उसे प्रत्यक्ष नहीं दीखती । जब कुछ बड़ा होता है, समझदार होता है, तब भी उसकी दृष्टि मे शरीर ही होता है, आत्मा नही। इस प्रकार शरीर के निरन्तर सम्पर्क के कारण मानव शरीर को ही सर्वस्व समझ बैठा है। संसार मे ऐसे लोगो की कमी नहीं है जो यह मान बैठे हैं कि शरीर के सिवाय आत्मा नाम की कोई चीज नही है । इसके विषय मे वे कई तर्क उपस्थित करते हैं कि आत्मा नाम की कोई वस्तु अलग होती तो बचपन, यौवन और बुढ़ापे में कभी तो दीखती । अतः यह सिद्ध है कि शरीर के भस्म होते ही यही खेल खत्म हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों की स्थूल आँखे कह उठी—'जो कुछ सामने है, वही सब कुछ है। स्थूल देह ही सर्वत्र काम कर रहा है। जन्म से लेकर मृत्यु तक इस स्थूल देह के साथ ही इन्द्रियाँ और मन काम करते है। देह के नष्ट होते ही ये सब नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार उनकी बुद्धि देह के अतिरिक्त किसी आत्मा नामक तत्त्व को स्वीकार नहीं कर सकी। वे देहात्मवादी ही रह गए।

संसार में यह विचारधारा नई नही है। बहुत प्राचीन काल में भी कुछ लोग यह मानते थे कि जो शरीर है, वही आत्मा है। जो दीखता है वह देह आत्मा से कोई अलग वस्तु नहीं है। इस विचारधारा के विभिन्न रूप प्राचीन काल में प्रचलित थे।

देहात्मवादियों के पाँच रूप

प्रस्तुत बीसवें अध्ययन में अर्हत-ऋषि इन्हीं देहात्मवादियों के विभिन्न

रूपों को प्रस्तुत करते हैं। इसे वे उत्कलवाद या उत्कटवाद के नाम से पुकारते हैं। उन्होंने बताया—

पंच उक्कला पण्णत्ता,

तंजहा—१—दंडुक्कले, २—रज्जुक्कले, ३—तेणुक्कले, ४—देसुक्कले, ५—सव्वुक्कले।

अर्थात्– पाँच प्रकार के उत्कल बताए गए हैं। यथा—(१) दण्ड-उत्कल, (२) रज्जु-उत्कल, (३) स्तेन-उत्कल, (४) देश-उत्कल और (५) सर्व-उत्कल।

स्थानांग-सूत्र में इन्ही पाँच उत्कलों का इसी क्रम से प्रतिपादन किया गया है।[1]

उत्कलवाद बनाम प्रत्यक्षवाद

उत्कल या उत्कट का अर्थ यों तो किसी भी टीकाकार ने स्पष्ट नही किया है। परन्तु हमारी दृष्टि से उत्कट का अर्थ है—जो वीतराग ऋषियो द्वारा प्रणीत शास्त्रों को—शास्त्र वाक्यों को बिना सोचे-विचारे काटता है, खण्डन करता है, अथवा उनका अपलाप करता है, वह उत्कट या उत्कल है।

भारतीय धर्मों और आस्तिक दर्शनो में एक सिद्धान्त-सूत्र आता है—

'आर्षं संदधीत, न तु विघट्टयेत्'

अर्थात्—ऋषियो द्वारा प्रणीत वाक्यों की संगति बिठाकर जोड़ना चाहिए, तोड़ना या विघटन नहीं करना चाहिए। ये उत्कलवादी या उत्कटवादी केवल प्रत्यक्षप्रमाण को मानकर शेष प्रमाणों को मानने से इन्कार करते हैं। जब इनसे पूछा जाता है कि तुम्हारे दादा-परदादा को तुमने देखा है ? तो वे कहते हैं नहीं देखा। फिर तो प्रत्यक्षप्रमाण से यही सिद्ध होता है कि वे नहीं थे। जब वे नही थे, तो तुम्हारे पिता कहाँ से आए ? तुम कैसे आए ? अत अन्त में घूम-फिर कर उन्हें अनुमान-प्रमाण को मानना ही पड़ता है।

इसी प्रकार प्रत्यक्षवादियो के समक्ष कई आपत्तियाँ आती हैं, जिनमें उन्हें अनुमान या परोक्ष प्रमाण को मानना ही पड़ता है। जैसे किसी प्रत्यक्ष-वादी के पुत्र के वियोग का समाचार उसकी पत्नी हजारों माइल दूर से लिखकर भेजती है। जब प्रत्यक्षवादी उस पत्र को पढ़ता है तो एकदम शोक में क्यों डूब जाता है ? क्यों रोने और आंसू बहाने लगता है, जबकि

१ पंच उक्कला पण्णत्ता, तं० दंडुक्कले रज्जुक्कले ···इत्यादि।

—स्थानांग स्था० ५ उ० ३

उसका मृत पुत्र तो प्रत्यक्ष है नहीं। केवल पत्नी के पत्र के आधार पर परोक्ष घटित बात को क्यों वह मान लेता है ? यहाँ आकर प्रत्यक्षवादियों की तर्क हार जाती है।

एक बार एक सन्त के पास एक नास्तिक आया, बोला—आप कहते हैं भगवान पार्श्वनाथ हुए, महावीर हुए और बड़े-बड़े महापुरुष हुए। क्या आप किसी को देखा है ?

सन्त ने कहा—देखा तो नहीं, पर सुना है; शास्त्र भी कहते हैं।

नास्तिक बोला—मैं शास्त्र-बास्त्र को नहीं मानता, जो बात आँखों से देखी नहीं जायगी, उसे हम सच कैसे मानें ?

सन्त ने पूछा—तेरे दादा का क्या नाम था ? परदादा कौन थे ?

नास्तिक ने नाम बताये, अमुक अमुक !

सन्त बोले क्या तुमने अपने परदादा को देखा है ?

नहीं।

तो फिर हम कैसे मानें कि तेरे परदादा हुए हैं, तेरी दादी हुई है या तू किसकी सन्तान है ? क्या तुमने अपने आपको जन्म लेते हुए देखा है ? तेरे माँ-बाप कौन है तुझे क्या पता ? किस प्रमाण से तू यह कह सकता है कि तेरे बाप अमुक थे ?

नास्तिक सकपकाया और बोला—यह तो सब दुनियां जानती है। पास-पड़ोस वाले रिश्तेदार सभी बताते हैं।

सन्त तो फिर हमारे भी गुरु, गुरु के गुरु यों सैकड़ों पीढ़ियों से यह सब एक दूसरे अपने शिष्य के बताते आये हैं। फिर हम उनकी बात पर विश्वास क्यों नहीं करें ?

आत्मा के सम्बन्ध में भी यही बात है। आत्मा अमूर्त है, अरूपी है, इन्द्रियों से अगोचर है, वह प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं दे सकती; अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से आत्मा सिद्ध होती है अतः जब दूसरी बातों को अनुमान या आप्तपुरुष द्वारा कही गई बातों के आधार से मानते हो तो आत्मा को अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से मानने में क्या आपत्ति है ?

धर्म-अधर्म, शुभाशुभ कर्म, स्वर्ग-नरक आदि परलोक, धर्मक्रिया आदि सभी बातों का अपलाप करने से भी वह उत्कल है, अर्थात्—धर्मा-पलापी अपहरणकर्ता है। इसलिए उत्कलवाद अथवा उत्कटवाद का एक अर्थ यह भी है कि जो धर्म, कर्म आदि का अपलाप करे।

दण्ड-उत्कट का स्वरूप

इन पाँच उत्कटों में सर्वप्रथम दण्ड-उत्कट है। उसका रूप प्रश्नोत्तर-रूप में अर्हत-ऋषि इस प्रकार बताते है—

प्रश्न—से किं तं दंडुक्कले ?

उत्तर—दंडुक्कले नामं जेणं दंडदिट्ठंतेणं आदिल्लमज्झऽवसाणाणं पण्णवणाए समुदयमेत्ताभिधाणाइं । णत्थि सरीरातो परं जीवोत्ति। **भवगतिवोच्छेयं वदति । से तं दंडुक्कले** ॥१॥

प्रश्न है - 'भगवन ! दण्ड-उत्कट क्या है ?'

उत्तर इस प्रकार है -- 'दण्ड-उत्कट उसे कहते हैं, जैसे दण्ड के आदि, मध्य और अन्त दिखाई देते है, उसी प्रकार जिनकी प्ररूपणा आदि, मध्य और अन्त के रूप में की जाती है, उस (पंचभूतात्मक) समुदायमात्र का नाम ही शरीर है। शरीर से भिन्न कोई आत्मा (जीव) नही है। इस प्रकार जो भवपरम्परा के उच्छेद की बात कहता है, वह दण्डोत्कट है।'

कुछ दार्शनिक दण्ड के दृष्टान्त से देहात्मवाद का प्रतिपादन करते हैं। उनका कहना है कि जैसे डंडा सीधा होता है, उसका प्रारम्भ का सिरा और अन्त का सिरा तथा बीच का हिस्सा साफ दिखता है। इसी तरह हम भी सीधी और साफ बात कहते है। जो हमारी आँखों से दण्ड की तरह सीधा और स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, वह है शरीर। शरीर के जन्म, मृत्यु और मध्य की तीन अवस्थाएँ (बाल्य, युवा और वृद्धत्व) स्पष्ट प्रत्यक्ष दिखाई देती है। जिस प्रकार दण्ड के आदि, मध्य और अन्त में रही हुई ग्रन्थियाँ ही उसके विकास की हेतु है, इसी प्रकार शरीर के आदि, मध्य और अन्त में रही हुई विशेष ग्रन्थियाँ ही उसके विकास की हेतु है। इसलिए दण्ड के समान शरीर ही प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर जीवनसर्वस्व है। यही दण्ड-उत्कट है।

दण्ड-उत्कटवादियो से पूछा जाता है कि शरीर से भिन्न कोई (आत्मा नामक) तत्त्व नहीं मानते हो तो इन्द्रियाँ और मन जो अपने-अपने विषयों में दौड़ते हैं, तथा अंगोपांगों में जो हलचल होती है, इन सबका क्या कारण है ? इसके उत्तर में वे कहते हैं—

समुदयमात्रमिदं कलेवरम् —चार्वाक दर्शन

यह जो शरीर दिख रहा है वह पाँच भूतों का समुदायमात्र है। यही जीवन है। इन्हीं पाँच भूतों के एकत्रित होकर मिलने से शरीर में चेतना

प्रकट होती है। इसी से इन्द्रियाँ और मन अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होते हैं। अंगोपांगों में हलचल इसी से होती है। जब इन पांच भूतों में से एक भी भूत बिखर जाता है, चला जाता है; तो शरीर नष्ट हो जाता है। शरीर के नष्ट होने के साथ-साथ इन्द्रियों आदि की हलचल समाप्त हो जाती है।

देहात्मवाद का उद्देश्य और प्ररूपण

जब उनसे पूछा जाता है कि शरीर के नष्ट होने के बाद आत्मा कहाँ जाता है ? इस जीव ने जो कुछ अच्छा या बुरा कर्म किया है, उसका फल वह कहाँ भोगेगा ?

इसके उत्तर में चार्वाकदर्शन स्पष्ट करता है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ।।

'जब तक यह पंचभूतात्मक जीवन है, तब तक सुख से जीओ और कर्ज करके भी घी पीओ। देह के भस्म हो जाने के बाद फिर न कहीं आना है, न जाना है। बस, यहीं पर सब खेल खत्म है।'

इन नास्तिकों के कथन का तात्पर्य है कि देह को जला डालने के बाद जब पचमहाभूत समाप्त हो जाते है या बिखर जाते हैं तब यहीं पर सब कुछ नष्ट हो जाता है। इसके आगे किसे कहाँ जाना है ? इस पहेली को आज तक कोई सुलझा नहीं पाया।

राजा प्रदेशी भी जब नास्तिक था, तब उसने केशीश्रमण मुनि से यही कहा था कि मेरे दादा, दादी, प्रपितामह आदि सब यहाँ से गये, किन्तु उनमे से कोई भी लौटकर यहाँ नहीं आया। अगर मैं गलत रास्ते पर था, तो मुझे मेरे पूर्वजों में मे कोई समझाने तो आता। परन्तु आज तक कोई मुझे समझाने-बुझाने नहीं आया।

इसी तरह नास्तिकवादी कहते हैं—शास्त्रों के नाम से जो कुछ लिख दिया, स्वर्ग के सब्जबाग दिखाये गए हैं, वे सब रंगीन कल्पना के महल हैं। स्वप्न के सुनहरे महलो से अधिक उनमें सच्चाई नहीं है। ताश के हवाई किले मे अधिक स्थिरता नहीं। तुम इस चक्कर में मत पड़ो कि मरने के बाद क्या होगा ? कहाँ जाना पड़ेगा ? अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ेगा या नहीं ? यह चिन्ता ही छोड़ो। इस शरीर के रहते ही खाओ, पीओ और मौज करो।*

* 'Eat, drink and be merry'.

जहाँ तक सुख से जीने का प्रश्न है, कोई भी दर्शन या धर्म इस बात से इन्कार नहीं कर सकता। परन्तु क्या क्षणिक सुख ही वास्तविक सुख है अथवा और कोई शाश्वत आत्मजनित सुख है? मैं इसकी चर्चा में अभी गहरा उतरना नहीं चाहता। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर जो पदार्थजनित सुख है, वह भी पूर्वजन्म के प्रबल पुण्य के बिना नहीं मिल सकता। यदि कोई व्यक्ति दरिद्र है, दीन-हीन है, अभावपीड़ित है, तो ऐसी स्थिति में वह कैसे जी सकेगा? जिसके घर में तो फाकाकशी चल रही है, अन्न और वस्त्र के अभाव में उसके स्त्री-बच्चे बिलख रहे हैं, रहने को मकान नहीं है, वह कैसे सुख से जीयेगा?

इस पर चार्वाक का कहना है कि अगर तुम्हारे पास सुख के साधन नहीं हैं तो किसी से कर्ज ले लो और मजे से घी पीओ, अर्थात्—सुख-साधन लाकर उनका सेवन करो।

परन्तु प्रश्न यह है कि पहले तो ऐसे आदमी को कर्ज देगा कौन? यदि भलमनसाहत के तौर पर कोई कर्ज दे भी देगा तो उसे चुकाना तो पड़ेगा? ऋणदाता जब कर्ज लिया हुआ पैसा वसूल करने आएगा, तब क्या किया जाएगा? इसका उत्तर उसने यह दिया कि—'घी खा-पीकर पुष्ट और बलिष्ठ बनो और जब कोई ऋणदाता पैसा माँगने आए तो उसे लट्ठ बता दो। उसको लाठी से उत्तर दो, ताकि दुबारा वह तुम्हारी तरफ देखे भी नहीं।'

पापभीरु व्यक्ति ने पूछा 'यह ठीक है कि यहाँ तो लाठी फैसला कर देगी, परन्तु यह जीवन लीला समाप्त होने पर जब यहाँ से दूसरे लोक जायेंगे, वहाँ कौन फैसला करने आयेगा? इस पाप का फल अगले जन्म में भोगना पड़ेगा न?'

इस पर चार्वाक ने कहा—'बस, यही तो तुम्हारी मूर्खता है। कैसा परलोक और कौन-से पाप का फल? ये सब झूठे सपने हैं। वास्तव में शरीर की राख होने के साथ-साथ शरीरी (जीव) की भी राख बन जाती है। फिर कौन कहाँ जाता है और कहाँ आता है? पाप-पुण्य सब यहीं भोग लिये जाते हैं।'

इस प्रकार के मत का जैनदर्शन **'तज्जीव-तच्छरीरवाद'** के नाम से उल्लेख करता है।

देहात्मवाद मानने के दुष्परिणाम

इस प्रकार के देहात्मवाद में देह को ही सब कुछ मान लेने पर भव-परम्परा का स्वतः उच्छेद हो जाता है, क्योंकि देह को तो सबके सामने

चिता में भस्म हो जाती है। उससे परे दूसरा कोई तत्त्व नहीं है, इस बात को मानने पर कर्मवाद का भी उच्छेद हो जाता है। यहाँ पर जीव जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, उसका फल कब और कैसे मिलेगा ? कर्मवाद को न मानने पर पुण्य-पाप का फल, तथा महाव्रत, समिति-गुप्ति, श्रमणधर्म, सामायिक, प्रतिक्रमण, धर्माचरण आदि सभी साधनाएँ व्यर्थ हो जाएँगी। पापी को भी पाप करने की खुली छूट मिल जाएगी और धर्मी भी फिर धर्म करने के लिए उत्साहित नहीं होगा। नैतिकता के सभी नियम ताक पर रख दिये जायेंगे। फिर तो किसी भी प्रकार की साधना का कोई मूल्य नहीं होगा। सभी मनमानी करने लग जाएँगे। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ हो जायेगी।

रज्जु-उत्कटवाद : एक चिन्तन

अब दूसरे रज्जु-उत्कटवाद को लीजिए। रज्जु-उत्कटवाद भी दण्ड-उत्कटवाद का भाई है। एक नागनाथ है तो दूसरा सांपनाथ है। रज्जु-उत्कट के विषय में अर्हत-ऋषि कहते हैं—

प्रश्न—से किं तं रज्जुक्कले ?

उत्तर—रज्जुक्कले णामं जे णं रज्जु-दिट्ठंतेणं समुदयमेत्त-पण्णवणा पंच-महब्भूत खंधमेत्तऽभिधाणाइं, संसार-संसती-वोच्छेयं वदति। से तं रज्जुक्कले ॥२॥

अर्थात् – (प्रश्न यह है—) 'रज्जु-उत्कट क्या है ?'

उत्तर – 'रज्जूत्कट (रज्जूत्कल) वह है, जो रज्जु (रस्सी) के दृष्टान्त से (पंचमहाभूतात्मक) समुदयमात्र की प्ररूपणा करता है। यह जीवन पंच-महाभूतों के स्कन्ध का समूहमात्र है। इस प्रकार जो संसार-परम्परा (संसृति) का उच्छेद करता है, वह रज्जूत्कट है।'

रज्जूत्कटवादी देहात्मवाद के प्रतिपादन के लिए रज्जु (रस्सी का दृष्टान्त दिया करते हैं। उनका कहना है कि जैसे रस्सी एक प्रकार से विभिन्न डोरों का समूह है। इसके सिवाय रस्सी का अस्तित्व ही कहाँ है ? इसी प्रकार जीवन क्या है ? पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पंच-महाभूतों का समुदय (समूह) ही जीवन है। जब तक ये समूहरूप में इकट्ठे हैं, तभी तक जीवन है। इस पंचभूत समूह के अतिरिक्त जीवन है ही कहाँ ? जिस प्रकार घड़ी के छोटे-बड़े सभी पुर्जे मिलकर ही घड़ी कहलाती है। ये पुर्जे मिलते हैं, तभी कहा जाता है कि घड़ी चलती है। यदि उसमें से एक नन्हीं-सी कील भी निकल जाए तो घड़ी चल नहीं पाती, वह बन्द हो जाती है। यही बात उत्कटवादी कहते हैं।

इस प्रकार के उत्कटवाद के मानने से प्रवाहरूप से अनादि-अनन्त संसार का उच्छेद हो जाता है, जो कि प्रत्यक्षतः विरुद्ध है।

उत्कटवादियो से पूछा जाए कि तुम्हारे कथनानुसार पंच महाभूत है, तभी तक जीवन है; तो बताइये, मृत-शरीर में पंच महाभूतो में से कौन-सा महाभूत चला गया ? इसमें शरीर के रूप मे पृथ्वीतत्त्व भी है। यह देहपिण्ड पृथ्वी का ही तो है। इसमें वायुतत्त्व भी है। यदि कहो कि प्राणवायु निकल गया है, तो मशीन से ऑक्सिजन भर लीजिए अथवा पम्प से हवा भर लीजिए, फिर तो वायु काफी हो जायेगी। यदि कहे कि तेजतत्त्व का अभाव है, तो बिजली का करंट छोड़ दीजिए। तेज तत्त्व आ जायेगा। आकाश तत्त्व का अवकाश मृत शरीर मे मौजूद है ही। जलतत्त्व भी मौजूद है। परन्तु मृत शरीर में से चेतना निकल जाने के बाद आप कितना ही प्राण-वायु दें, बिजली के करंट द्वारा अग्नि तत्त्व दें, तथा जल आदि अन्य तत्त्वो का भी चाहे उसमें सद्भाव हो, फिर भी वह शरीर न तो बोलेगा, न चलेगा, न खायेगा-पीयेगा ही। यानी जिन्दा प्राणी के समान जीवन की कोई भी क्रिया नहीं कर सकेगा। दूसरे शब्दों में कहें तो पंच-महाभूतों का समूह होते हुए भी मृत शरीर में जीवन की कोई भी क्रिया नहीं होती। अन्त मे निरु-पाय होकर आप कहेंगे कि मृत शरीर में से सूक्ष्म प्राणवायु चला गया। जो कि समस्त जीवन-शक्ति का केन्द्र था, किन्तु आप जिसे अदृष्ट सूक्ष्म प्राण-वायु कहते हैं, वही हमारी दृष्टि से अतीन्द्रिय आत्मा है, जिसके अभाव में जीवन की सारी हलचल बन्द हो जाती है। इस प्रकार रज्जूत्कटवादियो का देहात्मवाद उपर्युक्त तर्कों से खण्डित हो जाने एवं सूर्य के उजेले की तरह स्पष्टतः सत्य उजागर होने पर भी वे इसे स्वीकार नहीं करते और सत्य का अपलाप करते हैं।

स्तेनोत्कटवाद : एक अनुशीलन

अब तीसरा देहात्मवाद है - स्तेनोत्कटवाद। इनके सम्बन्ध में अर्हत ऋषि कहते हैं—

प्रश्न—'से किं तं तेणुक्कले ?'

उत्तर—"तेणुक्कले णामं जे णं अण्ण-सत्थ-दिट्ठन्त-गाहेहिं सपक्खुब्भावणा-णिरए 'मम ते एतमिति' पर-करणच्छेदं करेति। से तं तेणुक्कले।"

अर्थात्—(प्रश्न है—) 'भगवन् ! स्तेनोत्कट किसे कहते हैं ?'

(उत्तर है—) स्तेनोत्कट उसे कहते हैं, जो अन्य शास्त्रों की दृष्टान्त गाथाओं से उद्धृत करके अपने पक्ष की उद्भावना (सिद्धि करने) में रत

रहता है। 'ये शास्त्र मेरे हैं', यह कहकर दूसरे की करुणा को नष्ट करने वाली बात कहता है, वह स्तेनोत्कट कहलाता है।

दूसरे के स्वामित्व की या दूसरे के द्वारा कथित, निर्मित, आविष्कृत या लिखित वस्तु का अपहरण करना चोरी है, स्तेनवृत्ति है। चोरी केवल वस्तु की ही नहीं, विचारों की भी होती है। दूसरे के द्वारा प्ररूपित विचारों, सिद्धान्तों तथा साहित्य को अपने नाम से प्रचारित करना स्तेनवृत्ति है। दूसरे के विचारों को तोड़-मरोड़ कर रखना, आशय बदलना, उसके वचनों का गलत आशय निकालना भी चोरी है।

कुछ देहात्मवादी व्यक्ति दूसरे के सिद्धान्तों, विचारों और गाथाओं को विकृतरूप में लेकर अपने मत की पुष्टि करते हैं, अथवा दूसरे की विचारधारा को गलत रूप में लेकर अपनी विचारधारा की पुष्टि करते हैं। यह भी भोली जनता को भुलावे में डालने के तरीके हैं। ऐसी स्तेनवृत्ति स्तेनोत्कटवाद है।

उदाहरण के तौर पर—जैनदर्शन आत्मा को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य दोनों रूपों में मानता है, किन्तु जो कथंचित् अनित्य को छोड़कर एकान्तरूप से यही कह देते हैं कि जैनदर्शन की तरह हम भी आत्मा को नित्य मानते हैं। जबकि जैनदर्शन आत्मा को कूटस्थनित्य नहीं मानता, वह परिणामीनित्य मानता है। साथ ही जैनदर्शन आत्मा को विभिन्न गतियों—योनियों में जाने के कारण कथंचित् अनित्य भी मानता है, उस बात को वे लोग छोड़ देते हैं। अथवा बौद्धदर्शन आत्मा को एकान्त अनित्य मानता है, उनका क्षणिकवाद 'जगत् के सभी पदार्थों को क्षणिक होने से अनित्य कहता है'।[1] उसके समर्थन में जैनदर्शन के आत्मा की कथंचित् अनित्यता को एकान्तरूप में प्रस्तुत करता है।

जिन शास्त्रों, विचारों या सिद्धान्तों से दूसरे के हृदय से करुणा या श्रद्धा के भाव समाप्त हो जाते हैं, हृदय से कोमलता के अंकुर मिट जाते हैं, उन शास्त्रों, विचारों आदि को अपने कहना, अथवा अपने देहात्मवाद के मिथ्या सिद्धान्त को सत्य सिद्ध करने के लिए करुणाशील महापुरुषों के सापेक्ष वचनों को एकान्त रूप से उद्धृत करना या उनका उपयोग करना स्तेनोत्कट है। कहावत है—शैतान भी अपना मतलब सिद्ध करने के लिए शास्त्रों की दुहाई देता है। साथ ही ऐसा देहात्मवाद दूसरों के हृदय से कोमलता के अंकुरों को उखाड़ डालता है, क्योंकि आत्मा के अस्तित्व को मानने पर ही अहिंसा और धर्म का अस्तित्व है।

---

१. 'सर्वमनित्यं क्षणिकत्वात्'—बौद्धदर्शन

जहाँ आत्मा का अस्तित्व ही नहीं माना जाता, अथवा आत्मा को ही एकान्त अनित्य माना जाता है, वहाँ दया या करुणा कौन करेगा? वस्तुतः स्तेनोत्कटवादी दूसरे के मूल ग्रन्थों में से कुछ उद्धृत करता है, लेता है, और उस पर अपनेपन की मुहर छाप लगाकर गर्वोक्ति करता है। इस प्रकार वह कृतज्ञता और समता का उच्छेद करता है।

देशोत्कटवाद की परिभाषा

अब चौथे देशोत्कटवाद को लीजिए। उसके सम्बन्ध में अर्हतर्षि कहते हैं –

प्रश्न—'से किं तं देसुक्कले?

उत्तर—देसुक्कले णामं जे णं अत्थिग्न एस इति सिद्धे जीवस्स अकत्तादिएहिं गाहेहिं देसुच्छेयं वदति। से त देसुक्कले ॥४॥

(प्रश्न है—) भगवन्! देशोत्कट क्या है?

(उत्तर है—) देशोत्कट उसे कहते हैं, जो आत्मा के अस्तित्व को मानकर भी अकर्ता, भोक्ता आदि बताता है। इस प्रकार जो आत्मा के एकदेश का उच्छेद करता है, वह देशोत्कट है।

कुछ दार्शनिक आत्मा के अस्तित्व को तो मानते हैं, परन्तु उसके स्वरूप के सम्बन्ध में उनका मतभेद है। जैसे—सांख्यदर्शन आत्मा को मानता हुआ भी उसे अकर्ता मानता है। अर्थात्—वह आत्मा को नहीं 'प्रकृति' को कर्ता मानता है।[1] यद्यपि जैन दर्शन भी निश्चयदृष्टि से आत्मा पुद्गलादि का कर्ता नहीं मानता है, किन्तु निश्चयदृष्टि स्वभाव-परिणति (शुद्ध परिणति) का कर्ता तो आत्मा को मानती है। सांख्यदर्शन आत्मा के भोक्तृत्व को तो स्वीकार करता है, किन्तु उसके कर्तृत्वरूप को स्वीकार नहीं करता, यही देशोत्कटवाद का स्वरूप है।

सर्वोत्कटवाद : सर्वथा अपलापक

अब पाँचवें उत्कट को लीजिए। यह सर्वोत्कट है। अर्हतर्षि इसका स्वरूप बताते हुए कहते है—

प्रश्न—'से किं तं सव्वुक्कले?'

उत्तर—'सव्वुक्कले णामं जे णं सव्वतो सव्व-सभवाभावा णो तच्चं सव्वतो सव्वहा सव्वकालं च णत्थित्ति सव्वच्छेदं वदति। से तं सव्वुक्कले।

(प्रश्न है—) 'भगवन्! सर्वोत्कट क्या है?

---

१ अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कपिलदर्शने ॥

(उत्तर है—) सर्वोत्कट वह है, जो समस्त संभवित भावों (पदार्थों) को सर्वथा असत्य (असत्) मानता है। (कहता है—) सर्वथा सर्वकाल में सब प्रकार से पदार्थ - सार्थ का अभाव है। इस प्रकार जो सर्व-विच्छेद की बात करता है; वह सर्वोत्कट है।

सर्वोत्कटवादी सर्वोच्छेदवादी होते हैं। वे आत्मा और उसके समस्त पर्यायों के अस्तित्व से इन्कार करते हैं। जिसे यह भी पता नहीं है कि मैं कौन हूं ? मेरा स्वरूप क्या है ? वह साधना के क्षत्र में क्या गति-प्रगति करेगा ? आध्यात्मिक साधना का प्रथम सोपान—आत्मतत्त्व की स्वीकृति है। जिस व्यक्ति को आत्मा पर विश्वास नहीं, उसे परमात्मा पर भी विश्वास नहीं होता, न हो आस्रव, संवर, बन्ध, मोक्ष आदि आत्मा से सम्बन्धित तत्त्वों पर वह विश्वास करता है। ऐसा व्यक्ति सर्वोच्छेदवादो है। श्रीमद् रायचन्द जी ने ठीक ही कहा है—

"हूँ कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारूँ खरूँ ?
कोना सम्बन्धे वलगणा छे ? राखूं के ए परिहरूँ ?"

यही बात आचरांगसूत्र में कही गई है—

जो आत्मा को नही मानता है, वह आत्मा के सर्वोच्च शुद्ध रूप सर्व कर्ममुक्त परमात्मा को भी नहीं मानता, न ही कहाँ से आया ? कहाँ जाऊँगा ? इसका विचार करता है,[1] न ही वह यह सोचता है कि वर्तमान स्थिति में किसमे बंधा हूं ? इससे कैसे छूटूंगा ? ऐसा व्यक्ति साधना में कैसे प्रवृत्त हो सकता है और साध्य को भी कैसे प्राप्त कर सकता है ?

आस्तिकवाद की मान्यता

आचरांगसूत्र में आस्तिकवाद को प्ररूपणा करते हुए कहा गया है—

"से आयावाई, लोयावाई, कम्मावाई, किरयावाई"[2]

जो आत्मवादी होता है, वह लोकवादी होता है, जो लोकवादी होता है वह कर्मवादी होता है, जो कर्मवादी होता है, वह क्रियावादी होता है।

अर्थात्—जो आस्तिक होता है, वह आत्मा को उसके सर्वगुणो मे युक्त तथा यथार्थ रूप में मानता है, वह लोक-परलोक, पुनर्जन्म तथा

१ इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ—के हं आसी ? के वा इओ चुओ इह पेच्च भविस्सामि। —आचारांगसूत्र श्रु. १, अ. १, सू. १/२

२ आचारांग सूत्र श्रु. १, अ. १, सू. ५।

शुभाशुभ कर्म (पुण्य-पाप) को मानता है तथा कर्मबन्ध को काटने और अपना शुद्ध पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने के लिए रत्नत्रय की साधना तथा तपस्या आदि क्रिया को मानता है।

एक कवि कहता है—

विचारों में सुविचार है आत्मवाद।
सभी धर्मों का सार है आत्मवाद ॥ध्रुव॥
यही बन्ध मुक्ति की गम्भीरतम, व्यवस्था का आधार है।
यही आस्तिकता का पूर्ण निष्कर्ष है, वृथा अन्य बातों का संघर्ष है।
पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त को, तथा माने अत्यन्त दुखान्त को।
यह आकर महाकार है आत्मवाद ॥

परन्तु सर्वोच्छेदवादी इन सब का अपलाप करता है। नैयायिक आदि कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि "आत्मा के समस्त गुणों का उच्छेद हो जाना ही मोक्ष है।" भला ऐसा मोक्ष किस काम का जिसमें आत्मा के सभी गुण लुप्त हो जाएँ, फिर गुणों के उच्छेद से आत्मा कहाँ रहेगा? उसका भी सर्वथा उच्छेद हो जाता है। आत्मा के गुण-धर्मों में से एक को भी स्वीकार न करने वाले ऐसे दार्शनिक भी सर्वोत्कटवादी हैं।

नास्तिकवाद का एक और प्रकार

अब इस नास्तिकवाद के विषय में अर्हत्-ऋषि विशेष व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके कथन का भावार्थ यह है—

"ऊपर से पदतल तक और नीचे से मस्तक के केशाग्र तक आत्मा के पर्याय हैं। शरीर की त्वचा-पर्यन्त जीव है। यही जीव का जीवित (जीवन) है। उसको ही जीवित कहा जाता है। जैसे जले हुए बीजो मे फिर से अंकुर उत्पन्न नही हो सकता। इसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर पुन: शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती।"

नास्तिकवाद का एक प्रकार यह है कि कुछ अनात्मवादी दार्शनिक स्थूलग्राही होते है। उनका कहना यह है कि पैर के तलुओं से केशाग्र तक आत्मा है, यही जीव है। इस प्रत्यक्ष दृश्यमान देहरूप आत्मा के सिवाय और कोई आत्मा नाम की स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। ऐसे देहात्मवादियों के अनुसार भव परम्परा सम्भव नही है। इसके लिए वे यह तर्क देते है कि बीज से अकुर पैदा होता है। जब बीज जल गया तो अंकुर कैसे फूटेगा? और वह वृक्ष कैसे होगा? अत. अगले जन्म का बीज तो यह शरीर है। जब शरीर ही जल गया तो अगला जन्म कैसे सम्भव है?

देह को बीज मानने वाले कुछ दार्शनिक ऐसा भी मानते हैं कि जैसा बीज होगा, वैसा ही फल होगा, यह ध्रुव सिद्धान्त है। इसके अनुसार स्त्री मरकर स्त्री होती है, और पुरुष मरकर पुरुष होता है। पंचम गणधर श्री सुधर्मा स्वामी का भगवान् महावीर के परिचय में आने से पहले इसी मान्यता मे विश्वास था। भगवान् महावीर ने उनका मन:समाधान करते हुए कहा था— यह ठीक है कि जैसा बीज होगा, वैसा ही फल होगा। किन्तु बीज की व्याख्या में अन्तर है। स्थूलदेह बीज नहीं है। बीज हैं—देह में (कार्मण शरीर में) रहे हुए आत्मा के शुभाशुभ अध्यवसाय। वे ही बीज हैं और उन्हीं के अनुसार आत्मा अगला जन्म पाता है।

जिस प्रकार बिना जले हुए बीजों से दूसरे अकुर फूट निकलते हैं,उसी प्रकार सूक्ष्म (तैजस कार्मण) शरीर के नहीं जलने से दूसरे शरीर की उत्पत्ति सम्भव है। अत: तप-संयम के द्वारा सूक्ष्म शरीर को जला डालने पर मोक्ष हो जाता है, तभी दूसरे शरीर की उत्पत्ति बन्द हो सकती है, अन्यथा नहीं; स्थूल आग उस सूक्ष्मशरीर (तैजस कार्मण) को जला भी नहीं सकती। अत: सूक्ष्म शरीर ही अन्य शरीर की उत्पत्ति का कारण है। सम्यग्दृष्टि साधक को इन नास्तिकवादों से दूर रहकर आस्तिकवाद के महापथ पर चलना चाहिए।

□□

प्रेरित नहीं होता; किन्तु रात्रि के शान्त, एकान्त वातावरण में ज्ञान आत्मा का कोना-कोना प्रकाशित कर देता है।

यह भौतिक ज्ञान, ज्ञानाभास है सम्यग्ज्ञान नहीं

बहुत से लोग कहते हैं—'आजकल तो ज्ञान पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गया है। वर्तमान पीढ़ी पूर्वजों की अपेक्षा ज्ञान-विज्ञान में बहुत आगे है, वह भूगोल, खगोल, इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, गणित आदि प्रत्येक क्षेत्र में ज्ञान-विज्ञान में पारंगत है, जबकि पूर्वज बहुत कम पढ़े-लिखे होते थे, बड़े बड़े पोथे वे पढ़ते ही कहाँ थे ?'

परन्तु यह एक ऐसी भ्रान्ति है, जो मनुष्य को अपने-पराये का भेद-ज्ञान होने नहीं देती। आज जितना भी शिक्षण है, वह सब भौतिक ज्ञान है, इससे बाह्य पदार्थों का ज्ञान अवश्य होता है, परन्तु इससे आत्मा का कितना सम्बन्ध है, वह कितना उपयोगी है, आत्मगुणों को प्रकाशित करने में ? यह विचारणीय है। आज का प्रायः सभी भौतिक ज्ञान आत्मा को जानने-पहचानने में अपने आपका बोध करने में, उसकी शक्तियों और निजगुणो की पहचान कराने में बिलकुल निरुपयोगी साबित हुआ है।

आज का विज्ञान उस शीशे की तरह है जिसमें सब दुनिया का दिल तो देखा जाता है, मगर अपना दिल नही दीखता।

एक व्यक्ति किसी महात्मा के पास आया, बोला—महाराज ! आपने बड़ी साधना की है, बहुत-सी सिद्धियां प्राप्त की हैं. कृपाकर मुझे भी कोई ऐसी चीज दीजिए जिससे मैं दूसरों के दिल की बात जान सकूँ।

महात्मा ने उसे एक शीशा दे दिया। कहा यह मंत्र बोलकर जब शीशा किसी के सामने करेगा तो उसके दिल का सब हाल तुझे साफ दिखाई देने लगेगा।

वह व्यक्ति शीशा लेकर अपने घर आया। सबसे पहले सामने पत्नी आई। उसी के सामने शीशा किया तो देखा - उसके दिल में तो किसी दूसरे के प्रति लगाव है। वह अपने पति को तो मन ही मन गालियाँ देती रहती है और उसके बारे में बुरा-भला सोचती रहती हैं। पत्नी के दिल का हाल देखकर उसका माथा चकरा गया। उसने अपने बड़े बेटे की तरफ शीशा किया तो वह भी बाप से नफरत करता है, बाप को तो वह निरा बुद्धू और निठल्ला मान रहा है। फिर मित्रों, रिश्तेदारों को देखा। परिणाम यह हुआ कि सभी के दिलों में बुराई, घृणा और लालच भरा हुआ है। वह तो घबरा गया, और दौड़कर आया बाबा के पास, बोला—बाबा ! मैं तो पागल हो गया हूँ, सभी के दिलों में क्रोध

का, नफरत का सांप फन फैला रहा है, कपट का बिच्छू डंक मार रहा है। यह संसार तो बड़ा विचित्र है। दुनिया को देखकर मेरा चैन सकून सब काफूर हो ही गया।

संत ने कहा – अब यह दूसरा शीशा ले और इसे जरा अपने दिल की तरफ मोड़कर देख। दिल की तरफ मोड़ा, तो उसके मन में भी वही कपट, बेईमानी, क्रोध, अहंकार के कीड़े कुलकुलाते नजर आये। बाबा ने कहा – यह दुनिया ही ऐसी है। जहाँ देखो कपट, धूर्तता, अहंकार के नाग फुसकार रहे है, परन्तु जब स्वय को देख लोगे तो फिर दूसरा से भय नहीं रहेगा।

आज का विज्ञान सिर्फ दूसरों को देखना सिखाता है जबकि अध्यात्म-ज्ञान का शीशा खुद को देखना सिखाता है।

भौतिक ज्ञान पदार्थों को अपना मानता है। जबकि आत्मज्ञान - सम्यग्ज्ञान पदार्थों को पराया मानता है। अत. भौतिक ज्ञान से प्राप्त हुए साधन बन्धनरूप बनते हैं; जबकि आत्मज्ञान से प्राप्त हुए साधन बन्धन से मुक्त बनाते हैं। भगवान् महावीर ने अपनी अन्तिम देशना में प्रत्येक साधक को सही दिशा मे पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देते हुए कहा है –

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए
अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।

'अज्ञान और मोह (के अंधेरे) को दूर करने के लिए और पूर्णज्ञान के प्रकाश के लिए पुरुषार्थ करो।'

अज्ञानवाद से लाभ या हानि !

प्राचीनकाल मे 'अज्ञानवाद' नामक एक मत प्रचलित था। उसकी यह मान्यता थी कि प्रत्येक वस्तु का ज्ञान होने से मनुष्य को दुःख एव आर्त ध्यान होता है, मोहवश उस भौतिक वस्तु को पाने की लालसा उठती है, परस्पर प्रतिस्पर्द्धा जागती है, जिससे जीवन में रागद्वेष और मोह पैदा होता है। इसलिये समस्त दोषों के कारणभूत ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान ही श्रेयस्कर है, जिसमें कोई झंझट नही, प्रतिस्पर्द्धा नही, मस्ती से सोने से दिन और चाँदी सी रातें कटती है।

परन्तु ज्ञानी पुरुषों ने अज्ञानवाद को घोर अंधेरी रात बताया है, जिसमें हीरा और कंकर एक-सा दिखता है। अंधेरे में ही हीरे की कीमत न जानकर उसे छोड़ दिया जाता है और कंकर को ही हीरा समझकर उसे अपनाया जाता है। अज्ञान वस्तु के स्वरूप का सच्चा भान नही होने देता। मोती की सच्ची माला गर्दन में पड़ी हो, फिर भी अज्ञानी व्यक्ति पिटारे में या बाहर में ढूँढता है।

वास्तव में अज्ञान में सत्य भी असत्यरूप दिखाई देता है। जो आत्मा के निजी गुण हैं, अज्ञानी जीव उनमें परायेपन का अनुभव करता है। सही माने में जो विकास के साधन हैं, उन्हीं में अज्ञानग्रस्त जीव विनाश की छाया देखता है। अतएव अज्ञानी जीव अपने लिए जानबूझ कर कई दुःख मोल ले लेता है।

यही कारण है कि तरुण अर्हतर्षि गाथापतिपुत्र २१वें अध्ययन में अज्ञानदशा की व्यथाकथा कहते हैं—

"णाहं पुरा किंचि जाणामि सव्वलोकंमि
गाहवति-पुत्तेण तरुणेण अरहता इसिणा बुइतं।

—"मैं पहले इस विशाल जगत् में कुछ भी नहीं जानता था। इस प्रकार गाथापतिपुत्र तरुण अर्हतर्षि बोले।"

प्रस्तुत अर्हत-ऋषि के सम्बन्ध में दो विशेषण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं– तरुण और गाथापतिपुत्र। तरुण-अवस्था में प्रायः मानव रमणीय विषय-भोगों के प्रवाह में बह जाया करता है। उस समय इन तरुण ऋषि ने अपने जीवन को देखा कि मैं तो अज्ञानावस्था में पड़ा हूं। इसी अज्ञान के कारण मैं दुःख पा रहा हूं। बस जाग उठे और भोग की वय में योग की ओर उन्होंने अपने जीवन के प्रवाह को मोड़ दिया। दूसरा विशेषण है 'गाथापतिपुत्र', जो पारिवारिक सम्पन्नता को सूचित कर रहा है। उस यौवनवय में अभाव से पीड़ित होकर इस तरुण ने त्यागमार्ग स्वीकार नहीं किया था। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न परिवार था, परिवार में भी वह सबका प्रिय था, लक्ष्मी के पायलों की झंकार भी उसकी आत्मा को वासना से बांधने के लिए पर्याप्त थी। किन्तु अज्ञानदशा का जब सही स्वरूप उन्होंने समझा तो त्याग-वैराग के मार्ग को उन्होंने अपना लिया। आगे वे अपनी अज्ञानदशा और ज्ञानदशा के अनुभवों के पृष्ठ खोलते हुए कहते हैं। जिसका भावार्थ इस प्रकार है–

"पहले मेरा जीवन अज्ञानमूलक था। मैं अज्ञानान्धकारवश न ही (वस्तुस्वरूप) जान पाता था, न देख पाता था, न ही मैं सम्यक् प्रकार से वस्तुतत्त्व को जानता था, और न ही उसका अवबोध कर पाता था। किन्तु जब से मुझे अपने-पराये की समझ आई, तब से मेरी आत्मा ज्ञान के प्रकाश से आलोकित है। अतः अब मैं (वस्तुस्वरूप को) जानता हूँ, वस्तुतत्त्व को सम्यक् प्रकार से जानने लगा हूं, यथार्थ अवबोध भी रखता हूँ।"

आत्मस्पर्शी ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान

अज्ञानावस्था में व्यक्ति अपने आत्मगुणों को भूलकर आत्मा के विभावों या परभावों को अपने समझने लगता है।

ज्ञान के दो प्रकार है—एक है विषय का प्रतिभास अर्थात् - पदार्थ-स्पर्शी ज्ञान; और दूसरा है—आत्मस्पर्शी ज्ञान । विषयों से सम्बन्धित ज्ञान तो स्कूल-कालेजों में भी मिल सकता है, किताबों, रेडियो, पत्र-पत्रिकाओं आदि से भी प्राप्त होता है, किन्तु आत्मस्पर्शी ज्ञान स्कूल-कालेजों, किताबों, रेडियो, पत्र-पत्रिकाओं से सीधा नहीं मिलता, भाड़े पर नहीं मिलता; उसके लिये अन्तर् में डुबकी लगानी पड़ती है। स्वयं को जानना पड़ता है। खुद को खोना पड़ता है, तभी खुदा को पाया जाता है। ऐसे आत्मस्पर्शी ज्ञान वाला मानव दुनिया में सदैव प्रसन्न रहता है, और दुनिया से विदा होते समय भी प्रसन्नतापूर्वक विदा होता है। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि मैं कौन हूँ ? मेरा परिचय क्या है ? मैं कहाँ से आया हूं ?, मेरा असली ठिकाना कहाँ है ? इस बात का भी ज्ञान अधिकांश लोगों को नहीं है। जहाँ व्यक्ति अपने-आप को ही भूल गया है, वहाँ दूसरे को तो कहाँ से पहचानता ? मानव का ज्ञान प्रायः अज्ञान के आवरण के नीचे ढक गया है। इसी कारण वह विवेकमूढ़ बन जाता है, उस आवरण को हटाकर मनुष्य अपनी आत्मा की जान-पहचान कर सकता है। गीता में कहा है—"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव ।"

हीरे पर आया हुआ आवरण हट जाए, तभी उसका प्रकाश फैलता है, इसी प्रकार आत्मा पर मन और बुद्धि, शरीर और इन्द्रियों की तरंगों का आया हुआ आवरण हट जाए तो तुरन्त आत्मा का प्रकाश फैल सकता है। अज्ञानी इन तरगों को बढ़ाता है, जबकि ज्ञानी इन तरगों को घटाता है शान्त करता है।

पानी के हौज के नीचे एकदम तले पर पड़ी हुई अंगूठी जलतरंगें हों तो नहीं दिखायी दे सकती; वह तभी दिखाई दे सकती है, जब तरंगें शान्त हों, पानी स्वच्छ हो जाए। इसी प्रकार आत्मा के अंदर रही हुई शक्तियाँ, निजी गुण स्वस्वरूप आदि तभी दिखाई दे सकते हैं, जब विकल्पों की तरंगें शान्त हों, चित्त निर्मल—शुद्ध हो। जैसे तरंगों से रहित, शान्त जल में मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब देख सकता है, वैसे ही विकारों और विकल्पों की तरंगों से रहित शुद्ध चित्त में—'मैं कौन हूं' इत्यादि आत्मभान हो सकता है। यह ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। वास्तव में यह ज्ञान कहीं बाहर से लाना नहीं पड़ता और न ही कहीं बाहर से मिलता है, यह तो अपने (आत्मा) में ही पड़ा है, केवल इसे प्रकट करना है। श्रीमद् रायचन्द्रजी ने कहा है—

नहीं ग्रन्थ मांही ज्ञान भाख्यु, ज्ञान नहीं कवि चातुरी।
नहीं मंत्र-तंत्रे ज्ञान भाख्यो, ज्ञान नहीं भाषा ठरी॥

नहीं अन्य स्थाने ज्ञान भाख्युं, ज्ञान ज्ञानीमां कलो।
जिनवर कहे छे 'ज्ञान' तेने, सर्व भव्यो सांभलो।

वस्तुत: तिजोरी, अलमारी या लायब्रेरी अथवा ग्रन्थ भण्डार में पुस्तकें पड़ी हों, इससे क्या ? ज्ञान पुस्तकों में नहीं है, किसी मंत्र, तंत्र या भाषा में नहीं है। वह बाजार के किसी अन्य स्थल में नहीं है। पुस्तकें आदि स्वयं सीधे ही किसी को ज्ञान नही दे सकतीं। तेरा ज्ञान तो तेरे में ही है। पुस्तकें पौद्गलिक हैं, जबकि ज्ञान आत्म गुण है। वे निमित्त बन सकती हैं।

अपना हृदयद्वार खोलो : ज्ञान प्राप्त होगा

तुम्हारी आत्मा का जितना उघाड़ होगा, उतना ही निर्मल शुद्ध ज्ञान तुममें प्रकट होगा। तुम्हारे आत्म-गुणो तथा आत्म-शक्तियों का ज्ञान पाने के लिए अन्तरंग द्वार ही खोलना है। वह जितना अच्छा खुला होगा, उतना ही आत्मज्ञान होगा।

प्राचीनकाल मे एक नगर में चित्र-प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था। उसमें विविध चित्र पंक्तिबद्ध सुशोभित हो रहे थे। चित्रों की सजावट से प्रदर्शनी आकर्षक बनी हुई थी। एक राजा उस प्रदर्शनी को देखने आया। वह अनेक चित्रकारों के चित्र देख रहा था। अकस्मात् उसकी दृष्टि एक चित्र पर गई। वह चित्र यों तो एक सादे दरवाजे का था। परन्तु इतना मोहक कि साक्षात् दरवाजा ही प्रतीत होता था। चित्रकार ने इसे ऐसी खूबी से चित्रित किया था कि दर्शक भ्रम मे पड़ जाय। अत: राजा ने उस चित्र के निर्माता चित्रकार से कहा—"तुम्हारे चित्र में एक बड़ी भूल दिखाई देती है।"

आश्चर्यचकित होकर चित्रकार ने पूछा - "भूल ! कौन-सी भूल ?" आगन्तुक राजा ने कहा - "इस दरवाजे को खोलने के लिए कोई हेंडल तो तुमने लगाया नहीं। हेंडल के बिना दरवाजा कैसे खुलेगा ?" चित्रकार यह सुनकर मौन रहा। राजा ने फिर पूछा—"यह है न तुम्हारी भूल ?"

चित्रकार ने कहा—"नहीं राजन ! यह दरवाजा, जो सादा दिखाई देता है, वह तो हृदय का द्वार है। इसी की कल्पना से मैंने यह चित्र बनाया है। हृदय द्वार तो अंदर से खुलता है, बाहर मे नहीं। इसीलिए तो मैंने हेंडल अंदर के भाग में कल्पना से बनाया है; जिससे हेंडल बाहर नहीं दिखाई देता।"

चित्रकार के द्वारा किये गये स्पष्टीकरण से राजा को सन्तोष हुआ।

बन्धुओ !

अपना हृदयद्वार भी अंदर से ही खुलता है न ? बाहर से खोलने का चाहे जितना प्रयत्न करोगे, व्यर्थ होगा। मैं देख रहा हूं, अधिकांश लोग अपना हृदयद्वार बिल्कुल बंद करके रखते हैं। हृदयद्वार को बंद कर वे अदर से कुंडी लगा लेते हैं, फिर शिकायत करते है कि हमें अपना ज्ञान नहीं हुआ।

आँखों के अंधेपन से अन्तर् का अंधापन बुरा है

आंखो का अंधापन इतना खराब नहीं है, किन्तु अतर् का अधापन बहुत ही बुरा है। आँख के अंधेपन मे बाहर की वस्तु नहीं दिखाई देती, उसमे अन्तर् का अनुभव तो हो सकता है, परन्तु अन्तर् के अंधेपन से अंतर् का कुछ भी नही दिखता, न समझ में आता है। कदाचित् किसी की आँख चली जाए तो अन्तश्चक्षु - आत्मज्ञान-नेत्र से वह वस्तु को जान-देख सकता है; किन्तु यदि अन्तश्चक्षु ही चली जाए तो मन देहासक्ति में ही फँस जाता है। देहभाव— देहाध्यास फँसा हुआ मन न तो आत्मतत्त्व का दर्शन कर सकता है, न ही परमात्मतत्त्व का। इसलिए आत्मज्ञान के लिए अन्तर् के अंधेपन को निकालना बहुत ही जरूरी है। देहभाव के आवरण ही आत्मा को पहचानने नही देते, देहासक्ति की दीवार ही आत्मज्ञान में बाधक है।

अज्ञानमूलक कामना से संसार भ्रमणरूपी दुःख

इसी अनुभव को तरुण अर्हतर्षि प्रकट करते हैं। इनके कथन का भावार्थ इस प्रकार है—

'मैने काम के वश होकर अज्ञानमूलक कृत्य किये हैं। अब ज्ञान-मूलक अवस्था में मेरे लिए काम से प्रेरित होकर कोई भी कृत्य करणीय नही है। क्योंकि अज्ञानमूलक अवस्था में जीव चातुरन्त (चतुर्गतिक) ससार-रूपी अरण्य में परिभ्रमण करते रहते हैं, जबकि ज्ञानमूलक अवस्था को प्राप्त करके वे ही जीव चातुरन्त ससाराटवी की विकट राह को पार कर जाते है। अतएव मैंने अज्ञान का परित्याग किया और ज्ञानमूलक पथ पकड़ लिया, जिसके द्वारा मैं समस्त दुःखो का अन्त करूँगा। फिर शिव, अचल, यावत् अनन्त शाश्वत स्थान को प्राप्त करूँगा।"

आशा, तृष्णा, वासना, कामना, इच्छा आदि सब काम के ही रूप हैं, जो अज्ञान से पैदा होते हैं। अज्ञानवश मनुष्य इन आशा, तृष्णा, कामना आदि का गुलाम होकर इनके इशारों पर नाचता है। यही कारण है कि आशा, तृष्णा, वासना, कामना आदि के संकेत पर कदम उठाने वाला अज्ञानग्रस्त मनुष्य अपने लिए अन्य अनेक स्वकृत, परप्राणिकृत और प्रकृति-

कृत दुःखों के साथ-साथ नरकादि चारों गतियों के दुःखों को न्योता देता है। अज्ञानी की प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक कार्य अकार्य है, और वह भवपरम्परा की जहरीली बेल का बीज है।

इसीलिए तरुण अर्हतर्षि कहते हैं कि जो मनुष्य अज्ञानवश सत्ता, सम्पत्ति, साधन, मकान, पद, प्रतिष्ठा, आभूषण, सोना, चांदी आदि काम (कामना-वासना या प्रलोभन-आकर्षण) में फंसा रहता है वह अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है, दुःख पाता है, यह जानकर ही मैंने अज्ञान का पल्ला छोड़ा।

राजकुमार भद्रायु ने तथागत बुद्ध से प्रव्रज्या ग्रहण करने का निश्चय किया, तब उसके पिता ने उसे वैसा करने से इन्कार किया और पूछा—"बेटा, ऐसा कौन-सा अभाव है, जिसके कारण तू दीक्षा ले रहा है? अगर राज्य की इच्छा है, तो मैं अभी तुझे राज्य सौंप देता हूँ।"

राजकुमार—"पिताजी! मुझे यह राज्य नहीं चाहिए।"

राजा—'तो फिर तुझे क्या चाहिए?"

राजकुमार—"मुझे संसार की कोई नाशवान वस्तु नहीं चाहिए। जब तक अज्ञानान्धकार मे भटकता था, तब तक मै इन सांसारिक पदार्थों को पाने के लिए लालायित रहता था, परन्तु अब मेरे अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश हो गया है। अन्तरात्मा के प्रकाश के समक्ष इन हीरे-मोती आदि का प्रकाश फीका पड़ जाता है। फिर आत्मा के प्रकाश के सिवाय दूसरे किसी भी बाह्य प्रकाश की जरूरत नहीं रहती।"

यह है अज्ञानवश हुई कामपरायणता को छोड़कर सम्यग्ज्ञानवश अकामपरायणता के स्वीकार का चित्र।

अज्ञान से दुःख, भय, शोक आदि

अज्ञानवश प्राणी किस-किस प्रकार से दुःख, भय, शोक और संकट पाता है? इस विषय में तरुण अर्हतर्षि आगे कहते हैं—

अण्णाणं परमं दुक्खं अण्णाणा जायते भयं।
अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सव्व देहिणं ॥१॥
मिया बज्झंति पासेहिं, विहंगा मत्तवारणा।
मच्छा गलेहिं सासंति, अण्णाणं सुमहब्भयं ॥२॥
जम्मं जरा य मच्चू य, सोको माणोवमाणणा।
अण्णाणमूलं जीवाणं, संसारस्स य संतती ॥३॥

अण्णाणेण अहं पुव्वं, दीहं संसार-सागरं ।
जम्म-जोणि-भयावत्तं, सरंतो दुक्खजालकं ॥४॥

दीवे पातो पयंगस्स, कोसियारस्स बंधणं ।
किंपाक-भक्खणं चेव, अण्णाणस्स णिदंसणं ॥५॥

बितियं जरो दुपाणत्थं, दिट्ठो अण्णाणमोहितो ।
सअंग-गात-लट्ठी उ मिगारी णिधणं गओ ॥६॥

मिगारी य भुयंगो य, अण्णाणेण विमोहि[illegible]
गाहा-दसा-णिवातेणं, विणास दो वि ते गता ॥७॥

सुप्पियं तणयं भद्दा, अण्णाणेण विमोहिता ।
माता तस्सेव सोगेण, कुद्धा त चेव खादति [illegible]

अर्थात् अज्ञान ही परम दुःख है, अज्ञान से ही भव का जन्म होता है। समस्त प्राणियों के लिए भवपरम्परा का मूल विविधरूप में व्याप्त यह अज्ञान ही है।

अज्ञान के कारण ही मृग, पक्षी, मदोन्मत्त हाथी पाश में बंध जाते हैं, और मछलियों के कंठ बीधे जाते हैं। अतः संसार में अज्ञान ही सबसे बड़ा भय है।

जन्म, जरा, मृत्यु और शोक, मान तथा अपमान, ये सब आत्मा के अज्ञान के कारण ही पैदा हुए हैं। संसार-परिभ्रमण की परम्परा अज्ञान के कारण ही बढ़ती है।

मैं पहले अज्ञान के कारण ही जन्म और योनि के भयरूप आवर्त्त-शील दीर्घ (लम्बे) ससार-सागर में भटकता रहा हूँ।

पतंगे का दीपक पर गिरना, कोशिकार नामक रेशम के कीड़े का बन्धन और किम्पाकफल का भक्षण ये अज्ञान के ही नमूने हैं।

अज्ञान में मोहित सिंह कुएं के पानी में दूसरे सिंह को देखकर उस पर गिर पड़ता है। फलत. देह के छिन्न-भिन्न होने से वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।

अज्ञान से विमोहित सिंह और सर्प पंजे की पकड़ और दंश के प्रहार से विनष्ट हो गए।

सुप्रिय को माता भद्रा अज्ञान से ही विमोहित होती है। उसी शोक से क्रुद्ध होकर (सिंहनी बनी हुई) वही माता अपने ही पुत्र (सुप्रिय) को खा जाती है।

एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है —

Ignorance is the root of all evils'

—अज्ञान तमाम बुराइयों की जड़ है।

संसार के अधिकांश पाप अज्ञान के कारण होते हैं। पाप के कारण ही जीव जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि तथा अपमान, शोक आदि नाना प्रकार के दुःख पाता है, व उठाता है।

यह अज्ञान की ही करतूत है कि बहुत-सी बहनें पुत्र-प्राप्ति, पुत्ररक्षा सौभाग्य या अन्य सांसारिक सुख के लिए बायाजी, भोपा, भवानी, चण्डी, दुर्गा, काली आदि देवियों और जोगिनियों को मनाती हैं, जहाँ बकरे, मुर्गे, या भैंसे की बलि दी जाती है, शराब चढ़ाई जाती है।

ये सामाजिक अज्ञान तो पापमूलक हैं ही, कई पारिवारिक अज्ञान भी भयंकर हिंसायुक्त हैं।

गोभिल्ल गृह्यसूत्र में वर्णन है कि विवाह के मांगलिक प्रसंग पर वर-वधू को ताजे मारे हुए बैल का चमड़ा ओढ़ाकर चवरी (लग्नमण्डप) में बिठाया जाता था। तथा उत्सवों में मनुष्यो की खोपड़ी लेकर चलने का रिवाज था। इसी प्रकार एक जगह विवाह के समय घर मे बिल्ली उछल-कूद मचा रही थी, तो उसे अपशकुन मानकर उस पर पीतल का भगौना औंधा करके डाल दिया गया। नववधू ने यह देख लिया। उसने मन में गांठ बाध ली कि हमारे ससुराल में विवाह के समय इस प्रथा का पालन होता है। बीस वर्ष बाद उसके जवान लड़के का विवाह होने लगा तो उस लड़के की मा ने उस पुरानी प्रथा को याद करके बिल्ली ले आने की फरमाइश की। चूंकि वह पालतू बिल्ली तो उसी समय मर चुकी थी। दूसरी बिल्ली पाली नही गई थी। अतः काफी दौड़-धूप और परेशानी के बाद एक भटकती हुई बिल्ली लाई गई। वर की मां ने उस पर पीतल का भगौना ढकवाया। लोगो ने समझाया-बुझाया तो उसने उनकी एक नही सुनी और इस कुरीति का पालन किया। फिर उसकी उक्त नववधू ने भी अपनी सास की डाली हुई परम्परा का पालन अपने पुत्र के विवाह के समय बिल्ली मंगवा कर किया।

ये हुए पारिवारिक अज्ञान, जो हिंसामूलक हैं।

इनसे भी भयंकर पापमूलक है—धार्मिक अज्ञान। जो धर्म के नाम पर चलता है। धर्म के नाम पर महन्तों और गुसांइयों की व्यभिचारलीला, दासीप्रथा के नाम पर अनाचार परम्परा, मनुष्यों की बलि इत्यादि।

पाश्चात्य देशों के इतिहास में वर्णन है कि मैक्सिका में प्रतिवर्ष वहाँ के देवता के आगे बीस हजार मनुष्यों की बलि चढ़ती है। देवता नर-रक्त चाहते हैं, ऐसा अन्धविश्वास वहाँ प्रचलित है।

भारतवर्ष में भी प्राचीनकाल में कई प्रान्तों में भैंसों, बकरों आदि की बलि दी जाती थी तथा नरबलि देने का भी रिवाज बहुत विचित्र था। एक रणक्षेत्र चुना जाता था। उसमें युद्ध बंदी बनाए हुए सैनिकों को आपस में लड़ाया जाता था। दर्शकों का हर्षनाद, जयनाद और तालियों की गड़गड़ाहट होती। जो प्रतिद्वन्द्वी हार जाता घटनास्थल पर ही उसके निर्दयतापूर्वक टुकड़े-टुकड़े करके देवता को उसकी बलि दे दी जाती थी।

इन रोमहर्षक पापों की प्रेरणा देने वाला कौन है? मैं कहूँगा, ये तमाम पाप अज्ञानमूलक हैं। वीतरागदेव ने अज्ञान को सबसे बड़ा पाप बताया है। पाप तो दुःख को ही निमंत्रण देता है। उससे आप सुख चाहें तो स्वप्न में भी नहीं मिल सकता।

जगल में निर्भय विचरण करने वाला मृग शिकारी की बशी की मधुर तान सुनाता है तो अज्ञानवश विमोहित होकर दौड़ता हुआ वहाँ चला आता है। सगीत की स्वरलहरी पर वह मुग्ध हो जाता है। सगीत में लीन मृग के शरीर को शिकारी के बाण बींध डालते हैं।

आकाश में स्वच्छन्द विचरण करने वाला पक्षी दाने को देखकर धरती पर उतरता है। उतरते ही वह अन्नकण के लोभ में आकर बहेलिये के द्वारा बिछाये हुए जाल में फंस जाता है, फिर उसे पकड़ कर या तो किसी मांसाहारी को बेच दिया जाता है या पिंजरे में कैद कर दिया जाता है।

विशालकाय गजराज कागज की हस्तिनी को देखकर उसके मोह में दौड़ता हुआ आकर गहरे गड्ढे मे गिर जाता है। सात दिन तक उसे भूखा-प्यासा रखा जाता है उसके दांत उखाड़ लिये जाते हैं, साथ ही उसे सांकलों से बांध दिया जाता है। इस प्रकार कामवासना के प्रलोभन में पड़-कर हाथी दुःख पाता है।

और अब देखिए उस भोली-भाली जल विहारिणी मछली का हाल। वह आटे की गोली खाने के लोभ में पानी से बाहर मुँह निकाल कर आती है। आटे की गोली खाते ही उसके पीछे छिपा हुआ तीखा लोहे का कांटा उसके कंठ को बींध डालता हैं। बस, वहीं उसका प्राणान्त हो जाता है।

ये और कई उदाहरण अर्हर्तांब तरुण के अज्ञानजनित दशा के प्रस्तुत किये हैं।

संसारी जीवों के लिए अनिवार्य जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, शोक, मान-अपमान आदि सभी दुःख अज्ञान से ही पैदा होते हैं। यह अज्ञान ही है, जिसके कारण मनुष्य ऐसी समस्या पैदा कर लेता है कि बाद में उसे शोक, संकट, अपमान और अन्याय-अत्याचार के रूप में नाना दुःख सहने पड़ते हैं।

अज्ञान का अर्थ : मिथ्याज्ञान

अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं किन्तु मिथ्या-अयथार्थ ज्ञान है। 'पर' वस्तु में 'स्व' का बोध ही अज्ञान है। अन्यथा, ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है। वह आत्मा से कदापि पृथक नहीं हो सकता। आत्मा की राग-द्वेषात्मक परिणतियाँ ही ज्ञान को अज्ञान में परिणत करती हैं।

आत्मा अज्ञानरूप क्यों हो जाता है ?

प्रश्न होता है आत्मा ज्ञानस्वरूप है, फिर वह पररूप क्यो हो जाता है ? इसका स्पष्ट उत्तर है—अज्ञान।

एक सिंह का नवजात अनाथ बच्चा जंगल में पड़ा था। भेड़ ने देखा तो उसका मातृ वात्सल्य उमड़ आया। अपने बच्चो के साथ वह उसे भी दूध पिलाने लगी। सिंह शिशु भी उसे अपनी माँ समझने लगा और भेड़ के बच्चों के साथ चौकड़िया भर कर खेलता रहा। धीरे धीरे सिंह-शिशु बड़ा हुआ। पर उसमे भेड़ के ही संस्कार विकसित होने लगे। भेड़ो की तरह वह घास चरता और जगली जानवरों को देखकर भय से काँपता हुआ मिमिया कर भाग जाता। गड़रिया भेड़ों को जब पीटता तो दो-चार डडे सिंह शावक पर भी जमा देता। वह चीखता और आगे जाने वाली भेड़ों मे जा मिलता। वह डंडे इसलिए खाता और डरता था कि उसे निज रूप का पता ही नहीं था।

एक दिन एक सरोवर के निर्मल जल में वह पानी पी रहा था, तभी एक सिंह ने भेड़ों के झुण्ड पर आक्रमण कर दिया। सभी भेड़े जान बचा कर भागी। सिंह शावक ने भी सिंह को देखा तो वह भी भयभ्रान्त होकर भागने लगा। सयोगवश सरोवर के जल में उसने अपना चेहरा देख लिया था, जो उस सिंह से मिलता-जुलता था। उसने मन ही मन सोचा—'अरे मैं तो भेड़ नहीं, सिंह हूं; वैसा ही जैसा कि अभी हम पर झपटा था। और जिसे देखकर सारा जंगल काँप उठा था। बस, सिंह शिशु में भी अपना

सोया सिंहत्व जाग उठा। उस सिंह शिशु ने भी अपने स्वरूप को पहचान कर जोर की गर्जना की। सभी भेड़ें उसकी गर्जना सुनकर भाग खड़ी हुईं। गड़रिया भी डंडा छोड़कर भागा। सिंह-शिशु को अब स्वज्ञान हो गया कि मैं इधर-उधर भटकने वाला और गड़रिये के डंडे पर चलने वाला भेड़ नहीं हूं। इसी प्रकार आत्मा भी जब तक अपने आपको शरीर मानकर उसी के सयोग-वियोग मे दुःखी हो जाता है और दुःख दारिद्र्य, रोग, शोक, दैन्य, भय आदि के डंड खाता रहता है। परन्तु जिस क्षण आत्मा अपने वास्तविक रूप को जान लेता है, कि मै भेड़ आदि रूप नहीं हूं, न ही मैं देहादि रूप हू। मेरा स्वरूप शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, चिदानन्द रूप है। तब उसकी एक ही गर्जना में समस्त विकृतिरूपी भेड़ें भाग खड़ी होंगी और वह स्वतन्त्र-चेता होकर स्वभाव परिणति का भोक्ता हो जायगा।

अज्ञानग्रस्त प्राणियों की कहानियाँ

और सुन लो, पतंगो आदि की कहानी। पतगा जलते हुए दीपक की लौ पर मोहित होकर गिर पड़ता है। निष्ठुर दीपक उसकी राख बना देता है। रेशम का कीड़ा अपने ही रेशमी तारो से बधता है और फिर उससे मुक्त होने के लिए छटपटाता है। भोला मानव मधुर और स्वादिष्ट लगने वाले किपाक फल को बहुत ही आसक्तिपूर्वक खाता है। किन्तु वे ही मीठे किन्तु जहरीले फल चार घन्टे मे उसकी रग-रग में जहर फैला देते हैं और कुछ क्षण मे ही उसका जीवनदीप बुझ जाता है। ये सब दुःख गाथाएँ अज्ञान के परिणामों को अभिव्यक्त करती हैं।

और सुनिये, उस बलिष्ठ एवं सारे वन को अपनी दहाड़ से कम्पायमान करने वाले सिंह की अज्ञान दशा की लोक प्रसिद्ध कहानी जो तरुण अर्हतर्षि ने यहाँ उद्धृत की है।

एक बार एक वृद्ध सिंह जंगल के समस्त हिरनों और सियारों का बध करने लगा। पशुओं ने मीटिंग करके एकमत से यह प्रस्ताव सिंह के सामने रखा कि 'आपके पास हम बारी-बारी से एक पशु भेज दिया करेंगे ताकि हमारा पशुवंश समाप्त न हो।' सिंह ने इसे स्वीकार किया। एक दिन एक शृगाल शिशु की बारी थी। उसने बुद्धिमानी से सोचा कि किसी युक्ति से इस सिंह को परलोक भेज देना चाहिए, ताकि सदा के लिए यह सिरदर्द मिट जाए। अतः वह धीरे-धीरे कदम उठाता हुआ कुछ देर से पहुंचा। वृद्धसिंह क्रुद्ध होकर तीव्र स्वर में बोला—'अरे! देर क्यों कर दी आने

में ?' चालाक सियार बोला—'हुजूर ! मैं तो शीघ्र ही आ रहा था, किन्तु रास्ते में एक दूसरा सिंह मिल गया। उसने मुझे रोक लिया और पूछा—'कहां जा रहा है ?' मैंने कहा—'मैं वनराज के यहाँ जा रहा हूं।' वह बोला—'वह तो बूढा हो गया है, अब तो मैं वनराज हूँ।' वृद्ध सिंह इन शब्दों को सुनते ही आगबबूला हो गया। तीखे स्वर में पूछा—'कौन और कहाँ है, वनराज ! मुझे दिखलाओ तो। मैं एक ही पंजे से उसे चीर दूंगा।'

चतुर शृगाल आगे-आगे हो लिया। पीछे-पीछे वनराज एक ही प्रहार में अपने प्रतिद्वन्द्वी को फाड़ डालने का मनसूबा करते हुए चले आ रहे थे। शृगाल एक कुँए के पास आकर उसे देखने का-सा नाटक करने लगा। कुछ देर रुककर वह सफलता के आवेश में जोर से चिल्लाया 'मिल गया, मिल गया !! आपके डर से वह इसी कुँए जाकर छिप गया है। उसे भी तो अपनी जान प्यारी है !'

सिंह एक ही छलांग में कुँए के निकट आ गया। कुँए में झाका तो सिंह की-सी आकृति दिखाई दी। वृद्ध सिंह गर्जा—'निकल बाहर कायर ! आज तुझे जिन्दा नहीं छोड़ूंगा। 'ले अभी आया।' इतना कहकर उस सिंह ने कुँए में छलांग लगा दी। शृगाल मुस्करा दिया। मन ही मन सोचा—'अपनी छाया को ही मिटाने चला, स्वयं मिट गया।'

यह है अज्ञान से मोहित वृद्धसिंह के सर्वनाश की कथा !

अब सुनिये, सिंह और सर्प के अज्ञान के कारण दोनो के नष्ट होने की कथा ! सर्प के बिल के निकट एक सिंह सो रहा था। अचानक बिल में से सर्प निकला। उसने सिंह को डस लिया। उधर पीड़ा से उत्तेजित होकर सिंह ने भी अपने नुकीले पजों से साप को नोच डाला।। दोनो ही थोड़ी देर में समाप्त हो गये।

अज्ञानवश, जिस पुत्र पर राग, उसी के प्रति द्वेष

इसी प्रकार अज्ञानग्रस्त आत्माएं हिंसा और प्रतिहिंसा के द्वारा अपना और दूसरे का विनाश करती हैं।

अज्ञान प्राणी से क्या-क्या नहीं करवाता ? अज्ञानान्धकार से ग्रस्त आत्मा पहले अपने माने हुए प्रिय पात्र के वियोग में रागवश व्याकुल होता है, किन्तु उसके मिल जाने पर वही राग द्वेष में परिणत हो जाता है। अज्ञानवश, जिसकी उपस्थिति पहले हर्षदायक थी, अब उसी की उपस्थिति

त्रासदायक बन जाती है। अर्हर्तार्ष मानव-मन की इसी अज्ञानप्रेरित वृत्ति की एक ऐतिहासिक कहानी यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

माता भद्रा को अपना पुत्र बहुत ही प्यारा था। वह नहीं चाहती थी कि उसका पुत्र पति के साथ दीक्षित हो। परन्तु उसके पुत्र ने संसारविरक्त होकर दीक्षा ले ली। तब वह उससे रुष्ट हो गई और आत्महत्या कर ली। अगले जन्म में वह सिहनी बनी। एक बार जंगल में उसके पूर्वजन्म का पुत्र मुनि वेश में ध्यानस्थ खड़ा था। पूर्वजन्म का वैर उमड़ा और कुपित होकर वह मुनि को अपने पंजे से चीर कर खागई। यह है, अज्ञान की विडम्बना कि पूर्वजन्म में एव. दिन भी जिसका वियोग सहन नही कर पाती थी, इस जन्म मे वह उसी के खून की प्यासी बन गई।

अज्ञान की ये दारुण दुःखदायिनी घटनाएँ बताती है कि मनुष्य अज्ञानवश उन्ही पदार्थों में आनन्द मानता है, जो उसे हानि पहुंचाते हैं। अज्ञान में आत्मा हेय को उपादेय और उपादेय को हेय समझता है। सर्प और अग्नि भयकर और हेय तथा सोना और चाँदी आकर्षक और ग्राह्य लगते हैं। किन्तु क्या आपको जितना सर्प और आग से भय लगता है, उतना अन्याय, अत्याचार और असत्य से भय लगता है? अंधेरे में सोने का हार सर्प-सा भयंकर दिखाई देता है। निष्कर्ष यह है कि अज्ञानदशा में सभी वस्तुएं विपरीत रूप में, मिथ्या प्रतिभाषित होती है। अत अज्ञान को दुःख रूप, भयरूप और भवपरम्परा का मूल जानकर उससे दूर रहने का प्रयत्न कीजिए।

ज्ञान की आवश्यकता और कार्यक्षमता

मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति मे पद-पद पर ज्ञान की आवश्यकता रहती है। मान लो, एक व्यक्ति के पास घड़ी है और दूसरे के पास घड़ी बनाने की कला का या घड़ी के स्वरूप का ज्ञान है, तो मैं आपसे पूछता हूँ, किसका जीवन महत्वपूर्ण एव बहुमूल्य है? घड़ी की कीमत तो सौ से हजार रुपये तक हो सकती है, किन्तु जिसे घड़ी के स्वरूप या निर्माण का ज्ञान है, उसका मूल्य एवं महत्व ज्यादा ही है। घड़ी बिगड़ जाने पर उसे घड़ीसाज को कोई चिन्ता नहीं होती, घड़ी वाले को चिन्ता हो सकती है। इसी प्रकार जिसे आत्मा के स्वरूप का ज्ञान है, वह देहरूपी घड़ी के बन्द हो जाने पर रोता नही, वह सोचता है। अतः साधनानिष्ठ आत्मस्वरूपज्ञ व्यक्ति के ज्ञान की कीमत ज्यादा है। घड़ीसाज घड़ी के पुर्जों को यथास्थान सुव्यवस्थित जमाता है, पुर्जे कितने ही अस्तव्यस्त हों, वह उन्हें यथास्थान जमाकर घड़ी चालू कर देता है। निष्कर्ष यह है कि विविध वस्तुओं की यथास्थान संयोजना

का ज्ञान सफलता का सिंहद्वार है। अज्ञान से संयोजना में सफलता नहीं मिल सकती। अज्ञानी की असफलता के विषय में तरुण अर्हतर्षि कहते हैं—

विण्णासो ओसहीणं तु, सयोगाण व जोयणं।
साहणं वा वि विज्जाण, अण्णाणेग ण सिज्झति ॥९॥

अर्थात्—औषधियों का विन्यास (यथास्थान यथायोग्य संयोजन) करना, रुग्ण की हालत देखकर औषधि देना, और विद्याध्ययन, अथवा विद्याओं की साधना, ऐसी बातें है, जिनमें अज्ञान से कदापि सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। एक विचारक ने कहा है—

अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्तिमूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः॥

संसार मे कोई भी ऐसा अक्षर नही है, जो मन्त्र न हो, कोई भी बनस्पति ऐसी नहीं है, जो औषध न बन सकती हो, और कोई भी पुरुष अयोग्य नहीं है, दुर्लभ है इन सबका संयोजक! जिसे सयोजना का ज्ञान नही होता, वह अमृत को भी विष बना देता है, जबकि संयोजनाज्ञाता विष को भी अमृत बना सकता है। स्वर और व्यंजनों के उन्हीं अक्षरों मे चामत्कारिक मन्त्र वा कमनीय काव्य की सृष्टि हो सकती है, जबकि अज्ञानी व्यक्ति उन्ही अक्षरों का किसी के अपमान, तिरस्कार आदि में प्रयोग करता है। विद्याएँ संयोजन ज्ञान का ही चमत्कार है। सब कुछ उपलब्ध है, किन्तु साधना के परिज्ञान के अभाव में कभी सिद्धि नही मिल सकती। सफलता को असफलता मे बदलने वाला अज्ञान ही है। ज्ञान का महत्व आँकते हुए तरुण अर्हतर्षि कहते है—

विण्णासो ओसहीण तु, संजोगाणं व जोयण।
साहण वा वि विज्जाणं, णाणजोगेण सिज्झति ॥१०॥

औषधियों का विन्यास—सरचना, औषधियों की व्यवस्था, संयोगो की संयोजना, और विद्याओ की साधना ज्ञान के द्वारा ही सिद्ध होती है।

अतः सफलता का द्वार ज्ञान है—सम्यग्ज्ञान है. साध्य की ओर कदम ज्ञान से ही बढ़ाया जाता है. किन्तु जिसे साधन का परिज्ञान नहीं है, वह साध्य तक पहुंच ही नही सकता सम्यक् ज्ञान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उपयोगी है। वह सुख, उत्साह, प्रसन्नता और शक्ति प्रदान करने वाला है। वह हजारो व्यक्तियो को प्रकाश की राह दिखाता है। आपके हाथ में टॉर्च है, तो आप निर्भीक होकर अंधेरे में जा सकते हैं। अतः ज्ञान टॉर्च है, जो आत्मा को निर्भीक, उत्साहित होकर चारित्र का पथ दिखाता है। इसीलिए साधक प्रतिज्ञा करता है—'अन्नाण परियाणामि, नाण उवसंपवज्जामि'' अर्थात्—अज्ञान को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्यागता है और ज्ञान के निकट जाता है। □

२५

नारी : नागिनी या नारायणी !

आत्मविकास में सर्वाधिक बाधक : कामवासना

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! आज मैं संयम साधना में बन्धन और आत्मोत्थान एव आत्मगुणों के विकास में बाधक कुछ तथ्यों के बारे में आपके समक्ष विश्लेषण करना चाहता हूँ। मुक्ति का लक्ष्य बनाकर चलने वाले साधु के जीवन मे यदि कोई भी कठिनतम वस्तु है तो वह है कामवासना का रोकना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, कामविकार से युद्ध करना; क्योकि जो साधक कामवासना से पराजित हो जाता है, वह आत्म विकास के मार्ग में आगे नही बढ़ सकता, उसका ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप सभी फीके हो जाते है। इसलिए क्या साधु, क्या गृहस्थ श्रावक, सभी को जीवन में साधना में प्रगति करने में सबसे अधिक ध्यान इसी वस्तु पर देना चाहिए, प्रगति बाधक इन तत्वों को दूर करना चाहिए।

कामवासना का प्रबल निमित्त : नारी

यो तो स्त्री और पुरुष—प्रकृति के मुख्य घटक है, किन्तु ससार में पुरुष की अपेक्षा नारी को कुछ अधिक सहज सुकुमारता सुन्दरता प्राप्त है। इसलिए पुरुषो के लिए वह एक आकर्षण का कारण भी बन जाता है, अत: पुरुषों की दृष्टि में नारी को कामवासना का सबसे प्रबल निमित्त माना जाता है। नारी का आकर्षण कामवासना को उद्दीप्त करता है और साधक यदि उससे न सँभले तो उसकी की-कराई सारी साधना चौपट हो जाती है। प्राचीन कवियों ने साधक को सावधान करने के लिए कहा है—

> दर्शनाद्धरते चित्त, स्पर्शनाद् ग्रसते बलम् ।
> संगमाद् ग्रसते वीर्य, नारी प्रत्यक्ष राक्षसी ॥

अर्थात् - नारी दर्शन से (पुरुष के) मन को खींचती है, स्पर्श से

बल को और संगम से वीर्य को ग्रस लेती है। अतः नारी पुरुष के लिए प्रत्यक्ष राक्षसी है।

शंकराचार्य ने अपनी प्रश्नोत्तरी में कहा है—

द्वारं किमेक नरकस्य ?—नारी।'

नरक का एकमात्र द्वार कौन-सा है ?—नारी।

इसी प्रकार कामवासना से साधक को विरक्त करने के लिए जैन शास्त्रों में भी जगह-जगह कामवासना की प्रमुख उत्तेजनादात्री नारी से सावधान रहने के लिए निर्देश किया है। सूत्रकृतांगसूत्र (३।४।१६) में कहा है—

जहा नई वेतरणी, दुत्तरा इह समय।
एव लोगंमि नारीओ, दुत्तरा य नई मया॥

जिस प्रकार नरक की वैतरणी नदी को पार करना दुस्तर माना गया है, उसी प्रकार लोक में नारी-रूपी नदियाँ भी दुस्तर मानी गई है।

'इत्थीवसंगया बाला, जिणसासण-परंमुहा।'

स्त्रियों के वशीभूत होने वाले अज्ञानी साधक जिनशासन से विमुख हो जाते हैं।

'वज्जए इत्थी, विसलित्त व कंटगं नच्चा।'

विष-लिप्त कांटे के समान जानकर स्त्रियों से दूर रहना चाहिए।

बन्धुओ ! यह सब कथन स्त्रियों के प्रति पुरुष के वासनामूलक आकर्षण को घटाने के लिए ही है।

साधक कहीं वासना के दलदल में फँस न जाए, इसलिए उसे सावधान करने हेतु उत्तराध्ययनसूत्र (२।१७) में कहा है—

'पंकभूमाओ इत्थिओ।'

स्त्रियाँ कीचड़ के समान हैं, (साधक को उसमें फँसना नहीं चाहिए।)

नारीजाति का उज्ज्वलपक्ष

दूसरी ओर इन्हीं शास्त्रों में नारी की महिमा का गुणगान किया गया है। उन्हें **'देवगुरुजणणीसंकासा'** देवता, गुरु और माता के समान बताया गया है। 'नारी नारायणी', 'जगज्जननी', 'महाशक्ति', 'वात्सल्यमयी' आदि अनेक सम्मानसूचक पदों से नारी को अलंकृत किया गया है। कवियों ने भी कहा है—

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।'

जहाँ स्त्रियाँ पूजनीय मानी जाती हैं, वहाँ देवता भी क्रीड़ा करते हैं।'

भारतीय संस्कृति में विद्या के लिए सरस्वती की, धन के लिए लक्ष्मी की और शक्ति के लिए दुर्गा की उपासना करने की पद्धति प्रचलित है। विद्या, सम्पत्ति और शक्ति स्त्री (देवी) पूजा से प्राप्त होती है। इनमें से किसी भी वस्तु की प्राप्ति के लिए किसी देव या पुरुष की कोई पूजा नहीं करता। इसका मुख्य कारण यह है कि नारी जाति में स्वभावतः कोमलता, दया, वत्सलता और करुणा होती है। वह स्नेह, सेवा और सहिष्णुता की मूर्ति होती है। मातृजाति में सबसे बड़ा गुण त्याग और सहिष्णुता का है। जिस कार्य को पुरुष घृणित समझता है; बच्चों की गन्दगी उठाने, तथा मलमूत्र धोने जैसे उस कष्टकर कार्य को स्त्रीजाति हर्षपूर्वक करती है। वह कभी ऐसे सेवा के कार्य से नाक-भौं नहीं सिकोड़ती। भगवान् ऋषभदेव युगादि तीर्थंकर होने से ब्रह्मा माने जाते हैं। उनकी पुत्री 'ब्राह्मी' ने ब्राह्मी-लिपि का और 'सुन्दरी' ने गणितविद्या का प्रथम अध्ययन करके संसार में प्रचार किया था। इस प्रकार स्त्रीजाति ने ही मानव को शिक्षित और विद्वान बनाया है।

नेपोलियन बोनापार्ट को वीर और योद्धा बनाने वाली उसकी माता ही थी। इसलिए नारियाँ जगज्जननी का अवतार हैं। इन्हीं की कूँख से महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण, गाँधी आदि उत्पन्न हुए हैं। इन महापुरुषों ने माता के उत्तम गुणों, और संस्कारों को प्राप्त करके महानता प्राप्त की है। यों भी देखा जाए तो नारी ने अपने त्याग, सहिष्णुता, क्षमा, उदारता, वीरता और अहिंसा आदि अनेक गुणों से इस संसार को मृत्यु के मुख से बचाया है। नारीजाति ने निराश और हताश बने हुए पुरुषों को हिम्मत दी है। नीरसता में भी सरसता उत्पन्न की है। कठोर कर्त्तव्यपालन में धर्म से विचलित होते हुए पुरुषों में भी नारीजाति ने वीरता, त्याग, वैराग्य और संयम के प्राण फूँके हैं।

भारत के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री प० जवाहरलाल नेहरू ने एक बार बहनों की सभा में भाषण देते हुए कहा था—"हिन्दुस्तान के जख्मी हृदयों का इलाज स्त्रियाँ ही कर सकती हैं।" टूटे हुए दिलों को मिलाने, कठोर कर्त्तव्यपालन में सहयोगी बनने में नारियाँ कभी पीछे नहीं रही हैं। सन्त विनोबा ने भी विश्व में अहिंसा के प्रचार के लिए नारीजाति को ही पसन्द

किया था। भगवान् महावीर ने भी चन्दनबाला जैसी विपत्ति में पड़ी हुई, दासी बनी हुई महिला को दीक्षा देकर स्त्रीजाति का परम उद्धार किया था। उनको भी तप, त्याग, संयम और मुक्तिप्राप्ति का पुरुषों के समान अधिकार दिया था। इसलिए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि स्त्रियाँ "अबला' नहीं, 'प्रबला' हैं।

कामवासना से सावधान रहने का निर्देश

वास्तव में देखा जाए तो न तो नारी नागिन है और न पुरुष ही नाग है। किन्तु मन में जो कामवासनारूपी नागिन बैठी है, उससे साधक को सावधान रहने के लिए ही यत्र-तत्र ऐसा कहा गया है। वह साधक के लिए सावधानी की भाषा है, नारी के प्रति अपमान की भाषा नहीं है।

परन्तु गम्भीरता के साथ चिन्तन करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्री में कोमलता और भावुकता अधिक होती है, इसलिए वह सहसा पतन की ओर झुक जाती है। पुरुषों में कठोरता, दृढ़ता और साहसिकता होती है, इस कारण वह स्वीकृत संयम-पथ से सहसा डिग नहीं पाता। यही कारण है कि धर्म को पुरुष-प्रधान कहा गया है।

साधक जलकमलवत् कर्मों से निर्लिप्त रहे

अर्हतर्षि दगभाली पुरुषादानी भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के प्रत्येकबुद्ध हुए हैं। उन्होंने प्रस्तुत बाईसवें अध्ययन में धर्म में दृढ़ता की दृष्टि से पुरुषजाति को प्रधानता देकर तथाकथित नारी से सावधान रहने का साधक को निर्देश दिया है।

उन्होंने सर्वप्रथम साधक को समाज के बीच निर्लिप्त रहने तथा कर्म-बन्धन होने वाले कार्यों से दूर रहकर कर्मों को आत्मा से पृथक् करने का सन्देश देते हुए कहा है—

परिसाडी कम्मे। अपरिसाडिणोऽबुद्धा, तम्हा खलु अपरिसाडिणो बुद्धा णोवलिप्पति रएणं-पुक्खरपत्त व वारिणा। दगभालेण अरहता इसिणा बुइतं।

अर्थात्—'साधक कर्मों को (आत्मा से) पृथक् करे। जो कर्मों का परिशाटन (पृथक्करण) नहीं करते, वे अबुद्ध साधक होते हैं। कर्मों को पृथक् करने वाले प्रबुद्धात्मा साधक कर्मरज से उसी प्रकार अलिप्त रहते हैं, जिस प्रकार कमल पानी से अलिप्त रहता है। इस प्रकार दगभाली अर्हतर्षि ने कहा।'

साधक समाज में रहता है, वह अन्न पानी, वस्त्र पात्र तथा अन्य उपकरणादि समाज से प्राप्त करता है। उसके सम्पर्क में गृहस्थ स्त्री और पुरुष दोनों आते हैं। ऐसे समय में वह राग-द्वेष एवं मोह के वशीभूत हो जाए तो कर्मों से लिप्त हो सकता है। साधक का लक्ष्य कर्मों से सर्वथा मुक्त होना है। इसलिए यहाँ कहा गया है कि साधक जागृत (प्रबुद्ध रहकर) कर्मों से लिप्त होने से बचे। समाज के बीच रहते हुए भी तथा समाज से सम्पर्क रखते हुए भी उनमे जलकमलवत् निर्लेप रहे, निरासक्त, निःस्पृह और निरीह रहे।

पुरुषादि में रहा हुआ ग्रामधर्म

जिस प्रकार आत्मधर्म का आचरण कर्मों को क्षय करने में उपयोगी है और वह साधकपुरुष में रहता है, उसी प्रकार ग्रामधर्म (अर्थात्— पंचेन्द्रियविषयाभिलाषा) भी रहता है, इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए अर्हतर्षि दगभाली कहते हैं—

पुरिसादीया धम्मा, पुरिसप्पवरा, पुरिसजेट्ठा पुरिसकप्पिया पुरिसपज्जोविता पुरिससमण्णागता पुरिसमेव अभिउ जियाणं चिट्ठति।

से जहा णामते आरत्तो सिया सरीरंसि जाता, सरीरंसि वड्ढिया, सरीरसमण्णागता सरीरं चेव अभिउं जियाण चिट्ठति। एवमेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव चिट्ठन्ति।

अर्थात्— पुरुषादि का धर्म है। वह पुरुष-प्रवर, पुरुषज्येष्ठ, पुरुषकल्पिक, पुरुष-प्रद्योतित एव पुरुषसमन्वागत पुरुषो को ही आकर्षित करके रहता है। जिस प्रकार शरीर मे उत्पन्न हुई गांठ (फोड़ा) शरीर मे ही पैदा होती है, शरीर में ही बढ़ती है, शरीर में समन्वागत और आकर्षित होकर शरीर में ही टिकी रहती है, वैसे ही ये ग्रामधर्म (इन्द्रियविषय) भी पुरुषादि पुरुष-प्रवर आदि (विशेषणयुक्त) साधकों में निहित रहते हैं।

और आगे भी देखिये, दगभाली ऋषि के कथन का भावार्थ इस प्रकार है—

"इसी प्रकार जैसे गांठ कंदमूल जैसी वनस्पति), वल्मीक (दीमक), स्तूप, वृक्ष एवं वनखण्ड पृथ्वी में पैदा होते हैं, पृथ्वी से ही रक्षण पाते हैं और पृथ्वी से वृद्धि पाते हैं। तथा उदक-पुष्करिणी (बावड़ी) कुंआ आदि (की उत्पत्ति, रक्षा और वृद्धि) भी पानी से सम्बन्धित है। तथा अग्नि अरणी में पैदा होती है, अरणी का सहारा लेकर रहती है, इसी प्रकार धर्म— इन्द्रियविषयरूप ग्रामधर्म भी पुरुषादि के आश्रित रहता है।"

इसका तात्पर्य यह है कि जैसे बीज मे विराट् वृक्ष समाया रहता है, तथैव शरीर में गांठ पृथ्वी में वनस्पति, कुंआ आदि में पानी तथा अरणी में अग्नि समाई रहती है, इसी प्रकार ग्रामधर्म अर्थात्–विषयवासना भी मानव के मन में छिपी रहती है।

कहा जाता है कि बालक निष्पाप होता है; यह ठीक है, क्योंकि उसके मन में उस समय किसी प्रकार की वासना या विकार नही होता। लेकिन वासना के बीज तो उसमे मौजूद रहते है। वे ही बीज समय पाकर विशाल रूप ले लेते है। वह वयस्क होता है, तब उसकी सोयी हुई कामवासना जागृत हो जाती है। अत साधक, चाहे पुरुषप्रवर या पुरुषज्येष्ठ आदि क्यों न हो, उसके मन मे कामवासना (ग्रामधर्म) छिपी रहती है। अनुकूल संयोग या कामवासना के प्रबल निमित्त (कामिनी) को पाकर जागृत हो सकती है।

जहाँ स्त्री और वासना का एकाधिपत्य : वहाँ पतन निश्चित

यही कारण है कि अर्हतर्षि दगभाली इसी दृष्टि मे कामवासना की प्रबल निमित्तभूत नारी से साधक को सावधान करते हुए कहते हैं—

धित्तेसि गाम-णगराणं, जेसि महिला पणायि।
ते यावि धिक्किया पुरिसा जे इत्थिणं वसं गता ॥१॥

अर्थात्—वे ग्राम और नगर धिक्कार के पात्र हैं; जहाँ नारी नायिका हैं। वे पुरुष भी धिक्कार के पात्र हैं जो नारी के वशीभूत हो जाते हैं।

वास्तव में, जो देश स्त्रियों का गुलाम है, जहाँ सुरा और सुन्दरी का बोलबाला है, वह देश निश्चय ही धिक्कार का पात्र है। उसका पतन निश्चित है। जहाँ स्त्री अपने रूप-यौवन को बेचकर पुरुषों को प्रसन्न करती है, उनको अपने इशारों पर नचाती है, वह देश भी पतन और विनाश की ओर चला जाता है। जहाँ के जनजीवन में वासना के दौर चलते हैं, जहाँ जन मानस पर गणिकाओं और नगरवधुओं का शासन है, जहाँ दुराचारिणी स्त्रियाँ हो समाज में नेत्री है, अग्रणी हैं वहाँ के निवासी या उस समाज के लोग शीघ्र ही पतन और दुःख के गर्त मे गिर जाते हैं। अज्ञान और मोह उन्हें घेर लेते है। वासनाओं के शिकार बनकर वे मानवीय जीवन मे गिरकर पाशवीय और दानवीय जीवन बिताने लगते हैं।

प्रसिद्ध लेखक 'गिब्बन' ने रोम का इतिहास लिखा है। उसने सारे ग्रन्थ का निचोड़ अन्त में दिया है—रोम का उत्थान सादगी से हुआ और पतन हुआ विलासिता एव कामवासना की वृद्धि से। रोम का इतिहास कहता है कि एक बार रोम में वासना इतनी अधिक बढ़ गई कि वहाँ का भक्त

कलाकार प्रभु की मूर्ति बनाता, तब भी उसके लिए छवि वहाँ की सर्वश्रेष्ठ नर्तकी या वेश्या की रहती थी।

अर्हतर्षि के कहने का तात्पर्य यही है कि जिस देश की जनता के दिल-दिमाग में स्त्री और वासना का एकाधिपत्य हो, उसका पतन निश्चित है।

एक स्त्री भी, अगर योग्य है, धर्म-मर्यादा में स्थित है, उसमें कोमलता के साथ शासन करने की कठोरता भी है, तो वह राज्य-व्यवस्था का दायित्व भी निभा सकती है, नेत्री भी बन सकती है, परन्तु अगर वह नेत्री बनने के बजाय अभिनेत्री बनकर जनता पर शासन करना चाहे तो वह गलत है। वह फैशन की परी तथा स्वच्छन्द बनकर जनता को सादगी और अनुशासन मे रहने की प्रेरणा देने लगे तो ऐसा देश सचमुच आगे चलकर वासना का गुलाम बन सकता है।

नारी के अनेक रूप : अच्छे भी, बुरे भी

इसीलिए अर्हतर्षि दगभाली नारी के अनेक रूपों को प्रस्तुत करते हुए कहते है—

गाहाकुला सुदिव्वा व, भावका मधुरोदका।
फुल्ला व पउमिणी रम्मा, वालक्कता व मालवी ॥२॥
हेमा गुहा ससीहा वा, माला वा वज्झकप्पिता।
सविसा गंधजुत्ती वा, अंतोवुट्ठा व वाहिणी ॥३॥
गरंता मदिरा वा वि, जोगकण्णा व सालिणी।
णारी लोगम्मि विण्णेया, जा होज्जा सगुणोदया ॥४॥

अर्थात्—'नारी सुदिव्यकुल की गाथा के सदृश है, वह सुवासित मधुर जल के समान है, विकसित रमणीय पद्मिनी के तुल्य है, सांपो से लिपटी मालती के सदृश भी है। वह स्वर्ण की गुफा है जिसमे सिंह बैठा हुआ है, वह फूलों की माला है, पर विषाक्त पुष्पों की बनी हुई है, दूसरों के सहार के लिए वह विष-मिश्रित गन्धपुटिका है, वह नदी की निर्मल जलधारा है, परन्तु उसके मध्य में भयकर प्राणहारक भँवर है, वह मस्त बना देने वाली है। वह शालीन योगकन्या के सदृश है, वह नारीलोक में विज्ञेय अपने गुणों के प्रकाश में यथार्थ नारी है।'

वस्तुतः नारी के अनेक रूप हैं। वह कोमलता और कठोरता का समन्वय है। अर्हतर्षि ने नारी के विविध रूपों का यहाँ बड़ो साहित्यिक भाषा में

चित्रण किया है। नारी का बाहरी सौन्दर्य अनुपम है, आकर्षक है, रमणीय है, परन्तु उसके अनुरूप आन्तरिक सौन्दर्य से ओत-प्रोत नारी विरली ही होती है, जिसे शास्त्रीय शब्दो मे सती, साध्वी, आर्या, पतिव्रता, धर्मपत्नी आदि कहा गया है। ऐसी नारी सुशिक्षित, सदाचारिणी एव सुसंस्कारिणी होती है। ऐसी नारी का जीवन उदात्त, प्रशस्त, शीलगुणविभूषित, दिव्यकुल की प्रशस्तिरूप, सुवासित, मधुरजल तुल्य एवं शालान मनोहर योगकन्या के सदृश है। साथ ही बाह्य-सौन्दर्य होते हुए भी आन्तरिक सौन्दर्य-विहीन नारी के विविध रूप बताये हैं। कोई नारी उस मालती के फूलों-सी होती है, जिसके चारों ओर सांप लिपटे हुए हैं। ऐसा नारी वासनापीड़ित है, असदाचारिणी है, जो कामवासनाओं के सांपों को लिपटाये हुए है। कोई नारी स्वर्णगुफा-सी है। उसका बाह्य आकर्षण बहुत अधिक है, वह सजी-धजी, अपटूडेट अभिनेत्री-सी रहती है, श्रृंगारप्रिय है, परन्तु उसमें कोमलता या दया नही है, क्रूरता का प्रतीक सिंह उसकी अन्तर्गुफा मे दहाड़ रहा है। कुछ नारियां पुष्पमाला के सदृश कोमलांगी और सुन्दर होती हैं, परन्तु वह पुष्पमाला ही जहरीली है, अर्थात् उनके दिल में छल-कपट, धूर्तता और माया भरी हुई है। कई नारियाँ गंध-पुटिका के समान होती है, उनकी सुगन्ध दूर-दूर तक आती है, कामलोलुप पुरुष-भ्रमर उन पर मंडराते है, किन्तु वे ऐसी जह-रीली गन्धपुटिका हैं, जो कुछ ही दिनों में अपने साथ कामी का भी सर्वनाश कर देती है। कुछ नारियाँ बाहर से निर्मल जलधारा-सी लगती है, परन्तु उनके हृदय में काम, क्रोध, लोभ और मद का गहरा भँवरजाल होता है, जिसमें कामपिपासु व्यक्ति फँसकर अपने प्राण गवा बैठते है। कई ऐसी नारियाँ भी होती है, जो स्वय मदिरा के समान मतवाली होती हैं, और अपने सम्पर्क में आने वाले को भी दुराचार का नशा चढ़ा देती है तथा वह नशा उनके लिए गरल बन जाता है।

जिस नारी के स्वभाव में स्वार्थ, माया, दम्भ, कठोरता और दुरा-चार है, वह देश और समाज दोनो को रसातल में पहुंचा देती है।

सुन्दर स्वभाव की नारी कुल की इज्जत बढ़ाती है, वहाँ कुत्सित स्वभाव की नारी कुल की सारी प्रतिष्ठा को चौपट कर देती है। चेटक और कोणिक के महाशिलाकंटक महायुद्ध की ज्वाला में चिनगारी का काम करने वाली कोणिक की रानी पद्मावती थी। उसी के स्वार्थी और ईर्ष्यालु हृदय ने दोनों कुलो को युद्ध की ज्वाला मे धकेल कर एक करोड़ अस्सी लाख व्यक्तियों का संहार करवा दिया।

स्वार्थिनी नारी पैसे को सम्मान देती है। अपने पारिवारिक जनो को

भी वह पैसे के गज से नापती है। क्या आपने नहीं सुना कि एक धनाढ्य बहन ने अपने घर आये गरीब भाई को अपने पीहर का नौकर बताकर उसका अपमान किया, परन्तु जब वह धन कमाकर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर उसके घर पहुंचा तो उसी बहन ने बहुत ही आवभगत की। यह नारी की स्वार्थी एवं संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक है।

जिस नारी का क्षुद्रस्वभाव होता है, वह पारिवारिकजनों की हत्या करने में भी नहीं हिचकिचाती। जो स्त्री व्यभिचारिणी है, कुलटा है, वह अपने पति और पुत्र को भी मार देती है। ऐसी कई घटनाएँ संसार में घटती रहती है। आये दिन अखबारों में भी पढ़ते हैं और इतिहास में भी। चूलनी रानी अपने प्रिय पुत्र ब्रह्मदत्त को लाक्षागृह में भेजकर आग लगाकर भस्म करने को उतारू हो गई थी। इस प्रकार की दुष्ट स्वभाव की नारी समाज, परिवार और देश की शान्ति को स्वाहा कर देती है।

सुन्दर स्वभाव की सरल एवं कोमलहृदय नारी घर को स्वर्ग बना देती है। वह देवी कहलाती है। वह अपने त्याग और तप से दुर्व्यसनी और दुराचारी पति को भी व्यसनमुक्त एवं सदाचारी बनाने में सक्षम होती है; जबकि दुष्टस्वभाव की दुरूप स्त्री कलह और प्रपंच करके घर को नरक बना डालती है। वह घर की आर्यता और पवित्रता को समाप्त कर देती है। 'सुभाषितरत्नभाण्डागार' में ऐसी कुनारी का लक्षण इस प्रकार दिया है —

> वाचाला कलहप्रिया कुटिलधी क्रोधान्विता निर्दया,
> मूर्खा मर्मविभाषिणी च कृपणा मायायुता लोभिनी।
> भर्तुक्रोधकरा कलंक-कलिता स्वात्मम्भरी सर्वदा,
> दूरूपा गुरु-देव-भक्ति-विकला भार्या भवेत् पापतः॥

अर्थात्—वाचाल, कलहकारिणी, कुटिलबुद्धि, क्रोध करने वाली, निर्दय, मूर्ख, मर्म की बात प्रगट करने वाली, कृपण, कपटी, लोभी, पति पर क्रोध करने वाली, कलंकित, सदैव अपना उदर भरने में तत्पर, कुरूप, देव और गुरु की भक्ति से शून्य, ऐसी कुभार्या पाप के उदय से मिलती है।

ऐसी स्त्री कभी-कभी परिवार में गम्भीर वैर के बीज या फूट के बीज बो देती है। धर्मरत आत्माओं की शान्ति में वह विघ्नभूत भी बनती है। जैसे—धर्मनिष्ठ प्रदेशी राजा को अपने तुच्छ विषयसुख में रुकावट पड़ने के कारण सूरिकान्ता रानी ने विष देकर मार डाला था। अतः ऐसी अनार्य नारी के हृदय में प्रतिहिंसा की भावना जागृत हो जाती है तो वह दुष्ट अश्व की भाँति बलवती होकर बदला लेने पर उतारू हो जाती है।

स्वभाव की दुर्जनता और जीवन की अपवित्रता केवल नारी में ही हो, पुरुष में न हो, ऐसी बात नहीं है। बल्कि पुरुष तो नारी से भी अधिक क्रूर, स्वार्थी, अधम और दुर्जन बन सकता है। किन्तु यहाँ प्रसंग नारी के स्वभाव तथा विविध प्रकार की मनोवृत्ति वाली नारियों के चरित्र के चित्रण का है।

अर्हतर्षि दगभाली इसी विषय के दूसरे पहलू पर चिन्तन प्रस्तुत कर रहे हैं—

इत्थिओ बलवं जत्थ, गामेसु णगरेसु वा।
अणस्सवस्सं हेसं त अप्पज्झेसु य मुण्डणं ॥७॥
धिरत्थेसि गाम-णगराणं पिलोगो ॥८॥

जिन ग्रामों या नगरों में स्त्रियाँ ही बलवती (प्रबल और हठीली) होती हैं, वहाँ पुरुषों की स्थिति विवश मजबूर घोड़े की हिनहिनाहट के समान है। यदि पुरुष कुछ विरोध भी करता है तो बिना मुहूर्त के मुण्डन की तरह उसकी बेइज्जती के सिवाय और कुछ नहीं होता।

जहाँ स्त्रियों का शासन है, वे ग्राम और नगर धिक्कार के पात्र हैं।

जिस ग्राम या नगर में स्त्रियाँ जो चाहती हैं, वही हठपूर्वक करती हैं, सज्जन पुरुषों की जहाँ कोई भी पेश नहीं चलती, स्त्रियाँ ही मनमानी करती हैं, अथवा जहाँ विलासी पुरुष स्त्रियों का गुलाम बना हुआ है, वह ग्राम या नगर पौरुषहीन, स्त्रैण और परमुखापेक्षी हो जाता है। वहाँ अनीति, अन्याय और अधर्म अपना अड्डा जमाने में देर नहीं करते। वे ग्राम्य जन या नागरिक असमर्थ (विवश) घोड़े के समान केवल शब्द करते हैं, उनकी वाणी में कोई तेज नहीं होता। वे स्त्रियों के गुलाम बनकर समाज में कोई सुधार नहीं करा सकते। इसी प्रकार जो नारियाँ पर्दे में लिपटी, गुड़िया-सी बनकर अपने शील की रक्षा करने में असमर्थ रहती हैं, या गुण्डों या दुष्टों के भय से घर से बाहर नहीं निकल सकतीं। ऐसी नारियों से परिवार, समाज और राष्ट्र कलंकित और पापाचरण-परायण हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि साधक को अच्छी और बुरी सभी प्रकार की नारियों से सतर्क और जागृत रहना चाहिए।

नारी : तप, त्याग एवं सेवा की मूर्ति

नारी का एक उज्ज्वल पक्ष भी है, जिसे अर्हतर्षि ने प्रस्तुत किया है। सरलता, वत्सलता और धीरता आदि गुण भारतीय नारी में कूट-कूट कर भरे हैं। जैसा कि धर्मकल्पद्रुम में कहा है—

'सर्वसहत्वं माधुर्यमार्जवं सुस्त्रियां गुणाः'

सन्नारियों में ये तीन गुण मुख्य रूप से होते हैं—सहिष्णुता, मधुरता और सरलता।

सन्नारी का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह पृथ्वी की तरह सर्वसहा है। पृथ्वी पर कोई गन्दगी करता है, कोई उसे खोदता है, कोई उस पर अणु बम के धड़ाके करता है, तो भी वह मौन होकर सब कुछ सहन करती है। पेड़-पौधे, फल-फूल सबको जीवनदायिनी धरती माता है। भारतीय नारी का भी यही स्वभाव है। कविरत्नजी के शब्दों में देखिए—

भारत की नारी एक दिन देवी कहलाती थी।
ससार में सब ठौर आदर मान पाती थी ॥ध्रुव॥
वनवास में श्रीराम के साथ में सीता, हाँ साथ में।
महलों के वैभव को घृणा करके ठुकराती थी ॥१॥
चित्तौड़ में यवनों से अपने सत्त की रक्षा को।
हँस-हँस के अग्निज्वाला में सबही जल जाती थी ॥२॥
पत्नी श्री मण्डनमिश्र की शास्त्रार्थ करने में।
आचार्य शंकर जैसों के छक्के छुड़वाती थी ॥३॥

यह था भारतीय नारी का गौरव। ऋषि दयभाली के शब्दों में वह स्वगुणो के प्रकाश में यथार्थ नारी थी।

भारतीय नारी की गुणगाथा का एक उदाहरण हम यहां प्रस्तुत करते हैं—

नासिक में देवी नाम की एक महिला थी। युवावस्था में ही उसके पति का देहान्त हो गया। ससुराल और पीहर में केवल एक भाई के सिवाय सब लोग उससे घृणा करने लगे। देवी के भाई ने उसे धैर्य बँधाया और नर्स की ट्रेनिंग के लिए उसे एक स्कूल में भर्ती करा दिया। नर्स की ट्रेनिंग पूर्ण कर छोटे से प्रसूतिगृह में उसने सर्विस कर ली। उस प्रसूतिगृह की संचालिका एक अंग्रेज महिला थी।

एक बार एक निम्न वर्ग की महिला उस प्रसूतिगृह में प्रविष्ट हुई। रात को उसके पेट में अचानक बहुत दर्द होने लगा। वह शौचालय तक जाने स्थिति में नहीं थी। वहाँ के नियमानुसार शौच क्रिया के लिए कमोड केवल अंग्रेज रुग्ण महिलाओं के लिए ही उपलब्ध हो सकता था। देवी ने उस गरीब ग्रामीण महिला के शौच के लिए कमोड रखवा दिया। इस पर वह अंग्रेज महिला (संचालिका) देवी पर बहुत नाराज हुई, तथा कई कड़वी बाते भी सुनाई। उत्तर में दयामयी देवी ने यही कहा—"हम सब एक ही

ईश्वर की सन्तान है। ऊँच-नीच के भेदभाव तो हमने अपनी सुविधा के लिए बना लिये हैं। सेवा में यह ऊँच-नीच का भाव नहीं होना चाहिए।"

देवी की इस बात पर अंग्रेज संचालिका ने उसे प्रसूतिगृह से सेवा-मुक्त कर दिया। देवी अब तक आत्मनिर्भर हो चुकी थी। सेवाभाव हृदय में बसा हुआ था। अतः अपने भाई के सहयोग से स्वयं ५-६ पलंग खरीद कर एक छोटा-सा प्रसूतिगृह खोल दिया। वह बहुत परिश्रम, लगन और सेवाभाव से कार्य करने लगी। धीरे-धीरे उसकी प्रसिद्धि चारों ओर फैलने लगी। उसकी उत्कृष्ट सेवाभावना देख लोग उसे 'देवीमाई' के नाम से सम्बोधित करने लगे। कुछ वर्षों बाद उस प्रसूतिगृह की गणना उत्कृष्ट अस्पतालों में होने लगी।

उसकी ख्याति सुनकर भू. पू. प्रसूतिगृह की अंग्रेज संचालिका स्वयं उस प्रसूतिगृह को देखने आई। उसे पता नहीं था कि 'देवीमाई' वही नर्स है, जिसे तिरस्कृत करके उसने अस्पताल से निकाल दिया था। देवीमाई ने उसे अपने यहाँ आया देखकर आश्चर्यसहित हार्दिक स्वागत किया और स्वयं उसे अपना सारा अस्पताल दिखाया। अपनी सारी आत्मकथा भी नम्रता-पूर्वक कह सुनाई। अंग्रेज महिला उसके सद्व्यवहार, सेवाभाव और रुग्ण महिलाओं के प्रति सहानुभूति से बहुत प्रभावित हुई और उससे कहा—"मैंने तुम्हें अपने अस्पताल से निकाल कर बहुत बड़ा अपराध किया है, इसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं।" फिर उसने एक सादे कागज पर लिख दिया – "मैं अपनी सारी सम्पत्ति देवीमाई की सेवाओं के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि के रूप में देवीमाई अस्पताल को समर्पित करती हूं।" और उस अंग्रेज महिला ने देवीमाई को अपने हृदय से लगा लिया।

यह है भारतीय नारी का सद्गुण सम्पन्न जीवन चित्र।

अब देखिए, असंस्कारी, अशिक्षित एवं दुष्ट स्वभाव की नारी का जीवनचित्र अर्हतर्षि दगभाली के शब्दों में—

> उच्छायणं कुलाणं तु, दव्वहीणाण लाघवो।
> पतिट्ठा सव्वदुक्खाणं, णिट्ठाणं अज्जियाण य ॥५॥
> गेहं वेराणं गंभीरं, विग्घो सद्धम्मचारिणं।
> दुट्ठासो अखलीणं व, लोके सूता किमंगणा ॥६॥

अर्थात्—असंस्कारी नारी कुलों का उच्छेदन करती है, उनकी प्रतिष्ठा समाप्त करती है। और दीन-दुर्बलों (द्रव्य हीनों) का अनादर करती है। यह

सब प्रकार के दुःखों की प्रतिष्ठारूप है, अर्थात् समस्त दुःखों की जड़ है। वह आर्यत्व को समाप्त कर देती है, वह गम्भीर वैरों (शत्रुओं) की घर है और सद्धर्मचारियों के लिए विघ्नरूप है।

यहाँ अर्हतर्षि ने नारी के दुष्टस्वभाव का चित्रण किया है।

इन शंकास्पद वस्तुओं से सावधान

अब दूसरे पहलू से अर्हतर्षि वस्तुस्वरूप का ज्ञान करने और प्रतिपल भयजनक एवं शंकास्पद वस्तुओं से विशेषतः कामोत्तेजना में निमित्त नारी जाति से सावधान रहने का प्रतिपादन करते हैं—

डाहो भयं हुतासातो, विसातो मरणं भयं।
छेदो भयं च सत्थातो, वालातो डसणं भयं ॥९॥
संकणीयं जं वत्थु, अप्पडिक्कारमेव य।
तं वत्थुं सुट्ठु जाणेज्जा, भुज्जं ते जेणु जोइता ॥१०॥
जत्थत्थि जे समारंभा, जेवा जे साणुबंधिणो।
ते वत्थु सुट्ठु जाणेज्जा, णेयं सव्वविणिच्छए ॥११॥
जंसि जहि सुहुप्पत्ती, जे वा जे साणुगामिणो।
विणासी अविणासी वा जाणेज्जा कालवेयवी ॥१२॥
सीसच्छेदे धुवो मच्चु, मूलच्छेदे हतो दुमो।
मूलं फलं च सव्वं च, जाणेज्जा सव्ववत्थुसु ॥१३॥

'अग्नि से जलने का भय है, विष से मरने का भय है, शस्त्र से छेदन का भय है और सर्प से डसे जाने का भय है।'

जो वस्तु शंकास्पद है, तथा जिसका प्रतीकार करना भी शक्य नहीं है, उस वस्तु के उपभोक्ता के लिए उचित है कि वह उस वस्तु को भलीभाँति जान ले।'

'जहाँ पर जो समारम्भ है, और जो सानुबन्ध है, उस वस्तु को ठीक-ठीक जाने। यही परिज्ञान सभी पदार्थों के निश्चय में सहायक हो सकता है।'

'जिसके लिए जहाँ पर सुखोत्पत्ति है, और जो जिसके अनुगामी है, कालविद् उसके विनाशी और अविनाशी स्वरूप का अवश्य ही परिज्ञान कर ले।'

'मस्तक के छेदन से निश्चय ही मृत्यु होती है, मूल के छेदन से भी वृक्ष का विनाश निश्चित है। इसी प्रकार विचारक सभी वस्तुओं के मूल और उसके फल का विचार करे।'

महाव्रती साधक को उत्तराध्ययनसूत्र में प्ररूपित उस शिक्षा की ओर प्रतिक्षण ध्यान देना चाहिए—

चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मन्नमाणो।

साधक प्रत्येक कदम शंकित होकर चले। वह इस संसार मे जो कुछ भी पाश हैं, स्नेहबन्धन या आसक्तिबन्धन हैं अथवा कामराग या दृष्टिराग हैं, उन्हें बन्धन मानकर चले।

ससार में पद-पद पर भयस्थल है, कही राग की आग जल रही है, तो कहीं द्वेष का दावानल जल रहा है, कही मोह का मारक शस्त्र चल रहा है, तो कहीं दर्प (मद) रूपी सर्प डसने को उतारू है, कही काम का विषवृक्ष मोठे किम्पाकफल लिए खड़ा है, तो कहीं अपने सयम के लिए शकास्पद वस्तु है, तो कहीं अपने ही गुरुजन या साथी साधक संयम मे बाधक बने हुए हैं, जिनका सहसा प्रतीकार करना भी शक्य नही है। अतः साधक प्रतिक्षण सावधान रहकर किसी भी वस्तु का उपयोग करे या किसी प्रवृत्ति मे प्रवृत्त हो।

साधक के जीवन में ऐसे भी प्रसग आते है जबकि उसे सन्देहास्पद वस्तु का उपयोग करना अनिवार्य हो जाता है, किन्तु वह ऐसे समय में अतीव सतर्क रहे। सर्वप्रथम उस वस्तु के स्वरूप का ज्ञान करे, साथ ही उसका परिणाम भी जाने। यदि ऐसा न किया गया तो वह वस्तु विघात भी कर सकती है। सुयोग्य वैद्य सोमल विष का स्वरूप और परिणाम जानता है, अतः वह उसे रोग के अनुरूप उचित मात्रा में शोधन करके देता है तो वह विष भी अमृत हो जाता है। इसी तरह साधक को स्वरूप के साथ परिणाम का ज्ञान है तो उसके लिए विष भी अमृत होगा, और यदि उसे परिणाम का ज्ञान नहीं है तो अमृत भी विष का काम करेगा।

उदाहरणतः—साधु के लिए स्त्री का स्पर्श उत्सग मार्ग (सामान्य रूप) में वर्जनीय है, किन्तु यदि साध्वी नदी पार करती हुई डूब रही है, साधु तैरना जानता है, सामने देख रहा है, तो उस समय उसका कर्त्तव्य है कि वह साध्वी के प्रति भगिनीभाव या मातृभाव रखकर उसे पकड़कर नदी से बाहर लाये, उसके प्राण बचाये।

इसी प्रकार साधक आरम्भ और अनुबन्ध का भी यथार्थ विवेक करे। जैसे—जहाँ जिस वस्तु में आरम्भ हो, वहाँ साधक के लिए वह वस्तु वर्जनीय है, किन्तु किसी औषधि या तदनुरूप पथ्य के लिए श्रावक के यहाँ मे अपने लिये आरम्भ की हुई वस्तु भी लेनी पड़ती है। परन्तु साधु वहाँ आवश्यक, अनावश्यक, तथा कब तक और कितनी मात्रा में ? इसका विवेक

अवश्य करे। तथा यह कार्य पापानुबन्धी पुण्य का है, पुण्यानुबन्धी पाप का है, पुण्यानुबन्धी पुण्य का है अथवा पापानुबन्धी पाप का है ? इसका भली-भाँति विवेक करे, सूक्ष्मदृष्टि से चिन्तन-मनन करे।

आरम्भ और अनुबन्ध का विचार करना आवश्यक

अगर साधक आरम्भ और अनुबन्ध का ठीक-ठीक परिज्ञान न करके यों ही अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति करेगा या करने की प्रेरणा देगा तो सवर के स्थान पर आस्रव उपार्जित कर लेगा, कर्म से मुक्त होने के बदले कर्मबन्ध अधिक कर लेगा।

इसी प्रकार साधक यह भी देखेगा कि यह सुख वस्तुजन्य सुख है, अथवा क्षणिक अल्पकालिक सुख है या वह आत्मिक सुख—स्वाधीन सुख है ? कई बार साधक देखादेखी क्षणिक और वस्तुनिष्ठ सुख के प्रवाह में पड़कर उस सुख का अनुगामी बन जाता है, तदनुसार अपनी श्रद्धा और प्ररूपणा बना लेता है। अन्ततः सुखशील बनकर वह अपने संयम से भ्रष्ट हो जाता है। यह स्थिति साधक के लिए बहुत भयानक है। अतः कालज्ञ साधक को उस सुख के विनाशी-अविनाशी आदि सभी पहलुओं पर दीर्घ दृष्टि से विचार करना चाहिए। सुख की मृग-मरीचिका में फँसकर उसके पीछे दुःख की परम्परा को मोल लेना साधक के लिए कथमपि हितावह नहीं है। अतः जिन समारम्भों अर्थात्—हिंसात्मक प्रयत्नों द्वारा सुख खोजा जाता है और जो उसके अनुगामी बनते हैं, वे विपथगामी हैं संयमविनाश के पथिक है।

यदि कोई सयम विघातक वस्तु साधक के ध्यान में आ जाय तो उसे उसके मूल और फल का विचार करना चाहिए, और शीघ्र ही जड़-मूल से उसे दूर कर देना चाहिए, देर करने से रोग की तरह वह भी बढ़ता चला जाएगा, फिर तो उसे रोकना भी कठिन हो जायेगा। अथवा यदि किसी वस्तु का विकास करना है तो उसके मूल का सिंचन करना होगा। इसी तरह यदि काम-क्रोधादि किसी विकार को नष्ट करना है तो उसके निमित्त पर नहीं, उसके मूल (उपादान) पर प्रहार करना होगा। तात्पर्य यह है कि नारी यदि काम विकार का निमित्त बनती है, तो उस निमित्त को दूर कर देने मात्र से कामविकार समाप्त नही हो जाएगा, अथवा गुप्तांग के छेदन करने, नेत्र के फोड़ने आदि से भी वह दूर नहीं होगा, काम विकार का मूल मन में है, उसे मन से त्याग और वैराग्य द्वारा हटाना होगा।

सर्व साधु धर्म का ध्यान : साधना का मूल

अब अर्हतर्षि इस अध्ययन का उपसहार करते हुए साधक को काम-

क्रोधादि विकारों से दूर रहने के लिए सर्वदा सर्वत्र सर्वमुनिधर्मों का ध्यान करने का निर्देश करते हैं।

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते ॥१४॥

जो स्थान शरीर मे मस्तक का है और वृक्ष के लिए मूल का है, वही स्थान समस्त मुनि धर्मो के लिए ध्यान का है। अतः साधक को शुभ ध्यान करना चाहिए।

साधक को सदैव, समस्त साधुधर्म की किसी भी मूल्य पर रक्षा करनी अनिवार्य है। इसीलिए उसे सर्वत्र प्रवृत्ति करते हुए साधुधर्म की सुरक्षा का सदैव ध्यान रखना उचित है। साधुधर्म की साधना मे तभी प्रखरता आ सकती है, जब साधक का चित्त अन्य सब परभावों—बाह्यपदार्थों या विभावों से हटकर एकमात्र साधुत्व की साधना में एकाग्र होगा। मन की बिखरी हुई किरणें जब किसी एक तत्त्व पर केन्द्रित हो जाती है, तब उसकी आत्मशक्ति में प्रखरता आ जाती है। शुभ अध्यवसाय या मन की शुभ मे एकाग्रता ही साधुत्व की साधना को मोक्ष की ओर अग्रसर करती है, क्योंकि श्रमणधर्म की साधना का मूल प्रशस्त ध्यान है।

बन्धुओ !

आत्म-साधना में साधक और बाधक तत्त्वों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके आप भी साधक तत्त्वो को अपनाएं, और बाधक तत्त्वों को ज्ञपरिज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका त्याग करे। यही श्रेयस्कर मार्ग है। □□

२६

मृत्यु का रहस्य ?

मृत्यु अवश्यम्भावी है

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आज मैं आपके समक्ष जीवन की सफलता का रहस्य समझाना चाहता हूँ। आप जानते है कि जीवन तो सभी को प्रिय लगता है, परन्तु मरना किसी को भी प्रिय नही लगता। मृत्यु का नाम सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मृत्यु से बचने के लिए मनुष्य सब कुछ कष्ट उठा लेगा, अपमान और तिरस्कार के कड़वे घूँट भी पी लेगा, मन्त्र, यंत्र, तंत्र सभी का प्रयोग कर लेगा, कठोर से कठोर साधना कर लेगा, परन्तु क्या मृत्यु से उसका बचाव हो सकता है ? कदापि नहीं।

एक अंग्रेज विचारक ने कहा है—

Nothing is sure than death.

मृत्यु से अधिक सुनिश्चित अन्य कोई भी वस्तु नहीं है।

इतना जान लेने पर भी मनुष्य मौत से घबराता है, यही आश्चर्य है। मनुष्य मौत के टालने के लिए बहुत कुछ प्रयत्न करता है। उसके लिए एक शायर का यह कथन याद आ रहा है—

> आगाह अपनी मौत का, कोई बशर नहीं।
> सामान सौ बरस का, पल की खबर नहीं॥

मृत्यु को टालने का प्रयत्न क्यों ?

संसार-सागर में जन्म और मृत्यु ज्वार-भाटे की तरह बारी-बारी से आते हैं, इसे बदलना मनुष्य के लिए असम्भव है। मृत्यु अवश्यम्भावी होने पर भी जन्म के समय जो हंसी-खुशी या मिठास होती है, मृत्यु के समय वह उदासी, शोक एवं कड़वाहट में परिणत हो जाती है। जन्म का जितने हर्ष

के साथ स्वागत किया जाता है; मृत्यु का उतने ही दुःख के साथ तिरस्कार किया जाता है। मनुष्य मौत से बचने के हजार-हजार उपाय सोचता है, पर एक भी उपाय नहीं चलता।

एक सेठ के पास कोई ज्योतिषी आया। सेठ ने पूछा—पंडितजी! समय कैसा आने वाला है? पंडित ने कहा सेठजी! बहुत भारी वर्षा होगी, बड़े-बड़े मकान ढह जायेंगे, बाढ़े आयेंगी, फसल चौपट हो जायेगी फिर भुखमरी ब गी, वर्षा के कारण बीमारियाँ फैलेंगी, लोग धड़ाधड़ मरेंगे।

सेठ ने कहा—ठीक है! मैं अभी से इनका इंतजाम कर लेता हूं। मकान सब सीमेंट के पक्के करवा लेता हूं, गोदाम में अनाज भरवाता हूं, जीवन रक्षक दवाओं का स्टॉक कर लेता हूँ। फिर तो सब ठीक है?

पंडित हां, फिर सर्दी भी बहुत पड़ेगी।

सेठ—कोई परवाह नहीं! रूई के गद्दे और रजाइयाँ भरवाकर रख देता हूँ। सर्दी से बचने के लिए ईंधन का भी पूरा इन्तजाम कर लेता हू, फिर तो सब ठीक है न?

पंडित—हाँ, और तो सब ठीक है, मगर गर्मी में गर्मी भी खूब पड़ेगी, आग बरसेगी, लोग पानी को बूंद-बूंद को तरसेंगे?

सेठ—मैं अभी से अपने अंडरग्राउण्ड टैंक बनवाकर पानी से भरवा लेता हूं। ठंडक के लिए गुलाबजल, खसखस आदि का भी इतजाम कर लेता हूं फिर तो सब ठीक है?

पंडित ने कुछ देर पचांग देखकर कहा—हाँ और तो सब कुछ ठीक है मगर बाद में बड़ा भारी भूकंप आयेगा? बड़ी-बड़ी इमारतें ढह जायेंगी, जमीनें फट जायेंगी और सब कुछ भूमि के अन्दर धंस जायेगा? मनुष्य तेजी से जमीन के अन्दर समा जायेंगे।

सेठ घबराया, बोला—पण्डितजी! अब इसका क्या इंतजाम हो? भूकम्प आयेगा तो सब कुछ जमींदोज हो जायेगा। फिर तो यह सब इतजाम बेकार है।

पण्डितजी मुस्कराये, बोले—सेठ! चाहे जितने उपाय कर लो, मौत जब आयेगी तो कोई उपाय नहीं चलेगा।

जीवन का एक-एक क्षण नपा-तुला होता है, उसे घटाने-बढ़ाने की सामर्थ्य सामान्य व्यक्ति तो क्या, तीर्थंकर जैसे अनन्त शक्तिमान् पुरुष में भी नहीं है। भगवान् महावीर का नामराशि पर भस्मकग्रह आने वाला है, इस विचार से इन्द्र ने भगवान् की सेवा में पहुंच कर उनसे प्रार्थना की—

भगवन्! आपकी नाम राशि पर भस्मक ग्रह आने से अनेक विपत्तियाँ

आएँगी। यदि आप आयुष्य के क्षणों को थोड़े-से बढ़ा लें तो यह टल सकता है।

भगवन् ने कहा—इन्द्र ! न तो ऐसा हुआ है, न ही ऐसा होता है, और न ही भविष्य में ऐसा होगा। कोई भी व्यक्ति आयुष्य के क्षण को—मृत्यु को टाल नहीं सकता। कोई भी शक्ति मृत्यु के समय का रोक नहीं सकती। वह अवश्य ही आएगी।

मृत्यु मृत्यु में अन्तर

भगवान् महावीर मृत्यु से कदापि नहीं डरे। वे क्रूर चण्डकौशिक की बांबी पर गये, तब भी मृत्यु की परवाह नहीं की, अनार्य देश में गये, तब भी निर्भय होकर। फिर सामान्य मानव मृत्यु से क्यों डरता है ? जबकि मृत्यु तो सबको आने वाली है। शरीरधारी सभी प्राणियों को एक न एक दिन मरना तो है ही। परन्तु मृत्यु से डरने वाला कायर पुरुष रोते-बिलखते मरता है, और निर्भय एवं संयमशील व्यक्ति हंसते-हंसते मरता है। मरते दोनों ही हैं, परन्तु दोनों की मृत्यु में महान् अन्तर है। एक उर्दू शायर ने कहा है—

> हंस के दुनियाँ में मरा कोई, कोई रोके मरा।
> जिंदगी पाई मगर उसने, जो कुछ होके मरा॥

दोनों प्रकार के मरण का अन्तर बताते हुए प्रस्तुत तेईसवें अध्ययन में रामपुत्र अर्हतर्षि कहते हैं—

> **'दुवे मरणा अस्सि लोए एवमाहिज्जंति, तं जहा सुहमतं चेव दुहमतं चेव। रामपुत्तेण अरहता इसिणा बुइतं।'**

इस लोक में दो प्रकार की मृत्यु बताई गई है; यथा—सुखरूप मरण और दुखरूप मरण।

रामपुत्र अर्हतर्षि इस प्रकार बोले।

संसार में दो प्रकार के मानव होते हैं। एक तो वे हैं, जो मौत को देखकर रोते-चिल्लाते हुए मरते हैं, दूसरे वे हैं जो मौत को देखते ही वीरता-पूर्वक उसका स्वागत करते हैं और अभय की प्रतिमा बनकर हसते-हंसते डट जाते हैं। निश्चित है कि एक की मृत्यु दुःखरूप है जबकि दूसरे की सुखरूप है। जिसने अपने जीवन में शान्तिमय कार्य किया होगा, जिसने दूसरों के पथ में सुख-शान्ति के फूल बिछाये होंगे, उसकी मृत्यु भी सुखरूप होगी, और जिसने दूसरों के जीवन में आग लगाई होगी, समाज और राष्ट्र में अशान्ति फैलाई होगी, स्वयं भी जीवनभर उसी दुःख और अशान्ति की आग में जलता रहा होगा, उसकी मृत्यु भी दुःखरूप होगी। वह कदापि सुखरूप नहीं हो सकती।

आगम की भाषा मे इन्हें क्रमशः 'पण्डितमरण' और 'बालमरण' कहा गया है। शील, सत्य, सयम तथा धर्म का पालन करते हुए जो ज्ञानपूर्वक हंसते-हंसते स्वेच्छा से मृत्यु का स्वीकार करता है, उसके मरण को 'पण्डित-मरण' कहते हैं, जबकि शील, सत्य, सयम और धर्म से रहित जीवन व्यतीत करते हुए जो अज्ञानपूर्वक रोते-बिलखते अनिच्छा से मरता है, उसके मरण को 'बालमरण' कहते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र (अ. ५ गा. २) में इसी प्रकार द्विविध मरण का विवरण दिया गया है—

सतिमे य दुवे ठाणा, अक्खाया मरणंतिया।
अकाममरणं चेव, सकाममरणं तहा ॥

'ये दो मरणान्तिक स्थान कहे हैं; यथा—अकाममरण और सकाममरण।'

बालमरण : दुःखरूपमरण : स्वरूप और कारण

जोवन में गाफिल होकर बिना तैयारी के, बिना धर्मपालन के दुःखित-पोड़ित होते हुए जो मरता है, उसकी मृत्यु बालमरण है। बालमरण वाले का जीवन अन्तिम समय में मोहमाया में उलझा हुआ और दयनीय बन जाता है। जिसने जिंदगी में कोई सत्कार्य नहीं किया, केवल पापकार्यों में ही रचा-पचा रहा, महारम्भ और महापरिग्रह मे ही डूबा रहा, निश्चित ही उसकी मृत्यु भयावह और दुःखद होती है। उसकी मृत्यु दुनिया के लिए अभिशापरूप होती है। वह जब अपनी जीवनलीला समाप्त करता है तो जनता के मुँह से सहसा ये उद्गार निकलते हैं—'अच्छा हुआ, पापी मर गया, पाप कटा।'

साथ ही उस व्यक्ति की मृत्यु भी अत्यन्त भयावह और दुःखद होती है, जो जीवनभर भोग और प्रमाद में, धन जोड़ने और परिवार पर मोह-ममता करने में ही पड़ा रहता है। जब मौत अकस्मात् उसके सामने आती है, तो वह हक्का-बक्का-सा रह जाता है। उस समय वह सोच ही नहीं पाता कि अब क्या करूँ? ऐसे व्यक्ति का अन्तिम क्षणों में पश्चाताप ही रहता है। यही दुःखरूप मरण का चित्र है।

बालमरण के तीन मुख्य कारण

अतः 'बालमरण' अर्थात् पश्चात्तापपूर्वक मृत्यु का सबसे पहला कारण है—मृत्यु की पूर्व तैयारी न होना। मृत्यु एक प्रकार से परीक्षा काल है। विद्यार्थी वर्षभर पढ़ता है, और वर्ष के अन्त में उसकी परीक्षा होती है। जो विद्यार्थी अध्ययनकाल में मन लगाकर अध्ययन नहीं करता, मटरगश्ती करता रहता है, वह परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकता। इसी प्रकार मृत्यु भी मनुष्य के जीवन का परीक्षाकाल है। उसे अपने आयुष्यभर समय मिला

है, इस परीक्षा की पूर्व तैयारी करने के लिए। परन्तु जो व्यक्ति अपने जीवनकाल में कोई सत्कार्य, धर्माचरण या अध्यात्म साधना नहीं करता, यही सोचता है कि अभी क्या जल्दी है ? अभी तो जवानी है अथवा बुढ़ापा है तो क्या हुआ, अभी तो स्वस्थ एव सशक्त हूँ। जब मृत्यु सिर पर आयेगी, तब तैयारी कर लूँगा, प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन कर लूंगा। परन्तु यह बात प्राय: असम्भव-सी है। अध्ययन में परिश्रम न करने वाले लापरवाह विद्यार्थी की तरह ऐसा व्यक्ति मृत्यु की परीक्षा में असफल होता है। मृत्यु वेला में उसके स्मृतिपट पर पूर्वजीवन के वे ही बुरे दृश्य, विकृत संस्कार और विकारों के चित्र उभर कर आएँगे। ऐसे व्यक्ति की मृत्यु बिगड जाती है।

मृत्यु तो जीवनभर की कमाई का निचोड़ है, तलपट है। व्यापारी वर्ष के अन्त में अपने हानि-लाभ का आँकड़ा निकालता है। यदि सालभर में उसने मेहनत करके अच्छी कमाई की होगी तो तलपट में लाभ का हिस्सा अधिक होगा। वह वर्ष सफल माना जाएगा। इसी प्रकार जीवन के अन्तिम समय में व्यक्ति अपने जीवनभर का पुण्य-पाप का लेखा-जोखा करे और उस समय तल-पट में लाभ के बदले हानि का हिस्सा ही ज्यादा हो तो समझा जाएगा, जीवन असफल रहा।

अन्तमति सो गति

जैन सिद्धान्त का यह माना हुआ तथ्य है कि अन्तिम समय में जिस प्रकार की लेश्या या मन के अध्यवसाय होते है, तदनुसार उसकी गति, मति होती है। उत्तराध्ययन सूत्र (अ. ३४/६० गा.) इस बात का साक्षी है—

> अंतोमुहुत्तंमिगए, अंतो मुहुत्तमपि सेसए चेव।
> लेसाहिं परिणयाहिं जीवा गच्छति परलोय॥

जिस लेश्या में जीव अन्तिम समय में मृत्यु प्राप्त करता है, अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर परलोक में भी वह उसी लेश्या में परिणत होकर उसी गति (परलोक) में जाकर उत्पन्न होता है।

भगवतीसूत्र से भी कहा है—"जल्लेसे मरइ, तल्लेसे उववज्जइ।" जिस लेश्या में जीव मरता है, उसी लेश्या वाले स्थान में उत्पन्न होता है। गीता के अमरगायक कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

> यं यं वापि स्मरन् भावं, त्यजन्त्यन्ते कलेवरम्।
> तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भाव-भावितः॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

'जैसे मनुष्य पुराने जीर्ण वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्र पहनता है, वैसे ही यह देहधारी पुराने जीर्ण शरीर को त्याग कर अन्य नया शरीर धारण करता है ।'

मृत्युकलामर्मज्ञ यह भी जानता है कि विशुद्ध आत्मा का न तो जन्म होता है, न मरण, किन्तु शरीरधारी जीव के शरीर-परिवर्तन की अपेक्षा से शरीर का जन्म और मरण कहा जाता है । वह यह भी जानता है कि मृत्यु तो एक प्रकार की विश्रान्ति है, जो जीवनभर की प्रवृत्तियों की थकान के बाद आवश्यक है । वह एक प्रकार की महानिद्रा है । जैसे जीवन के बाद मृत्यु है, उसी प्रकार मृत्यु के बाद जीवन है । इसलिए वह मृत्यु से घबराता नहीं है, वह हंसी-खुशी से समाधिपूर्वक मृत्यु को स्वीकार करता है । उसके हृदय में कवि की यह वाणी गूंजती रहती है—

मरने से जग डरत है, मो मन बड़ा आनन्द ।
कब मरिहों, कब भेटिहो, पूरण परमानन्द ॥

वास्तव में, जो अकाम (बाल) मरण से मरता है, उसे बार-बार जन्म-मरण करना पड़ता है, उसका दुःख अवर्णनीय है । किन्तु जो सकाम (पण्डित —समाधि) मरण पूर्वक मरता है, उसका जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा होना सम्भव है, सुगति तो निश्चित ही है । कहा भी है—

'सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ मेहावी मारं तरइ'
सत्य की आज्ञा में उद्यत मेधावी मृत्यु को तर जाता है ।

सुकरात निर्भीकतापूर्वक सत्य कहने एवं युवकों को सत्य समझाने में जरा भी नहीं हिचकिचाता था । सुकरात की सत्यवादिता से रुष्ट होकर एथेंस की राजसभा ने उस पर दो दोषारोपण किये और मृत्युदण्ड की सजा सुनाई । जब न्यायाधीश ने सुकरात के बयान लिए तो उसने कहा—'मैंने ईश्वरीय-आज्ञा से अपने कर्त्तव्य का पालन किया है । मुझे आप सत्य कहना छोड़ने को कहें तो मैं इसके लिए तैयार नहीं हूं । मृत्यु क्या है ? यह मैं नहीं जानता । वह अच्छी चीज भी हो सकती है । मैं उससे डरने वाला नहीं ।' इस पर एथेंस की राजसभा ने उसे विषपान की सजा दी; किन्तु वह मृत्यु से घबराया नहीं, प्रसन्नता से विष का पान कर लिया । वस्तुतः जिसका जीवन

सफल है, उसकी मृत्यु भी सफल है; जिसका जीवन असफल है, उसकी मृत्यु भी असफल है।

मृत्युकलाविद् यह भी जानते हैं कि मृत्यु दोनों प्रकार के व्यक्तियों को आने वाली है। जो जीवन में पापकर्म करता है, असदाचारी है, उसकी भी मृत्यु होने वाली है, और सत्य, शील, अहिंसा आदि धर्मों की आराधना करने वाले की भी। जैसा कि 'आतुर-प्रत्याख्यान' नामक शास्त्र में कहा है—

धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्स मरियव्वं।
दुण्हं पि हु मरियव्वे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं॥
सीलेण वि मरियव्वं, निस्सीलेण वि अवस्स मरियव्वं।
दुण्हं पि हु मरियव्वे, वरं खु सीलतणे मरिउ॥

'धीर पुरुष को भी मरना है और कायर पुरुष को भी अवश्य मरना है, जब दोनों को एक न एक दिन अवश्य मरना है, तब धीरतापूर्वक मरना ही श्रेष्ठ है। शील के आराधक को भी मरना है और शीलरहित जीवन वाले को भी मरना है। जब दोनों को अवश्य मरना है, तब शील की आराधना करते हुए मरना ही श्रेष्ठ है।'

उर्दू का एक शायर भी इसी का समर्थन करता है—

मरने मे मफर नहीं है, जब अय अकबर।
बेहतर तो यही है, खुशी से मरना सीख लो॥

यही कारण है कि मृत्युकलामर्मज्ञ अपने जीवन में हिंसा झूठ, फरेब, ठगी, धोखाधड़ी, चोरी, डकैती, व्यभिचार, मद्य मांस सेवन आदि पापाचरणों से सदा दूर रहता है, क्योंकि वह मृत्यु को हर समय अपने सामने देखता है। वह मृत्यु को प्रतिक्षण याद रखता है। सुखरूप मृत्यु के लिए यह भी एक आसान उपाय है। सन्त एकनाथ के जीवन की एक घटना से इस तथ्य को समझा दूँ।

सन्त एकनाथ से एक बार किसी ने विनयपूर्वक पूछा—"महात्मन्! आपका जीवन इतना शान्त, निश्चिन्त और निष्पाप है, जबकि हमारा जीवन काम-क्रोधादि से ग्रस्त, अशान्त चिन्तायुक्त एवं पापों से भरा है, क्या आप कोई उपाय बतायेंगे, जिससे हम भी आपके समान ही अपना जीवन बना सकें।"

सन्त एकनाथ -"उपाय तो बाद में बताऊँगा। पहले तुम यह समझ लो

कि तुम्हारी मृत्यु बहुत ही निकट है। आज से आठवें दिन तुम्हें मौत को भेंटने के लिए तैयार रहना है।"

यह सुनते ही आगन्तुक बहुत घबरा गया। वह एकनाथजी को प्रणाम करके शीघ्र ही अपने घर पहुंचा। उसके सामने अब निरन्तर मौत नाचती हुई दिखाई दे रही थी। फिर वह अपने पड़ौसियों से मिला और अपने समस्त अपराधों के लिए क्षमा-याचना की। फिर गाँव भर में जिन-जिनसे झगड़ा हुआ था, उनसे भी माफी माँगी। फिर अपनी पत्नी एवं बच्चों से भी अपने कटु व्यवहार के लिए क्षमा माँगी। अपना कारोबार और पसारा समेटने लगा। मृत्यु की चिन्ता से व्याकुल होकर वह बीमार पड़ गया। पलंग पर लेटा था। आठवें दिन सन्त एकनाथ उसके घर पहुंचे। उन्होंने पूछा--"क्यों भाई ! क्या हाल है ? तेरे ये आठ दिन कैसे बीते ? इन दिनों में तुमने कितने पाप किये, क्या-क्या खुराफातें की ?"

"महाराज ! क्या बताऊँ ? मेरी आँखों के सामने तो मौत नाचती रही। पाप या खुराफात का विचार ही कैसे आता ? बल्कि मैंने याद करके सभी से अपने अपराधों के लिए क्षमा माँग ली।"

एकनाथजी—"अब तो तुम्हें निश्चित, शान्त और निष्पाप जीवन का रहस्य समझ में आ गया न ? मृत्यु को प्रतिक्षण निरन्तर याद रखना ही निष्पाप, शान्त एवं निश्चित जीवन जीने का रहस्य है। अतः जब तक जीओ मृत्यु को प्रतिक्षण सामने रखते हुए सबसे मधुर व्यवहार करो, धर्माचरण करो, सेवा करो और परमात्मा को स्मरण करो।"

मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाले मृत्युंजयी वीर मृत्यु के उपस्थित होने पर उत्कृष्ट समाधिमरणपूर्वक अपना शरीर छोड़कर सदा के लिए अजर-अमर हो जाते हैं। कहना चाहिए—मौत ने उन्हें नहीं मारा, उन्होने मौत को ही मार दिया है।

अन्तकृद्दशांग सूत्र में आपने गजसुकुमार मुनि के आदर्श मरण की कहानी सुनी होगी। सोमल ब्राह्मण द्वारा दिए गए मरणान्त उपसर्ग को उन्होंने समभावपूर्वक सहन किया। उन्होंने न तो अपने परिवार की चिन्ता की, न ही देहपर कोई राग किया, न ही सोमल ब्राह्मण पर द्वेष किया। उन्होने तो एकमात्र अपनी आत्मा में लीन होकर अपने शरीर को हँसते-हँसते प्रसन्न भाव से छोड़ा और परमात्मपद प्राप्त किया। वे सदा के लिए जन्म-मरण से मुक्त हो गए।

मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए

यही आदर्श अर्हतर्षि रामपुत्र के समक्ष चमक रहा था। वे रागद्वेषादि

की गांठ को तोड़ने तथा अप्रशस्त लेश्या को छोड़कर सुखरूप मृत्यु प्राप्त करने हेतु रत्नत्रय की साधना अंगीकार करते है। इसके पश्चात् मृत्युंजयी बनने के लिए वे सूचित करते है—

"णाणेणं जाणिय दंसणेणं पासित्ता संजमेणं संजामिय तवेण अट्ठविह-कम्मरयमलं विधुणित विसोहिय अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसारकांतारं वीतिवतित्ता सिवमयलमरुयमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तिय सिद्धिगति-णामधिज्ज ठाणं संपत्ते, अणागतद्धं सासतं कालं चिट्ठिस्सामित्ति।"

अर्थात्—'ज्ञान से जानकर, दर्शन से देखकर और संयम से संयमित होकर तथा तप से अष्टविध कर्मरज रूप मल को नष्ट कर, आत्मा को विशुद्ध बनाऊँगा। जिससे अनादि-अनन्त दीर्घ पथ वाले चातुर्गतिक जन्म-मरणरूप संसार को पार कर शिव, अचल, अरुज (रोगरहित), अक्षय, अव्याबाध, पुनरागमन-निरपेक्ष, सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त करूँगा और भविष्य में शाश्वत काल तक रहूँगा।

यह है रामपुत्र-अर्हतर्षि का भव्य मनोरथ! उन्होने इसी मोक्ष मार्ग का अनुसरण करके खुशी से देह का त्याग किया और भव-परम्परा की शृंखला को तोड़कर शाश्वत शान्ति के पथिक बन गए।

वास्तव में जो मृत्यु का रहस्य जान लेता है, वह देह, गेह, शिष्य, सम्प्रदाय, पुस्तक, वस्त्र-पात्र आदि उपकरण एव अपने विचरण क्षेत्र, अनुयायी भक्त आदि किसी पर भी ममत्व न रखकर राग-द्वेषरहित होकर मृत्यु पर विजय पा लेता है।

आप भी इस मृत्यु-कला को जानिए और इसका अभ्यास कीजिए। □

२७

अनित्य एवं दुःखमय संसार में मत फँसो !

मनुष्य संसार में क्यों आया है ?

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

मनुष्य जब से इस संसार में आता है, तब से उसके समक्ष कई प्रश्न-चिन्ह लग जाते हैं । वह कुछ सयाना होकर सोचता है—यह दिखाई देने वाला संसार क्या है ? ये प्राणी कौन हैं जो मेरी परवरिश करते हैं, मुझे पालते-पोसते हैं ? दूसरे प्राणियों के साथ मेरा क्या रिश्ता-नाता है ? इनका तथा ससार के दूसरे पदार्थों का स्वरूप क्या है ? क्या यह संसार सदा से ऐसा ही है, ऐसा ही रहेगा, या इसमें परिवर्तन होता रहता है ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर अधिकांश लोग उलटा-सीधा, तर्क-युक्तिहीन पाते हैं । वे जिस धर्मसम्प्रदाय, मत या जाति, राष्ट्र, प्रान्त आदि के सम्पर्क में आते हैं, जैसा संस्कार या वातावरण पाते हैं, तदनुसार अपना मत या मान्यता बना लेते हैं । बहुत-से लोगों को इस संसार के सम्बन्ध मे सही अता-पता नही मिलता । ऐसे लोग संसार के वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ होकर मोह-ममत्ववश उन्ही-उन्हीं गतियों और योनियों में पुनः पुनः परिभ्रमण करते रहते है । जो बोधिप्राप्त विज्ञ लोग होते है, वे संसार के सही स्वरूप को समझ लेते है, वे इसमें रहते हुए भी इससे तथा इसके विविध प्रपंच से अलिप्त-अनासक्त रहकर इसमे जन्म-मरणरूप आवागमन को कम कर देते हैं या धीरे-धीरे इसमें सर्वथा मुक्त, पृथक् हो जाते हैं ।

अर्हतर्षि को संसार के वास्तविक स्वरूप का बोध

हरिगिरि नामक अर्हतर्षि को ऋषि जीवन स्वीकार करने से पूर्व और पश्चात् संसार के वास्तविक स्वरूप का जो बोध प्राप्त हुआ, उसे इस चौबीसवे अध्ययन में वे प्रस्तुत कर रहे हैं—

सव्वमिणं पुरा भव्वं, इदाणिं पुण अभव्वं;
हरिगिरिणा अरहता इसिणा बुइत ।

'पहले ऐसा मालूम होता था कि यह दृश्यमान संसार अतीत में हमारी भवितव्यता (पूर्वकृत कर्म) के अनुरूप था, किन्तु वर्तमान भवितव्यतासापेक्ष नहीं है, अर्थात्—हमने अतीत में जो कुछ किया है, वर्तमान उसके अनुरूप है। किन्तु भविष्य हमारे वर्तमान पुरुषार्थ पर अवलम्बित है, हम जैसा कर्म करेंगे, तदनुसार हमारा संसार बनेगा। इस प्रकार अर्हतर्षि हरिगिरि ने कहा।'

इसका तात्पर्य यह है कि बहुत-से दार्शनिक इस ससार को स्वप्न मानते हैं, बहुत-से इसका कोई अस्तित्व नही मानते हैं, कई दार्शनिक इसे माया या प्रकृतिजन्य मानते हैं। परन्तु युक्ति से ये सब मान्यताएँ खण्डित हो जाती हैं। हरिगिरि ऋषि के कहने का आशय यह है कि मैं पहले यह समझता था कि यह ससार शाश्वत है, इस (जन्म) से पूर्व भी ससार था, अब भी है, किन्तु बाद में मुझे बोध हुआ कि प्रवाहरूप से यह ससार अनादि होते हुए भी व्यक्ति रूप से क्षणस्थायी है, आशाश्वत है, परिवर्तनशील है। यही संसार का वास्तविक स्वरूप है। ससार का किसी एक शक्ति (ईश्वर आदि) ने निर्माण नही किया, परन्तु जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार इसमें आता-जाता है। जड़-पदार्थों का सयोग जीव को अपने-अपने कर्मों के अनुरूप मिलता है।

संसार के इसी स्वरूप का विश्लेषण करते हुए ऋषि आगे कहते हैं—

चयति खलु भो य णेरइया णेरतियत्ता, तिरिक्खा तिरिक्खत्ता, मणुस्सा मणुस्सत्ता, देवा देवत्ता, अणुपरियट्टंति जीवा चाउरंतं संसारकन्तारं कम्माणुगामिणो ।

तधा वि मे जीवे इधलोके सुहुप्पायए, परलोके दुहुप्पायए (?), अणिए अधुवे अणितिए अणिच्चे असासते सज्जति रज्जति गिज्झते मुज्झति, अज्झोववज्जति विणिघातमावज्जति ।

अर्थात्—(मैंने देखा कि इस चतुर्गतिकरूप संसार में) नारक नारक पर्याय को, तिर्यञ्च तिर्यञ्चयोनि को, मनुष्य मनुष्यपर्याय को, और देव देव पर्याय को छोड़ते हैं। (अपने-अपने) कर्मानुसार जीव इस चातुरन्त (चार गति वाले) संसाररूपी अरण्य मे परिभ्रमण करते रहते हैं।

तथापि (मैंने जाना कि) मेरा जीव इहलौकिक (सांसारिक) सुखों का उत्पादक (होने से), परलोक में दुःखोत्पादन करता है। वह (इन सासारिक क्षणिक सुखो को पाने के लिए) इस अनियत, अध्रुव अनित्य और अशाश्वत संसार में आसक्त, अनुरक्त, गृद्ध एव मोहित होता है, विषयासक्त होता है और व्याघात को प्राप्त होता है।

सचमुच संसार ऐसा ही है। कई लोगों का कहना है कि जो नारक है, वह नारक ही रहता है, तिर्यञ्च तिर्यञ्च ही, तथा मनुष्य और देव सदैव मनुष्य और देव ही रहते हैं, यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। जीव अपने अपने कर्मानुसार विविध गतियों और योनियों में परिभ्रमण करते हैं। जो आज नारक हैं, वे कभी नारकपर्याय को छोड़कर पशुयोनि पाते है, जो तिर्यञ्च हैं, वे कभी तिर्यञ्च-पर्याय को छोड़कर मनुष्य और कभी देव बनते हैं, अथवा तिर्यञ्च पर्याय में पृथक्-पृथक् योनियों में जन्म-मरण करते रहते हैं। जो मनुष्य हैं, वे मनुष्यपर्याय को छोड़कर कभी नारक, कभी तिर्यञ्च और कभी देव तथा पुनः मनुष्य बनते हैं। देव भी देवपर्याय में स्थायी नही रहते। जब उनका लम्बा आयुष्य समाप्त हो जाता है, तब वे वहाँ से च्यव कर अपने कर्मानुसार दूसरी गति या योनि में जाते हैं।

अज्ञानवश जीव जहाँ भी जाता है, वहाँ इस संसार को नित्य एव शाश्वत समझकर उसी के वैषयिक सुखों में फँस जाता है, देवलोक में या मनुष्यलोक में वह जरा समझदार होता है, परन्तु वहाँ भी देवत्व या मनुष्यत्व को स्थायी पर्याय मानकर वैषयिक सुखों मे लुब्ध हो जाता है, इसी कारण परलोक में जाता है, तब पूर्व कर्मानुसार दुःख पाता है।

मतलब यह है कि चार गतियों में बार-बार जन्म-मरण के रूप में परिभ्रमण करना ही संसार है। यह संसार का स्थूलस्वरूप है। जीव के अपने-अपने कर्मानुसार उसे विविध गतियाँ और योनियाँ मिलती है। इस दृष्टि से संसार शाश्वत तथा नित्य नही, किन्तु अनित्य और अशाश्वत है। मगर यह भुलक्कड़ जीव इस ससार में जहाँ भी जाता है, वहाँ आत्मविकास, आत्म-साधना या आत्मगुणों की प्राप्ति अथवा आत्मशुद्धि करने का जो वास्तविक उद्देश्य है, उसे भूल जाता है, और शरीर एवं शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों में आसक्त हो जाता है, वैषयिक सुख भोगों में लिप्त हो जाता है, वह वर्तमान के क्षणिक सुखों को ही शाश्वत सुख मानकर उन्हें बटोरने में लग जाता है, फलतः सुखभोग के वे अल्पक्षण परलोक के अनन्त दुःखों को जन्म देते हैं। यह सिलसिला एक जन्म तक ही सीमित नहीं रहता अनन्त-अनन्त जन्मों तक आत्मा इसी तरह अज्ञानवश चातुर्गतिक संसार में

परिभ्रमण करता रहता है। जहाँ भी जाता है, वहाँ कुछ समझदारी पाकर अज्ञान और मोहवश अपने उसी ससार में आसक्त हो जाता है; परन्तु एक दिन उसके सुख का महल ताश के पत्तों की तरह बिखर जाता है और वह सब कुछ वहीं छोड़कर अपनी पुण्य-पापरूपी पूँजी के अनुसार आगे चलने के लिए बाध्य हो जाता है।

संसार अरण्य में अज्ञानी जीवों की स्थिति

प्रश्न होता है, क्या यह संसाररूपी दीर्घ अरण्य कभी पार भी किया जा सकता है या इसी में स्थायीरूप से जीव को रहना पड़ता है ? अगर संसाररूपी लम्बे चौड़े वन को पार किया जा सकता है। तो कैसे ? और जो जीव इसे नहीं पार कर पाता, उसका क्या कारण है ? इन प्रश्नों के सन्दर्भ में अर्हतर्षि हरिगिरि आगे कहते हैं—

इम च णं सडण-पडण-विकिरण-विद्धंसणधम्मं अणेगजोगक्खेम-समायुत्तं जीवस्स अतारेलुके किं संसार-निर्घोढ करेति, संसारणिव्वेरिढ करेत्ता सिवमचल.... .... चिट्ठिस्सामित्ति।

'यह ससार (में कर्मानुसार प्राप्त होने वाले शरीरादि सब पदार्थ) सड़न-पड़न विकिरण और विध्वंसन धर्म (स्वभाव) वाला है। अनेक योग-क्षेम और समत्व से रहित जीव के लिए यह दुस्तरणीय (कठिनता से पार किया जाने वाला) है। ऐसा जीव (संसार को घटाने के बजाय) संसार की वृद्धि करता है। संसार से निर्वेद (विरक्ति) पाकर (अथवा मोक्षाभिलाषा करके) ही मैं उस शिव, अचल आदि पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त शाश्वत स्थान को प्राप्त करूँगा।'

इस ससार के सभी जड़ पदार्थ, यहाँ तक कि शरीर, इन्द्रियाँ तथा माता-पिता, भाई बहन आदि के सम्बन्ध भी अनित्य हैं। वे सड़ते हैं, गलते हैं, ध्वंस होते हैं, नष्ट हो जाते हैं। एक आत्मा या आत्मा के निजी गुण शाश्वत हैं नित्य हैं। अतः इस तत्व को न समझकर जो शारीरादि या माता-पिता आदि या धन, मकान आदि अनित्य, नाशवान् एवं अनियत पदार्थों से सुख-सामग्री जुटाने और उसकी रक्षा करने के प्रपंच में लगा रहता है, आत्मा के लिए अप्राप्त हुए (मोक्ष) को प्राप्त करने तथा जो प्राप्त (आत्मगुण) है उसका रक्षण (योग-क्षेम) करने में नहीं लगा है, जिसमें विषय सुखों के प्रति अनासक्ति तथा कषायों से विरक्ति (समता) नहीं आई हैं, वह संसार को घटा नहीं पाता है। संसार का अन्त कर पाना तो उसके लिए बहुत दूर की बात है; उलटे, वह संसार की वृद्धि ही करता है।

अथवा हरिगिरिऋषि के पूर्वोक्त वक्तव्य का एक आशय यह भी हो सकता है कि जो साधक किसी पथ या वेश को स्वीकार करता है, शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता तथा विचरण क्षेत्र की आसक्ति मे पड़ा है, साम्प्रदायिकता फैलाता है, प्रसिद्धि, आडम्बर एवं प्रदर्शन के लिए तप क्रियाकाण्ड आदि करता है, ऐसा व्यक्ति समत्व से रहित है, उसके कषाय की मात्रा बढ़ी हुई है; ऐसी स्थिति में सांसारिक प्रपंच मे फँसा हुआ साधक यदि ससार से मुक्त होने और अचल आदि विशेषणो से युक्त सिद्धि स्थान को प्राप्त कर लेने का दावा करे तो वह निरर्थक है।

संसार का अन्त करने का संकल्प

इसीलिए हरिगिरि अर्हतर्षि संसार का स्वरूप भली भाँति जान कर इसका अन्त करने के लिए अपना दृढ़ संकल्प प्रगट करते हैं—

तम्हा अधुवं असासतमिणं संसारे सव्वजीवाण ससतीकरणमिति णच्चा णाण-दसण-चरित्ताणि सेविस्सामि, णाण-दंसण-चरित्ताणि सेवित्ता अणादीयं जाव कतारं सिवमचल० जाव ठाणं अब्भुवगते चिट्ठिस्सामि।

अत: अध्रुव, अशाश्वत ससार सभी जीवों के लिए आसक्ति पैदा करने वाला है, (और आसक्ति ही दुःख का मूल है), यह जानकर मैं ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना-साधना करूंगा और इस साधना के फलस्वरूप अनादि यावत् ससाररूपी अरण्य को पार करके शिव, अचल यावत् शाश्वत स्थान प्राप्त करूँगा।

सदैव सर्वत्र शुद्ध धर्म को साथ रखो

ससार से मुक्त होने के लिए सर्वत्र और सर्वदा धर्म को साथ रखने का निर्देश देते हुए कहते हैं—

कतारे वारिमज्झे वा, दित्ते वा अग्गिसंभवे।
तमसि वाडधाणे वा सया धम्मो जिणाहिओ ॥१॥
धरणी सुसहा चेव गुरु भेसज्जमेव वा।
सद्धमो सव्व जीवाणं णिच्च लोए हितंकरो ॥२॥

'साधक को अरण्य में, जल में, अग्निज्वाला में, अन्धकार में अथवा गाँव या नगर मे सर्वज्ञजिनेन्द्र-कथित धर्म को सर्वत्र एव सदैव साथ रखना चाहिए ॥१॥

'सर्वसहा पृथ्वी, गुरु और औषधियाँ लोक में प्राणिमात्र के लिए हितकर हैं, इसी प्रकार सद्धर्म भी समस्त प्राणियों के लिए सदैव हितकर है' ॥२॥

साधक की साधना की धारा नदी की धारा की तरह समान रूप से बहनी चाहिए। ऐसा न हो कि जंगल के वीरान प्रदेशों में हो, तब साधना

निराली हो, अन्धकार, जलस्थान, अग्निस्थान या ग्राम में भिन्न-भिन्न रूप की हो, तथा नगर में कुछ और हो रूप की साधना हो। जैसे—कोई साधक शहर में जाए और श्रावकों के बीच मे हो, तब साधना फूंक-फूंक कर तीव्र कर दी जाए और ग्रामों के सरल अबोध ग्रामीणो के भोलेपन का लाभ उठाकर अपनी साधना का स्तर नीचा कर दे, वहाँ अपनी तर्ज बदल दे।

दशवैकालिकसूत्र में साधक को महाव्रतों की साधना में सर्वत्र सर्वदा एकरूपता के लिए जोर देते हुए कहा गया है—

'से गामे वा नगरे वा रण्णे वा एगओ वा परिसागओवा सुत्ते वा जागरमाणे वा········।'

'साधु- साध्वी ग्राम मे हो, नगर में हो, जगल में हो, या विशाल परिषद में हो, सोया हो या जगता हो, सदैव सर्वत्र उसकी चारित्रधर्म की साधना समान रूप से प्रवाहित हो।'

अर्हतर्षि के कथन का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि साधक सूने जगल में छोड़ दिया गया हो, सागर की जलधारा मे फैंक दिया गया हो, या आग में झौंक दिया गया हो, अथवा अंधेरी कोठरी के घोर अन्धकार में डाल दिया गया हो, अथवा चारों ओर बाड़ से घेर कर बंद कर दिया गया हो, वह सर्वत्र सदैव जिनोक्त धर्म पर दृढ़ रहे, धर्म से जरा भी विचलित, स्खलित या च्युत न हो, क्योंकि जैसे रोगग्रस्त मानव के लिए औषधि जीवनदायिनी है, ससारसागर से तारने के लिए गुरु महान् उपकारी हैं, तथा सर्वसहा पृथ्वी किसान से लेकर राजा तक सबके लिए हितकारिणी है, वैसे ही जीवन में प्रकाश की प्रेरणा देने वाला धर्म हितावह है।

धर्म की परिभाषा करते हुए महान् आचार्यो ने कहा है -

'दुर्गतौ प्रपन्ततमात्मानं धारययीति धर्म.'

जो दुर्गति में पड़ती हुई आत्मा को उठाए, वही धर्म है। जो पतन की ओर जाते हुए व्यक्ति को बचाकर उत्थान की ओर ले जाए। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में धर्म का लक्षण इस प्रकार किया है—

संसारदु.खतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।
सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः। २-३॥

'जो संसार के दुःखों से प्राणियों को बचाकर उत्तम (स्वाधीन-आत्म सुख) में पहुँचाता है, वह धर्म है—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र को ही धर्म धुरंधरो ने धर्म कहा है।'

कहने का मतलब यह है कि जीव का गिरना ही संसार है और

उठना मोक्ष है। मनुष्य जन्म-मरण रूप संसार के गड्ढे में गिरकर नाना दुःख उठाता है, धर्म उसे संसारपरम्परावर्द्धक क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि विकारों के गर्त्त में गिरने से बचाता है और उनसे ऊपर उठाकर कर्मों के बन्धन काटता है, मोक्ष पहुँचाता है। धर्म ही वह तत्त्व है, जो मनुष्य को प्रत्येक क्षेत्र में समभाव से, शान्ति से और अहिंसा, संयम, तप आदि से संसार से अलिप्त—अनासक्त रहना और ऊपर उठना एवं मोक्ष की ओर गति करना सिखाता है। आत्मिक सुख का मूल यदि कोई है तो धर्म ही है।

संसार के सुख दुःख क्षणिक हैं

संसार के सुख-दुःख किस प्रकार के क्षणिक हैं? इससे ऊपर उठने की सूचना देते हुए अर्हतर्षि कहते हैं—

> सिग्घवट्टि-समायुत्ता, रधचक्के जहा अरा।
> फडंता वल्लिच्छेया वा, सुहदुक्खे सरीरिणो ॥३॥

जैसे—रथ के पहिये में लगे हुए आरे शीघ्र घूमते हैं, एक के बाद एक बदलते रहते हैं, अथवा जैसे लता में हुआ छिद्र उसे फाड़ डालता है, इसी प्रकार संसार में देहधारियों के सुख-दुःख हैं ॥३॥

संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख कोई भी नहीं चाहता। परन्तु आप जानते हैं कि संसार का सुख कैसा है? वह रथ के पहिये में लगे हुए आरों की तरह परिवर्तित होता रहता है, कभी सुख आता है तो कभी दुःख। वस्तुतः सांसारिक सुख एक प्रकार का दुःख है, सुखाभास है। वह थोड़े क्षण रहता है, फिर दुःख आ जाता है। मनुष्य मिठाई खाने में सुख मानता है, किन्तु उसी मिठाई से डायबिटीज (सुगर की बीमारी) हो जाए तो उसे छुएगा भी नहीं। उसी मिठाई को खाना दुःखरूप हो जाएगा। पत्नी-पुत्रों को सुखदायक मानता है, किन्तु पत्नी का वियोग हो जाए तो दुःख मानेगा अथवा वह कुष्ट रोग जैसी भयंकर व्याधि से पीड़ित हो जाए तो वह उसका स्पर्श करना भी दुःखरूप मानेगा। पुत्र उद्दण्ड, अविनीत और उड़ाऊ हो जाए तो उस पुत्र को पिता दुःखरूप मानेगा।

हाँ तो संसार के सुख और दुःख क्षणिक है, पदार्थनिष्ठ है, पराधीन हैं, परोपाधिक हैं; जबकि मोक्ष का सुख स्वाधीन है। सांसारिक सुख के भरोसे रहना, अपने आपको धोखा देना है दुर्गति के दुःखों में डालना है। नानकदेव ने एक बार कहा था—

> नानक! दुखिया सब संसार।
> सो सुखिया जिस नाम आधार ॥

नानकदेव जी का महान् संकेत तो यह है कि इस अशाश्वत संसार में कहीं भी सुख नहीं है। धनवान, निर्धन, बलवान् और बुद्धिमान और मंद-बुद्धि दोनों ही दुःखी हैं। जिसके जीवन में वीतराग परमात्मा का नाम है, या उनके धर्म का स्मरण है, वही सुखी है। अज्ञानी जीव सांसारिक सुख का स्वागत करता है, परन्तु उस सुख के पीछे छिपे हुए दुःख की ओर उसकी दृष्टि जाती ही नहीं है। इस संसार में सुख अकेला नहीं आता, अपने साथ अनेक दुःखों को लाता है। धन-पत्नी, पुत्र, भवन, वस्त्र आदि पदार्थों में सांसारिक अज्ञानी जीव सुख मानता है। परन्तु वही तस्करी से प्राप्त धन कारागर के सीखचों में बद करा देता है, बेइज्जती करा देता है, भाई-भाइयों में झगड़ा पैदा करा देता है। भवन, कुटुम्बीजन आदि भी नाना चिन्ताओं के कारण बनते हैं, इसलिए दुःखदायक है। सुख की छाया में दुःख विश्राम पाया हुआ है। ऋषि के कहने का फलितार्थ यह है कि सांसारिक सुखों के पीछे मत भागो। छाया के पोछे दौड़ने से वह आगे से आगे भागती जाती है, पकड़ में नहीं आती। इसी तरह सांसारिक सुख भी पकड़ मे नहीं आते। इन्हें छोड़ो और शाश्वत एवं स्वाधीन मोक्षसुख को प्राप्त करने में पुरुषार्थ करो। मोक्ष की ओर गति धर्माचरण से होती है, जो मोक्षसुख के अंशरूप आत्मिकसुख की प्राप्ति कराता है।

संसार और उसका मूल

ससार क्या है? कैसा है? ससार-परम्परा का मूल क्या है? इस गुत्थी को सुलझाने के लिए अर्हतर्षि हरिगिरि कहते हैं—

> संसारे सव्व जीवाणं गेही संपरियत्तते।
> उदुम्बक तरूणं वा वसणुस्सवकारणं ॥४॥
> वण्हि रवि ससंकं च, सागरं सरियं तहा।
> इंदज्झयं अणीयं च, सज्जमेह च चिंतए ॥५॥
> जोव्वण रूवसपत्ति सोभग्ग धण-सपदं।
> जीवित वा वि जीवाणं, जल बुब्बुय-सन्निभ ॥६॥
> देविंदा समहिड्ढिला दाणविंदा य विस्सुता।
> णरिंदा जे य विक्कंता. सव्वयं विवसा गता ॥७॥

'संसार के सभी जीव गृद्धि—आसक्ति को लेकर परिभ्रमण करते हैं। जैसे उदुम्बर वृक्षों का प्रसव व्यसनोत्सव का अर्थात्—मदनोत्सव—कामविकारोत्तेजक उत्सव का कारण बनता है, इसी प्रकार आसक्ति भी संसार-परम्परा का मूल कारण होती है' ॥४॥

'अग्नि, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, नदी, तथा इन्द्रध्वज, सैन्य, और नया मेघ, (इस प्रकार संसार के प्रत्येक पदार्थ की अनित्यता) का चिन्तन करो' ॥५॥

'यौवन. रूप-सम्पदा सौभाग्य, धन-सम्पत्ति प्राणियों का जीवन पानी के बुलबुले के समान (क्षणविध्वंसी) है' ॥६।

'(इस संसार में) स्वर्गीय समृद्धि से सम्पन्न देवेन्द्र, प्रख्यात दानवेन्द्र और पराक्रमी नरेन्द्र विवश होकर एक दिन समाप्त हो गए' ॥७॥

संसार के प्रत्येक, पदार्थ, यहाँ तक कि स्वर्ग में रहने वाले देवेन्द्र तक भी अनित्य हैं. नाशवान् हैं, क्षणभंगुर हैं। अत संसार के निर्जीव सजीव सभी पदार्थ, रूप, यौवन, धन, जीवन आदि अनित्य है, क्षणभंगुर हैं। साधक को चाहिए कि संसार के सभी पदार्थों की अनित्यता पर चिन्तन करके उनको प्राप्त करने तथा उन पर आसक्ति रखने का प्रयत्न न करे तभी संसार-परम्परा की जड कटेगी।

संसार के सभी पदार्थों पर अनित्यता अपना डेरा डालते हुए है, इस तथ्य को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए अर्हतर्षि हरिगिरि कहते है—

सव्वत्थ णिरणुक्कोसा णिव्विसेस-पहारिणो।
सुत्त-मत्त-पमत्ताणं एका जगति अणिच्चता ॥८॥
देविंदा दाणविंदा य णरिंदा जे य विस्सुता।
पुण्णकम्मोदयब्भूत पीतिं पावति पीवरं ॥९॥
आऊं धण बलं रूव, सोभाग सरलत्तण।
णिरामयं च कंत च दिस्सते विविह जगे ॥१०॥
सदेवोरग-गंधव्वे सतिरिक्खे समाणुसे।
णिब्भया णिव्विसेसा य, जगे वत्तेय अणिच्चता ॥११॥
दाण-माणोवयारेहिं, माम-भेयक्कियाहि य।
ण सक्का सणिवारेउं तेलोक्केणाविऽणिच्चता ॥१२॥
उच्चवं वा जंति वा णीयं, देहिणं वा णमस्सितं।
जागरत पमत्त वा, सव्वत्था णाभिलुप्पति ॥१३॥
'एवमेतं करिस्सामि, ततो एवं भविस्सती'।
संकप्पो देहिणं जो य, णं तं कालो पडिच्छती ॥१४॥
जा जया सहजा जा वा, सव्वत्थेवाऽणुगामिणी।
छाय व्व देहिणो गढा, सव्वमण्णेतिऽणिच्चता ॥१५॥
कम्मभावेऽणुवत्तती, दीसति य तधा-तधा।
देहिणं पकति चव, लीणा वतेय अणिच्चता ॥१६॥

अर्थात्—'जगत् में सर्वत्र सुप्त, मत्त और प्रमत्तों पर एकमात्र निर्दयी अनित्यता निर्विशेष रूप से प्रहार करती है' ॥८॥

जो देवेन्द्र, दानवेन्द्र और विख्यात नरेन्द्र हैं, वे सब जहाँ तक पुण्यकर्मों का उदय है, वहीं तक जनता की प्रचुर प्रीति प्राप्त करते हैं' ॥९॥

'आयु, धन, बल, रूप, सौभाग्य, सरलता, नीरोगता, और प्रियता संसार में विविध रूपों में दिखाई देती है ॥१०॥

देव, नागकुमार, गन्धर्व, तिर्यञ्च और मनुष्यों के सहित समग्र संसार में अनित्यता समान रूप से निर्भय होकर विचरण करती है' ॥११॥

'इस अनित्यता को दान, सम्मान, उपचार, साम, भेद, आदि क्रियाएँ तो क्या, तीनों लोक की शक्ति मिलकर भी रोकने में समर्थ नही है' ॥१२॥

'उच्च हो या नीच, संसारी साधारण देहधारी हो, या पूजनीय पुरुष हो जागृत हो या प्रमत्त अनित्यता सबको सर्वत्र समाप्त कर डालती है' ॥१३॥

'मैं इसे इस प्रकार करूँगा, उसके पश्चात् या उससे यह हो जाएगा,' मनुष्य के मन में जो अनेक प्रकार के सकल्प चलते रहते हैं कराल काल उन्हें स्वीकार नही करता' ॥१४॥

प्राणी कही भी जाए, अनित्यता छाया की भाँति सर्वत्र उसके साथ रहती है। छाया कदाचित् पृथक भी दिखाई दे सकती है, परन्तु अनित्यता तो गूढ़ है, वह कभी दिखाई नही देती ॥१५॥

'कर्म के सद्भाव में ही जो (अनित्यता) आत्मा के साथ रहती है और अनेक रूपों में दिखाई देती है। शरीरधारियों की प्रकृति को अनित्यता ने अपने में लीन कर रखा है ॥१६॥

अर्हतर्षि हरिगिरि ने अनित्यता का जो इतनी गाथाओं में प्रतिपादन किया है, उसका तात्पर्य यही है कि आत्मा या आत्मगुणों के सिवाय ससार में कोई भी पदार्थ, चाहे वह जड़ हो या चेतन, चाहे वह परभावरूप हो या विभावरूप, आत्मगुणातिरिक्त गुण हो या कर्म हो, सभी पर अनित्यता की छाया है।

महाकवयित्री महादेवी वर्मा ने सुन्दर शब्दों में इसे अभिव्यक्त किया है—

विकसता मुझाने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द।
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मन्द॥
यहाँ किसका स्थिर यौवन, अरे! अस्थिर छोटे जीवन॥

रूप, यौवन, सौन्दर्य, सम्पत्ति, सौभाग्य, नीरोगता और लोकप्रियता, बल या धन, आदि सब मानव-मन में छिपे अहंकार के बीज हैं। सनत्कुमार चक्रवर्ती का रूपगर्व उतर गया, जब दो परीक्षक देवों ने उनके थूक मे रोग के कीटाणु कुलबुलाते हुए बताए। यौवन, बल, रूप और सौन्दर्य के गर्व को जरा और मृत्यु एक ही झटके में समाप्त कर देती है। नीरोगता और लोकप्रियता भी कब स्थिर रहती है ? असातावेदनीय कर्म का उदय होते ही नीरोगता विदा हो जाती है, तथाविध नामकर्म का उदय होते ही लोकप्रियता और सौभाग्य दोनों का ही टिकट कट जाता है। धन भी तब तक रहता है जब तक पुण्यकर्म प्रबल है। अनित्यता निर्दय होकर सब पर समान रूप से प्रहार करती है। निद्रा, मद्य और प्रमाद ये जीवन की तीन कैंचियाँ हैं, जो सद्गुणों को काटती रहती है, अनित्यता उन्हें भी सबक सिखाती रहती है; जो लापरवाह होकर निद्रा की गोद मे खुर्राटे भर रहे हैं, जो मद्य के प्याले पीकर मतवाले हो रहे हैं और जो वासना की लहरों में बहकर मस्ती में झूम रहे है, उन पर भी मौन अट्टहास करती है। रत्नों के सिंहासन पर बैठने वाले देवेन्द्र, और स्वर्गीय वैभव के मद में छके हुए दानवेन्द्र, तथा स्वर्णसिंहासनों पर बैठ कर मूँछों पर ताव देने वाले नरेन्द्र, सभी का झूठा अहंकार और झूठी आशाएँ, अनित्यता ने समाप्त कर दी। उनके मिथ्या अहंकार को चूर-चूर कर दिया। जो यह कहते थे कि हमारा राज्य, हमारा स्वर्गीय वैभव, या हमारा अधिकार सैकड़ों युगों तक अटल रहेगा। उन्हें काल की कराल शक्ति ने एक दिन यहाँ से चलने के लिए विवश कर दिया।

देवेन्द्र, दानवेन्द्र, और मानवेन्द्र, ये सत्ता और शक्ति के प्रतीक है। एक दिन ये रत्नजटित सिंहासन पर बैठकर सिंह की भाँति गर्जा करते थे, इनका आदेश टाला नहीं जा सकता था, सम्पत्ति और वैभव इनके चरणों म लौटते थे, और कहते थे,—हम अमर बन कर आए हैं, परन्तु वे भी एक दिन सदा के लिए मृत्यु की गोद में सो गए।

देवसृष्टि हो या दानवसृष्टि, मानव जगत् हो या पशुजगत् अनित्यता का सर्वत्र राज्य है। अमुक काल तक दिव्यभवनों में रहने के बाद एक दिन उन देवकुमारों को भी वहाँ से चल देना पड़ता है, जो मानते थे कि हम अमर हैं, हमारा यौवन शाश्वत है। अनित्यता की धुरी पर परिवर्तन का नृत्य चल रहा है। ससार की कोई भी शक्ति सृष्टि के इस नियम में परिवर्तन नहीं ला सकती।

कोई यह कहे कि मैं मृत्यु को रिश्वत देकर या साम, दाम, भेद आदि

किसी भी नीति से वश में कर लूंगा और उससे अमरता का पट्टा लिखा लूंगा यह कदापि सम्भव नहीं है।

आप सच मानिये विशालकाय बाँध जल की तीव्रधारा को रोक सकता है, परन्तु ऐसा कोई बाँध नहीं बना है, जो इस अनित्यता (मृत्यु) की धारा को रोक सके। पैसा देकर आप सम्मान खरीद सकते हैं, काल को नहीं; सम्मान देकर आप किसी अधिकारी को मना सकते हैं, किन्तु काल को नहीं मना सकते। साम और भेद की नीति राज्य पर अधिकार कर सकती है, परन्तु काल पर अधिकार नहीं जमा सकती।

अनित्यता सभी कोटि के मानवों पर हावी है। प्रतिक्षण मानव की आयु कम हो रही है चाहे वह प्रमत्त हो अप्रमत्त, उच्च हो या नीच, अपूज्य हो या पूज्य।

मानव अपना जीवन नित्य मान कर बड़ी-बड़ी आशाएँ करता है, लम्बे-लम्बे मनसूबे करता है, संकल्प भी करता है, परन्तु ये सब धरे रह जाते हैं, काल बीच में ही आकर उसे दबोच लेता है।

एक कवि ने रोचक भाषा में इस तथ्य को समझाया है –

आशाओं का हुआ खातमा, दिल की तमन्ना धरी रही।
बस परदेशी हुए रवाना, प्यारी काया पड़ी रही॥

मित्रो ! अनित्यता का यह प्रहार सबकी आशाएँ धूल में मिला देता है। कोई डॉक्टर बनने का स्वप्न देखता है, कोई वकील बनना चाहता है, कोई मिनिस्टर बनने की धुन में है तो कोई इंजीनियर बनने के लिए अमरीका पहुंच जाता है, परन्तु अनित्यता सबकी आशाओं पर पानी फिरा देती है, सबको अपने में विलीन कर लेती है। विविध कर्मानुसार यह अनित्यता एक या अनेक व्यक्तियों में विभिन्न समयों में भिन्न-भिन्न रूपों में भी परिलक्षित होती है। जो आज धनी था, वह कल निर्धन हो जाता है। जो आज बलवान् था, वह एकदम दुर्बल हो जाता है। यह सब अनित्यता की लीला है।

कर्मानुसारिणी संसार की अनित्यता

अब अर्हतर्षि हरिगिरि संसार में अनित्यता के मूल—कर्म के विविध रूपों का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं।

जं कडं देहिणा जेणं, णाणावण्णं सुहासुहं।
णाणा-वत्थंतरोवेतं सव्वमण्णेति तं तहा ॥१७॥

कंतो जे वा वयोऽवस्था, जुज्जंते जेण कम्मुणा।
णिव्वत्ती तारिसे तीसे, वायाए व पडिसुका ॥१८॥

ता हं कडोदयुब्भूया, नाणा गोय (गाय) विकप्पिया।
भंगोदयाणुवत्तते, ससारे सव्वदेहिणं ॥१९॥

कंदमूला जहा वल्ली, वल्लीमूला जहा फलं।
मोहमूलं तहा कम्मं, कम्ममूला अणिच्चया ॥२०॥

बुज्झते बुज्झए चेव, हेउजुत्तं सुभासुभं।
कद-संदाण-संबद्धं, वल्लीणं व फलाफलं ॥२१॥

छिण्णादाणं सयं कम्मं, भुज्जए तं न बज्जए।
छिन्नमूलं व वल्लीणं, पुव्वुप्पण्णं फलाफलं ॥२२॥

छिन्नमूला जहा वल्ली, सुक्कमूलो जहा दुमो।
नट्ठमोहं तहा कम्मं, सिण्णं वा हयणायकं ॥२३॥

अप्पारोही जहा बीयं, धूमहीणो जहाऽनलो।
छिन्नमूलं तहा कम्मं, नट्ठसण्णोवदेसओ ॥२४॥

जुज्जए कम्मुणा जेणं, वेसं धारेइ तारिसं।
वित्त-कंति-समत्था वा, रंगमज्झे जहा नडो ॥२५

संसार-संतई चित्ता, देहिणं विविहोदया।
सव्वा दुमालया चेव, सव्वपुप्फ-फलोदया ॥२६॥

अर्थात्—'जिस प्रकार देहधारी नाना प्रकार के अच्छे-बुरे वस्त्रों से युक्त होता है, उसी प्रकार वह (वर्तमान जीवन में जो) नाना प्रकार के शुभाशुभ कार्य करता है, उसी को ही वह सम्पूर्ण मान बैठता है' ॥१७॥

'जिस वय और अवस्था में जिस कर्म से जो क्रान्ति (परिवर्तन) प्राप्त होती है, उसकी वैसी ही निष्पत्ति होती है, और वाणी से भी वैसा ही सुना जाता है' ॥१८॥

'नानाविध गोत्रो (गात्रों—शरीरों) के विकल्प आत्मा द्वारा कृत कर्मों के उदय से उद्भूत होते हैं। संसार के समस्त देहधारी इन्हीं विकल्पों के उदय के अनुसार होते हैं' ॥१९॥

'कन्द से लता उत्पन्न होती है, और लता से जैसे फल पैदा होते हैं, इसी प्रकार मोह-मूल से कर्म आते हैं और कर्म ही अनित्यता का मूल है' ॥२०॥

'जिस प्रकार लता के फल और अफल (अच्छे-बुरे या पर्याप्त-अपर्याप्त फल) कन्द की परम्परा से सम्बद्ध होते हैं, अर्थात्—जैसा कन्द होगा, वैसी ही लता होगी, और वैसे ही उसके अच्छे-बुरे या पर्याप्त-अपर्याप्त फल होंगे। उसी प्रकार कर्मों के शुभाशुभ का हेतुयुक्त बोध (विवेक) देने पर साधक उसे प्राप्त करे' ॥२१॥

'जिस प्रकार लता का मूल नष्ट कर देने पर भी पहले के उत्पन्न (लगे) हुए अच्छे-बुरे फलों का उपभोग करना ही पड़ता है, इसी प्रकार कर्मों के आदान (द्वार या आगमन) को विच्छिन्न कर देने भी जो (स्वयं द्वारा पूर्वबद्ध तथा उदयावली में प्राप्त) कर्म हैं, उन्हें तो भोग ले, उन्हें न छोड़े' ॥२२॥

'जिसकी जड़ छिन्न हो चुकी है, ऐसी लता, तथा जिसका मूल सूख गया है, ऐसा वृक्ष; ये दोनों ही नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार मोह (मोहनीयकर्म) के नष्ट होते ही आठों कर्म नष्ट होते हैं। जैसे—सेनापति के हटते ही सारी सेना के पैर उखड़ जाते हैं' ॥२३॥

'विनष्ट बीज और धूम्र-हीन अग्नि जिस प्रकार शीघ्र समाप्त हो जाते हैं, वैसे ही मूल (मोहनीय) के नष्ट होते ही कर्म भी उसी तरह नष्ट हो जाते हैं, जिस तरह नष्ट-संज्ञा वाला (जिसका आगम-ज्ञान लुप्त हो गया है), उपदेशक भी समाप्त हो जाता है' ॥२४॥

'जो जिस कर्म से युक्त होता है, उसे वैसा ही वेश धारण करना होता है। उसी के अनुरूप ही यह जीव सम्पत्ति, सौन्दर्य और सामर्थ्य पाता है। जैसे कि रंगमंच पर नट पात्र के अनुरूप विविध वेश-भूषा धारण करता है। अर्थात्—पात्र का जैसा कार्य होता है, तदनुरूप वेष धारण करना पड़ता है' ॥२५।

'संसार-परम्परा विचित्र है, वह देहधारियों को विविध रूप में उपलब्ध होती है। जैसे - समस्त वृक्ष और लता विविध फूलों और फलों से युक्त होते हैं; क्योंकि उनमें बीज विभिन्न हैं)' ॥२६॥

मानव की अच्छाई-बुराई उसके अच्छे-बुरे कार्यों पर निर्भर है, किन्तु जैसे स्थूलद्रष्टा केवल अच्छे-बुरे वस्त्रों को देखकर मनुष्य को भी अच्छा-बुरा मान लेता है। वह यह नहीं सोचता कि अच्छे सफेद वस्त्रों में भी काले दिल वाले हो सकते हैं और काले या मैले वस्त्रों में भी पवित्र आत्मा हो सकते हैं। वैसे ही अच्छे कहे जाने वाले कार्यों को करने वाले भी हृदय से अपवित्र एवं

धोखेबाज हो सकते हैं, और बुरे कहे जाने वाले कार्यों को करते हुए भी कई सरल और सुलभबोधि आत्मा उच्च संयमी बन सकते हैं। जैसे—गौ, ब्राह्मण, नारी और बालक की हत्या करने वाला दृढ़प्रहारी मुनि के उपशम, संवर और विवेक, इन तीन शब्दों को सुनकर उच्चकोटि का समताधारी साधु बन गया। इसलिए केवल शुभाशुभ कहे जाने वाले कार्यों पर से ही उसके अच्छे-बुरे होने का निर्णय नहीं करना चाहिए। मनुष्य के कार्य में ही उसके जीवन की इतिश्री नहीं होती, उसके जीवन को नापने के विचार, संगति, आचरण, ज्ञान, दृष्टि आदि भी अन्य अनेक पहलू हैं। कई बार बुराई भी अच्छाई के वस्त्रों को पहनकर दूसरों को धोखा दे सकती है और कभी अच्छाई भी बाहरी दुनिया मे तिरस्कृत होकर बुराई के गंदे वस्त्र पहन सकती है, तो क्या गदे वस्त्रों मे लिपटी हुई अच्छाई उपादेय नहीं हो सकती ? अतः जैसे वस्त्रों पर से ही अच्छाई-बुराई का नाप करना उचित नहीं, वैसे ही मनुष्य के तथाकथित अच्छे-बुरे कार्यों पर से ही उसके अच्छे-बुरे होने का अनुमान करना ठीक नही है।

युवावस्था में मन और वाणी मे जोश होता है, यदि उस समय मनुष्य का शुभकर्मों की ओर झुकाव हो जाए तो उसके जीवन का निर्माण भी वैसा हो हो जाता है, उसे वाणी सम्पदा भी वैसी ही प्राप्त हो जाती है किन्तु यदि उस वय और अवस्था में उसका झुकाव अशुभ (पाप) कर्मों की ओर हो जाए तो उसका जीवन भी तदनुसार परिवर्तित हो जाता है वैसा ही जीवन बन जाता है और वैसी ही वाणी उसे प्राप्त हो जाती है। वृद्धावस्था में होश तो रहता है, परन्तु जोश प्रायः ठडा हो जाता है। वाणी में भी बल नहीं रहता। इसलिए वृद्धावस्था में विचार-क्रान्ति नही होती, तो आचार-क्रान्ति भी संभव नहीं होती। निष्कर्ष यह है कि जिस व्यक्ति को योग्यवय में शुभ या अशुभ जिस प्रकार के कर्मों का संयोग प्राप्त होता है, उसी सांचे में उसका जीवन ढल जाता है, वैसे ही मन-वचन-काया उसके हो जाते हैं, उसकी वृत्ति-प्रवृत्तियां भी वैसी ही हो जाती हैं।

यह जीव जिस प्रकार के शुभाशुभ कर्म करता है, तदनुरूप ही उसे गात्र (शरीर) मिलता है अथवा तदनुरूप ही उसे उच्च या नीच गोत्र प्राप्त होता है। संसार के समस्त देहधारी अपने-अपने गुण-कर्मानुसार ही उच्चगोत्र (उच्चता) या नीचगोत्र (नीचता) प्राप्त करते हैं। जन्म से ही किसी को उच्च या नीच मानना जैन-सिद्धान्तसम्मत नहीं है। कोई व्यक्ति ब्राह्मण या क्षत्रिय के यहाँ जन्म ले लेने मात्र से उच्च नहीं हो सकता, क्योंकि ब्राह्मण के पुत्र

यदि नीच कर्म करते हैं, तो वे नीचगोत्रीय हैं, और चाण्डालकुल में उत्पन्न होकर भी यदि हरिकेशी मुनि की तरह उच्चकर्म करते है तो वे उच्चगोत्रीय हैं। इसी प्रकार हरिकेशी मुनि पूर्वजन्म में ब्राह्मण थे, किन्तु जातिमद के कारण तथा दूसरों को नीच और अस्पृश्य बताकर उनसे घृणा-द्वेष करने से पूर्वकृत कर्मानुसार उन्हें नीच गोत्र मिला, गात्र (शरीर) भी काला-कलूटा कुरूप और बेडौल मिला। श्रेणिकनृपपुत्र मेघकुमार को पूर्व-जन्म में हाथी के भव में खरगोश की अनुकम्पा करने से अगले भव में राजकुमार के रूप में उच्चगोत्र तथा सुन्दर गात्र भी मिला।

प्रश्न होता है, कर्म और अनित्यता किस कारण से उत्पन्न होते हैं? अर्हतर्षि यहाँ इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार कन्द से लता और लता से फल पैदा होता है, उसी प्रकार मोह से कर्म और कर्म से अनित्यता उत्पन्न होती है।

अतः यदि अच्छा फल प्राप्त करना है तो उसका मूल हेतु जानना चाहिए। आत्मा किस प्रकार के कर्म बन्ध करता है? इस बात को जानने के लिए उसके मूल हेतु को जानना होगा। यदि मूल—शुभ अध्यवसाय है, तो कर्म भी शुभ होगा. यदि हेतु अशुभ है तो कर्म अशुभ होता है। कर्म को फल कहें तो उसके हेतुभूत अध्यवसाय को हम बीज कह सकते हैं। शास्त्र में आठों ही कर्मों के तथा उनकी विभिन्न प्रकृतियो के शुभाशुभ बन्ध होने के कारणों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अगर किसी कर्म का हेतु (अध्यवसाय) शुभ नही है, तो वह कर्म भी शुभ नहीं हो सकता।

एक कार्य बाहर से शुभ दिखाई देता है, किन्तु उसका उद्देश्य बुरा है, तो सारा कार्य ही बुरा कहलाएगा। किन्तु एक कार्य बाहर से देखने में तो अशुभ लगता है, किन्तु उसका हेतु शुभ है तो वह कार्य भी शुभ होगा। जैसे—एक डॉक्टर तेज शस्त्रों से रोगी के अग की चीर-फाड़ करता है, किन्तु उसके पीछे डॉक्टर का उद्देश्य रोगी को स्वस्थ और सुखी करने का है तो डॉक्टर का यह कार्य बाहर मे अशुभ प्रतीत होने पर भी शुभ उद्देश्य होने से शुभ है।

अब सवाल यह होता है कि इन शुभाशुभ कर्मों को आत्मा से सर्वथा पृथक् करने के लिए क्या करना चाहिए? अर्हतर्षि इसके लिए २३वी गाथा में कहते हैं कि जिस प्रकार सेनापति के हटते ही सारी सेना मैदान छोड़कर भाग खड़ी होती है, उसी प्रकार मोह के हटते ही समस्त कर्म क्षीणप्राय हो जाते हैं, क्योंकि कर्मबन्ध का मूल हेतु—राग-चेतना और द्वेषचेतना है। किन्तु राग और द्वेष दोनों का मूल कारण मोह है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

'कम्मं च मोहप्पभवं वयंति'

कर्म का प्रभव (जन्म) मोह से होता है।

अतः कर्मपरम्परा की समाप्ति के लिए मोह की जड़ पर ही प्रहार करना होगा। मोहनीयकर्म की कुल २८ प्रकृतियां हैं। पहले दर्शनमोह की ३, और फिर चारित्रमोह की २५ प्रकृतियाँ क्षय करनी होंगी। इनके क्षय हो जाने पर शेष तीन घनघाती कर्मों को क्षय करने में तो अन्तर्मुहूर्त से भी अधिक समय नहीं लगता। अतः कर्म को सर्वथा समाप्त करना है तो मोह-कर्म की २८ प्रकृतियों का क्षय करना अनिवार्य है।

जैसे बीज नष्ट हो जाने पर चाहे जितना खाद-पानी दिया जाए, वह वृक्ष उग नहीं सकता। जो आग धुंए से रहित होकर ठंडी हो चुकी है, वह फिर प्रज्वलित नहीं हो सकती। इसी प्रकार जिस कर्म का मूल नष्ट हो चुका है, वह आगे भवपरम्परा के रूप में फलित नहीं हो सकता।

जैसे सूत्रधार के संकेत पर विविध वेष में अभिनेता मंच पर उपस्थित होता है, वैसे ही कर्म के संकेत पर आत्मा विविध शरीर धारण करता है। सम्पत्ति, शक्ति, और सुन्दरता आदि की न्यूनाधिकता कर्मों पर निर्भर करती है।

यह संसार विचित्रताओं से भरा हुआ है। संसार की इस विचित्रता विविधरूपता के मूल हैं—प्रत्येक आत्मा के स्वकृत शुभाशुभ कर्म। वृक्ष और लता के पुष्पों और फलों की विविधता का हेतु उनकी जड़ों की—बीजों की विविधता है। अतः प्रत्येक साधक को कर्म-बीज बोते समय ध्यान रखना चाहिए।

मोहमूढ़ व्यक्तियों की विचित्र मनोदशा

अब अर्हतर्षि मोहकर्म के विविध परिणामों की चर्चा करते हुए कहते हैं—

पावं परस्स कुव्वंतो, हसए मोहमोहिओ।
मच्छं गलं गसंतो वा, विणिग्घायं न पस्सई ॥२७॥

परोवघाय-तल्लिच्छो, दप्प-मोह-बलुद्धुरो।
सीहो जरो दुपाणे वा गुणदोसं न विंदई ॥२८॥

पच्चुप्पण-रसे गिद्धो, मोहं-मल्ल-पणोल्लिओ।
दित्तं पावइ उक्कंठं, वारिमज्झे व वारणो ॥२९॥

सवसो पावं पुरा किच्चा, दुक्खं वेएइ दुम्मई ।
आसत्त-कंठपासो वा, मुक्कघाओ दुहट्टिओ ॥३०॥

चंचलं सुहमादाय, सत्ता मोहम्मि माणवा ।
आइच्च-रस्सि-तत्तं वा, मच्छा झिज्जत-पाणियं ॥३१॥

अधुवं संसिया रज्ज, अवसा पावंति संखयं ।
छिज्जं व तरुमारूढा, फलत्थीव जहा नरा ॥३२॥

मोहोदये सयं जंतू, मोहंत चेव खिसई ।
छिण्णकण्णो जहा कोई, हसिज्जा छिन्ननासियं ॥३३॥

मोहोदई सयं जतू, मंदमोहं तु खिसई ।
हेमभूषणधारी व्व, जहा लक्खविभूसणं ॥३४॥

मोही मोहीण मज्झंमि, कीलए मोह-मोहिओ ।
गहीणं व गहीमज्झे, जहत्थं गहमोहिओ ॥३५॥

अर्थात्— 'मोह मोहित जीव दूसरों के लिए पाप करके हंसता है। जैसे—मत्स्य आटे की गोली को (हंसते हुए) निगल जाता है, परन्तु उसके पीछे छिपे हुए विनिघात (घातक कांटे) को नहीं देख पाता' ॥२७॥

'दूसरे के घात में तन्मय होने वाला जीव दर्प, मोह और बल का प्रयोग करने में उत्सुक रहता है। जैसे वृद्धसिंह दुष्प्राण दुर्बल जीवों की हिंसा करता है, वह (मोह बल या दर्पवश) उस कृत्य के गुण-दोष को नहीं जान पाता, वैसे ही स्वार्थी एवं दुष्ट मनुष्य दुर्बल प्राणियों का शिकार करता है' ॥२८॥

'मोहमल्ल से प्रेरित जीव वर्तमान क्षणिक रस के आस्वादन में आसक्त हो जाता है। मोह की प्रदीप्त ज्वाला से उद्दीप्त आत्मा मोह का तीव्र बन्ध करता है, जैसे कि पानी के बीच में रहा हुआ हाथी तीव्र उत्तेजना प्राप्त करता है' ॥२९॥

'दुर्बुद्धि जीव पहले स्ववशरूप में पाप करता है, और बाद में दुःख का संवेदन करता है। जिस प्रकार आवेश में आकर कोई मनुष्य गले मे फांसी लगाकर मौत को निमन्त्रण दे देता है, किन्तु बाद में वेदना के कारण उससे बचना चाहता है' । ३०॥

'चंचल (क्षणिक) सुख को प्राप्त करके मानव मोह में आसक्त हो जाता है, किन्तु बाद में, जैसे सूर्य की किरणों से तप्त होकर पानी के सूख जाने से मछलियाँ तड़फती हैं, वैसे ही वह तड़फता है' ॥३१।

'अध्रुव (अस्थायी) राज्य के आश्रित रहा व्यक्ति विवश होकर एक दिन अवश्य ही समाप्त हो जाता है। फललिप्सु मानव यदि कटे हुए वृक्ष पर चढ़ता है, तो परिणाम मे दुःख ही पाता है' ॥३२॥

'मोह का उदय होने पर जीव व्यर्थ ही दूसरे मोहग्रस्त होते हुए व्यक्ति पर खीजता है, उससे द्वेष करता है। जैसे कटे कान वाला व्यक्ति नकटे (कटी नाक वाले) को देखकर हसता है' ॥३३॥

'जिसके मोह का उदय हुआ है, वह मन्दमोही व्यक्ति की हँसी उड़ाता है, जैसे सोने के आभूषण पहनने वाला लाख के आभूषण पहनने वाले का मजाक करता है' ॥३४॥

'मोहमुग्ध जीव मोहग्रस्त आत्माओं में रहकर आमोद-प्रमोद करता है, जिस प्रकार गृह-मोहित व्यक्ति घर में ही मुग्ध रहता है' ॥३५॥

ये गाथाएँ मोह के विविध रंग,बिरगे परिणामों को बताने वाली हैं। मोहवश व्यक्ति भयकर से भयकर पाप कर्मों को कर बैठता है। मोह से ग्रस्त व्यक्ति क्या क्या नहीं करता ? वह अपने परिवार, जाति, सम्प्रदाय आदि के संकुचित प्रेम के लिए दूसरे के हरे-भरे जीवन को उजाड़ देता है। पुत्र प्राप्ति के लिए किसी के नन्हे-मुन्ने को मार डालता है, दूसरे के मुँह का कौर छीनकर या दूसरों का शोषण एवं उत्पीड़न करके अपने स्त्री-पुत्र को पालता-पोसता है। अपने परिवार के क्षणिक सुख के लिए दूसरो की जिंदगी बर्बाद कर डालता है। स्पष्ट है कि जिस प्रकार मछली आटे की गोली खाने में वर्तमान सुख को ही देखती है, उसके पीछे मृत्यु का भयकर दुःख उसे नहीं दिखाई देता, वैसे ही मोहमूढ़ व्यक्ति को वर्तमान सुख ही दिखता है उसके पीछे छिपा हुआ भयंकर जन्म-मरण का दुःख नही दिखता। वह बल, मोह या घमण्ड के आवेश में आकर अपने मे निर्बल मनुष्यों या प्राणियों को सताता, मारता, या शिकार करता है। वह अपने बल का उपयोग शक्ति-हीनों को पीड़ित एवं पददलित करने में करता है। सभी क्षेत्रों में आज यह 'मत्स्य-गलागल न्याय' चरितार्थ हो रहा है। जसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी प्रकार कई मोहमूढ़ लोग आसुरी शक्ति के धनी बनकर दूसरो को कुचल और दबाकर ही अपने अहकार की पूर्ति करते हैं। शक्तिशाली राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों को दबोचता है, उसे अपने शोषण का शिकार बनाता है।

परन्तु याद रखिये, मोहरूपी पहलवान से प्रेरित जीव ऐसा करके केवल वर्तमान सुख का आस्वादन करने में लुब्ध है। ऐसा जीव तीव्र मोह कर्म का बन्ध करता है। उस समय वह भावी दुःखद परिणामों को नहीं सोच

पाता। मोह-मदिरा में मतवाला बना हुआ जोव केवल वर्तमान के क्षणिक सुख को ही देखता है। उसे ही पूर्ण मान लेता है। वह आत्मा की अनंत-अनंत अतीत और अनागत पर्यायों के विषय में विचार ही नहीं कर पाता। वह सघन मोहान्धकार में है। जिसकी दृष्टि केवल वर्तमान पर टिकी हुई है, उसे स्वामी विवेकानन्दने 'नास्तिक' कहा है 'वर्तमानदृष्टिपरो हि नास्तिकः'।

ऐसा दुर्बुद्धि जीव पहले तो स्वच्छन्द रूप से बेखटके पाप करता रहता है; किन्तु जब उसके भयकर दुःखद परिणाम सामने आते हैं तब रोता-बिलखता है, पश्चात्ताप करता है। उसका यह कृत्य उसी प्रकार का है, जैसे कोई व्यक्ति पहले तो आवेश में आकर गले में फांसी का फदा डाल ले, फिर जब दम घुटने लगे, तब छटपटाए, 'बचाओ, बचाओ' की पुकार करे। फिर तो कोई भी शक्ति उस पापात्मा को बचा नहीं सकती।

आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है, किन्तु उसका फल भोगने में स्वतन्त्र नही है। अमुक कर्म करे या न करे, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है, किन्तु एक बार जो कार्य कर लिया, उसके प्रतिफल से वह छूट नही सकता; चाहे वह किसी भी देव-देवी, भगवान् या अल्लाह की कितनी ही मिन्नतें कर ले। उसके आगे खुशामद, रिश्वत या अन्य कोई प्रार्थना नहीं चल सकती। हाँ, भगवान् वीतराग प्रभु के बताये हुए मार्ग पर चलने से उस पापात्मा का उद्धार हो सकता है। कर्मबन्ध से पहले आत्मा स्वतन्त्र है वह अपनी राग-द्वेषात्मक परिणति को रोककर उस बंध को तुरन्त लौटा भी सकता है, परन्तु कर्मबन्ध के बाद कर्मशृंखला से बंध कर दुःख का वेदन करता है।

भौतिक सुख जल के बुलबुले के समान क्षणिक है, चंचल है। किन्तु मनुष्य मोह का मद्य पीकर बोलता है 'मेरा सुख स्थायी है, शाश्वत है।' मगर उसे ज्ञान नहीं है कि पुण्यरूपी सूर्य के ढलते ही सुख की छाया भी ढल जायगी। जिस दिन शुभ कर्म रूप पुण्य सरोवर को अशुभ कर्मों की तेज धूप लगेगी, तब पुण्य-जल सूख जायगा और उस मोहमूढ की स्थिति ऐसी होगी जैसी सरोवर के जल के सूख जाने पर तड़फती हुई मछली की होती है।

वह मोहवश सोचता है, मुझे सत्ता मिली है, परन्तु आजकल तो मिनिस्ट्री भी पुण्य प्रबल हुआ तो अधिक से अधिक ५ साल की है। उसके बाद चुनाव में हार गए तो फिर साधारण मानव की सी स्थिति है। प्राचीन काल में भी पुण्यक्षय होते ही सत्ता छोड़ देनी पड़ती थी। किन्तु मूढ़ मानव असंख्य वर्षों तक सत्ता से चिपटा रहना चाहता है। वह एक प्रकार से कटे हुए वृक्ष पर चढ़ता है, जिससे वह धड़ाम से जमीन पर आ गिरता है।

मोहमूढ़ व्यक्ति के हृदय में दूसरे मोही व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध आदि की आग जलती रहती है। वह अपना बड़प्पन जताने के लिए दूसरों का उपहास करता रहता है। बहुधा वह मोहग्रस्त व्यक्तियों के साथ ही रहता है, उन्हीं के साथ आमोद-प्रमोद करता है, वह न तो साधु-सन्तों का सत्संग पसंद करता है, न ही सत्साहित्य का वाचन करता है। सच है, मोह के संकीर्ण घेरे में, दूषित वायुमण्डल में रहने वाले को वीतरागता के शान्त मुक्त वायुमण्डल मे आनन्द नही मिलता। जिन संस्कारों में वह पला है, उन्हीं में रहना पसंद करता है। कृपण को उदार व्यक्तियों के साथ रहना पसंद नहीं होता, कृपण कृपण के साथ ही रहना चाहता है। यह लम्बी कहानी है—मोहमूढ़ व्यक्तियों की मनोवृत्ति की।

कर्म-परम्परा का अन्त कैसे होता है ?

हरिगिरि अर्हतर्षि संसार का अन्त करने के लिए कर्म-परम्परा के अन्त को अनिवार्य बताकर उसी का रहस्य समझाने के लिए कहते है—

> बधंता निज्जरंता य, कम्मं नाऽण्णंति देहिणो।
> वारिग्गाह-घडीउ व्व घडिज्जंत निबंधणा ॥३६॥
>
> बज्झए मुच्चए चेव, जीवो चित्तेण कम्मुणा।
> बद्धो वा रज्जुपासेहिं, ईरियंतो पओगसो ॥३७॥
>
> कम्मस्स संतइ चित्तं, सम्मं नच्चा जिइन्दिए।
> कम्मसंताण-मोक्खाय, समाहिमभिसंधए ॥३८॥

अर्थात् - 'देहधारी जीव कर्म बाँधता है और निर्जरा भी करता है, किन्तु केवल इस प्रक्रिया से ही कर्म-परम्परा समाप्त नहीं हो सकती। रेहट की घड़िया (में से पानी भरने और निकलने) के समान उसका क्रम चलता रहता है' ॥३६॥

'जीव विचित्र कर्मों से बद्ध होता है और मुक्त भी होता है। जैसे रस्सी के पाश में बंधा हुआ प्राणी उसी से प्रेरित दिशा मे गति करता है, वैसे ही फिर कर्म से प्रेरित दिशा में जीव गति करता है' ॥३७॥

'जितेन्द्रिय आत्मा कर्म-संतति की विचित्रता को सम्यक् प्रकार से जाने और फिर कर्मसंतति से मुक्त होने के लिए समाधि को प्राप्त करे' ॥३८॥

प्रत्येक देहधारी प्राणी प्रतिक्षण अनन्त-अनन्त नए-नए कर्मों का बन्ध करता है और उसी क्षण अनन्त-अनन्त कर्मपुद्गलों की निर्जरा (कर्मों का

अंशतः क्षय) भी करता है। किन्तु जितना बन्ध होता है, उतनी मात्रा में निर्जरा नहीं होती, इसलिए यह निर्जरा उसकी कर्मपरम्परा को समाप्त नहीं कर पाती। फलतः उसकी संसार-परम्परा का अन्त नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि विपाकोदय में आए हुए जितने कर्मों को भोगकर जीव क्षय करता है, उनसे अनन्तगुणा अधिक कर्मों को, वह निमित्तों पर राग-द्वेष के परिणाम लाकर पुनः बाँध लेता है। कर्मों के इस अनादि क्रम को अर्हतर्षि रेंहट की घड़िया का दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि रेंहट की घड़िया में पुराना पानी खाली होते ही नया पानी तुरन्त भरता जाता है, वह घड़िया कभी खाली होती ही नहीं। इसी प्रकार जीव के साथ कर्मों की परम्परा चालू रहती है।

विभिन्न प्रकार के कर्मों से जीव स्वयं ही बंधता है, और मुक्त भी स्वयं ही होता है। यह कर्मवाद का अटल सिद्धान्त है। एक के बदले दूसरा प्राणी न तो उसके कर्म को बाँध सकता है और न ही एक के कर्म से दूसरा मुक्त हो सकता है। वैसे तो कर्म जड़ पुद्गलद्रव्य हैं और आत्मा चेतन-जीवद्रव्य है, दोनों पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु जब आत्मा में राग-द्वेष के स्पन्दन होते हैं तब कर्म-परमाणु आत्मा से चिपक जाते हैं। आत्मा से सम्बद्ध होने के पश्चात् कर्म के परमाणुओं में ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है कि वह आत्मा के भिन्न-भिन्न गुणों को रोक सकते है। कई कर्म चेतना को अवरुद्ध करते हैं, कई उसकी विशुद्ध दृष्टि को मलिन करते हैं और शुद्ध प्रवृत्ति को रोकते हैं। पुद्गलों के स्वभाव में अन्तर अनुभवसिद्ध है। मिर्च तीखे तत्त्व वाली है तो घी स्निग्ध तत्व वाला है। इसी प्रकार कर्म-परमाणु विभिन्न स्वभाव के होते हैं।

प्रस्तुत सैंतीसवीं गाथा में इस सम्बन्ध में एक और तथ्य अभिव्यक्त किया गया है कि जब तक कर्म आत्मा से पृथक होते हैं, तब तक कर्म और आत्मा दोनों स्वतन्त्र हैं, किन्तु जब वे आत्मा से बद्ध हो जाते हैं, तब आत्मा की स्वतंत्र शक्ति अवरुद्ध हो जाती है। फिर कर्मद्रव्य उसे अपनी शक्ति के अनुरूप परिभ्रमण कराता है। जिस प्रकार रस्सी से बंध जाने पर मनुष्य को उसी की दिशा में गति करनी पड़ती है, उसी प्रकार कर्मरज्जु से आत्मा के बंध जाने पर उसे कर्म की दिशा में ही गति करना पड़ता है।

अतः आत्मा को कर्म-परम्परा से सर्वथा मुक्त (पृथक) करने के लिए साधक को सर्वप्रथम कर्मों की विचित्रता एवं विभिन्नता का सम्यक् प्रकार से परिज्ञान करना चाहिए, साथ ही साधक को उदयप्राप्त कर्मों के फल को

राग-द्वेषरहित होकर समभावपूर्वक भोगना चाहिए। यही समाधि है। और समाधिस्थ साधक ही विभावदशा-प्रवृत्त आत्मशक्ति को रोकता है और सकाम निर्जरा करके कर्म परम्परा को तोड़ता है। यही कर्मपरम्परा को समाप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है।

संसार के सभी जीव नित्य भी अनित्य भी

बन्धुओ !

पहले यह कहा गया था कि ससार अनित्य है। संसार में जो जड़ पदार्थ हैं, वे अनित्य है, किन्तु आत्मा नित्य है, यह निश्चयदृष्टि अर्थात् द्रव्यास्तिकदृष्टि से ठीक है। किन्तु व्यवहारदृष्टि अर्थात् पर्यायार्थिक दृष्टि से आत्मा कर्मों से बद्ध होने के कारण विभिन्न गतियों और योनियों मे परिभ्रमण करता है, इस कारण अनित्य भी है। अर्हतर्षि इसी तथ्य को उजागर करते हुए कहते हैं—

> **दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।**
> **निच्चानिच्चं तु विण्णाय संसारे सव्वदेहिणं।** २९॥

'संसार में समस्त देहधारी जीवों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नित्य और अनित्य रूप से जानना चाहिए।'

जैनदर्शन प्रत्येक वस्तु का दो दृष्टियों से निरूपण करता है—द्रव्यार्थिक-नय-दृष्टि और पर्यायार्थिकनय-दृष्टि। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु एक, अविभाज्य और नित्य है। द्रव्यार्थिकनय पदार्थ को अनुत्पन्न और अविनष्ट मानता है। जबकि पर्यायार्थिक नय की दृष्टि में शाश्वतता नाम की कोई वस्तु नहीं है। वह मानता है कि पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न और विनष्ट होता है। अतः समस्त देहधारी आत्माएँ भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-पर्याय के अनुरूप परिवर्तनगामी हैं, किन्तु द्रव्यरूप से शाश्वत भी हैं। अतः साधक को चाहिए कि वह आत्मा को एकान्तनित्य मानने के भ्रम मे न रहे, अपितु वर्तमान में उसे संसार की अनित्यता से व्याप्त समझकर उस अनित्यता को शीघ्र ही दूर करके सिद्धों के समान नित्य और अचल बनाने का प्रयत्न करे।

वही नित्य अचल उत्तम स्थान को प्राप्त करते हैं

इस अध्याय की अन्तिम गाथा में अर्हतर्षि इसी तथ्य की ओर इशारा कर रहे हैं—

निच्चलं कयमारोग्गं थाणं तेल्लोक्क-सक्कयं ।
सवण्णुमग्गाणुगया, जीवा पावंति उत्तमं ॥४०॥

अर्थात्—'सर्वज्ञमार्ग के अनुगामी जीव त्रैलोक्य-सत्कृत (पूजित) आरोग्यकृत उस अचल उत्तम स्थान को प्राप्त करते हैं' ॥४०॥

इसका तात्पर्य यह है कि जो इस अनित्य, अशाश्वत और मोहमूढ़ता युक्त कर्माधीन ससार-परम्परा का सर्वथा विच्छेद कर देता है, वह वीत-रागता का पथिक बनकर मन की रागद्वेषात्मक दशाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है और एक दिन पूर्ण वीतरागता की स्थिति प्राप्त करके अपनी आत्मा को लक्ष्य स्थान पर पहुंचा देता है। वह सिद्धि-स्थान को प्राप्त कर लेता है, जो तीनों लोकों द्वारा पूज्य, निश्चल और सर्वोत्तम स्थान है।

बन्धुओ !

मैंने इस लम्बे अध्ययन के प्रवचन में आपके समक्ष संसार का स्वरूप, उसमें आसक्त तथा उससे अनासक्त होने वाले की स्थिति, संसार की अनि-त्यता, उस अनित्यता के मूल—कर्म, कर्म के मूल—मोह की विविध दशाएँ तथा ससार-परम्परा को तोड़ने मे साधक-बाधक तत्त्वों का सांगोपाग विश्लेषण किया है। आप इस पर मनन-चिन्तन करके संसार-परम्परा से मुक्त होने का पुरुषार्थ करें, यही मेरी मंगलभावना है।

□

२८

गर्भवास, कामवासना और आहार की समस्या

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

एक प्रश्न दार्शनिकों के सामने बार-बार उठा करता है कि अपने आप में आत्मा तो शुद्ध-स्वरूप है देहातीत है, फिर यह पुन: पुन: गर्भवास में क्यों आता है ? क्यों शरीर धारण करता है ? और किस कारण से पापों में प्रवृत्त होता है ?

आज हम इसी प्रश्न पर विचार करेंगे। प्रस्तुत पच्चीसवें अध्ययन का प्रारम्भ अर्हतर्षि अम्बड और यौगन्धरायण की विचारचर्चा से होता है।

अम्बड अर्हतर्षि भगवान् महावीर स्वामी के वैदिक उपासकों में एक थे जो अम्बड परिव्राजक के नाम से विख्यात हैं, तथा औपपातिक सूत्र एवं भगवतीसूत्र में जिनका विशद वर्णन है। उनकी वेशभूषा वैदिक संन्यासियों की-सी थी, व्रत-नियमों का वे दृढ़ता से पालन करते थे। अन्तर् से वे भगवान् महावीर के अनन्यभक्त थे। जीवन के सन्ध्याकाल में वे विचार और व्यवहार से प्रभु महावीर के सर्वव्रती शिष्य बन गए थे। उससे पूर्व उन्हें विविध वैक्रिय-लब्धियाँ भी प्राप्त थी। प्रस्तुत अध्ययन के उपदेष्टा अर्हतर्षि अम्बड वे ही अम्बड परिव्राजक हैं या दूसरे कोई अम्बड है ? यह विचारणीय प्रश्न है। परन्तु प्रस्तुत अध्ययन का अनुशीलन करने से तथा आगे अब्रह्मचर्य और परिग्रह का एक साथ निरूपण होने से ये अम्बडऋषि भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के मालूम होते हैं।

गर्भवास से विरक्ति

हाँ, तो अम्बड अर्हतर्षि और यौगन्धरायण की इस धर्मचर्चा में सर्वप्रथम अम्बड परिव्राजक यौगन्धरायण से पूछते हैं –

'तएणं से अंबडे परिव्वायए जोगंधरायणं एवं वयासी—

मणे मे विरई भो देवाणुप्पिओ ! गब्भवासाहिं कहं न तुयं बंभयारी ?'

और तभी अम्बड परिव्राजक ने यौगन्धरायण से इस प्रकार पूछा—

हे देवानुप्रिय ! मेरे मन में गर्भवासों से विरति है। ब्रह्मचारी ! क्या इनसे तुम्हारी विरति नहीं है ?

गर्भवास में पुनः पुनः कौन आते है ?

अम्बड परिव्राजक के इस प्रश्न का उत्तर यौगन्धरायण ब्रह्मचारी ने एक जैन साधक की भाँति ही दिया जिसका भावार्थ इस प्रकार है—

"—तब यौगन्धरायण ने अम्बड परिव्राजक से यों कहा कि (मुझे गर्भवास से विरक्ति ही है, क्योंकि) हारित अर्थात् पाप-कर्म से बद्ध पुरुष इन कर्मों से पापकर्म एकत्रित करते हैं। और जो पापकर्मों से अविमुक्त हारित—पापकर्म से बद्ध जीव हैं, वे पुनः गर्भवास में आते हैं। ऐसे लोग स्वयं प्राणियों की हिंसा करते है, दूसरे से प्राणियों की हिंसा करवाते हैं, जो अन्य लोग प्राणियों की हिंसा करते हैं, उनका अनुमोदन करते हैं, तथा उसके लिए प्रेरणा देते हैं। वे स्वयं असत्य (मृषावाद) बोलते है, दूसरे को उस (असत्य बोलने) के लिए प्रेरित करते है। ऐसे लोग अविरत हैं, पापकर्मों को आने से रोकते नहीं हैं, न हो पापकर्मों का प्रत्याख्यान करते हैं। वे अदत्ता-दान का भी सेवन करते हैं। दूसरो को उसके लिए प्रेरणा देते हैं। और अदत्तादान-सेवन करने का अनुमोदन भी करते हैं। इसी प्रकार स्वयं अब्र-ह्मचर्य-सहित परिग्रह का ग्रहण करते हैं, दूसरों को अब्रह्मचर्य-परिग्रह की प्रेरणा देते हैं और उसका अनुमोदन भी करते हैं।" (ये ही गर्भवास से अविरत हैं)।

यौगन्धरायण स्वयं ब्राह्मण हैं, मन्त्री भी हैं और ब्रह्मचारी भी। वे यहाँ त्रिकरण-त्रियोग से हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह से अविरत तथा अन्य पापकर्मों से अविरत, पापकर्मों को न रोकने वाले तथा उनका त्याग न करने वाले लोगों को पुनः पुनः गर्भवास में आने वाले कहते हैं। वस्तुतः गर्भवास में आने के मुख्य हेतु—तीन करण-तीन योग से नहीं त्यागे हुए ये पापकर्म ही हैं। गर्भवास में बार-बार आने का फलितार्थ है—भव-परम्परा की वृद्धि करना, बार-बार जन्म मरण करना, मुक्ति से बहुत दूर चले जाना।

गर्भवास में आसक्त पुरुषों का जीवन कैसा होता है ?, इसके लिए आगे यौगन्धरायण कहते हैं। जिसका भावार्थ यह है—

" --इसी प्रकार वे असंयत, अविरत, अप्रतिहत (पापकर्मों को न रोकने वाले), तथा पापकर्मों का प्रत्याख्यान न करने वाले, क्रियायुक्त होते हैं, असंवृत और एकान्तदण्डशील होते हैं, एकान्तबाल (अज्ञानी) होते हैं, वे विपुल पाप कर्म के कालुष्य को उपार्जित करके यहाँ से च्यव (मर) कर दुर्गतिगामी होते हैं। ये प्राणी आत्मा की शुद्ध परिणति के अपहारक अशुभ-वृत्तियों से हारे हुए (पराजित) हैं।

गर्भवास में पुनः पुनः आना अत्यन्त दुःखरूप है, परन्तु जो लोग इसे नहीं जानते, अथवा इसके कारणों से विरत नहीं हो पाते, अथवा इसके कारणों को जानना ही नहीं चाहते, ऐसे घोर अज्ञानग्रस्त लोग बिलकुल असंयमी होते हैं, वे किसी भी इन्द्रिय और मन पर या विषयों पर संयम नहीं रख सकते, वे पापकर्मों से बिलकुल विरत नहीं होते, पापकर्मों को रोकने (संवर) का वे प्रयत्न ही नहीं करते, उन्हें त्यागते भी नहीं हैं। वे कायिकी, प्राद्वेषिकी, अधिकरणिकी, परितापनिकी एवं प्राणातिपातिकी आदि २५ क्रियाओं में रत हैं। असंवृत—संवर से रहित हैं, वे अहर्निश आत्मा को अपनी अशुभपरिणति से दण्डित करते रहते हैं, अर्थात्—दण्ड और अज्ञान में रचे-पचे रहते हैं। वे अपने प्रचुर पापकर्मों के काले कारनामों के कारण दुर्गति के पथिक बनते हैं। यही उन आत्माओं की सबसे बड़ी हार है। वे मनुष्य-जीवन को इन पापकर्मों में डुबोकर बुरी तरह हार गये हैं।

ऐसे लोग स्वयं तो पापकर्मों में डूबे रहते ही हैं, अन्य अनेक लोगों को भी पापकर्म की प्रेरणा देते रहते हैं। पापकर्मों का अनुमोदन और समर्थन भी करते रहते हैं। जो पापकर्म करते हैं, उनकी पीठ ठोकते हैं, उनकी प्रशंसा करते हैं, उन्हें प्रतिष्ठा देते हैं, उनको पापकर्मों के लिए बधाई, पुरस्कार एवं अभिनन्दन भी देते हैं। इस प्रकार के उद्गार भी निकालते हैं कि "आजकल तो पापकर्म किये बिना कोई व्यक्ति सुख से जी ही नहीं सकता। 'करे पाप, खावे धाप।' पाप किये बिना पैसा प्राप्त नहीं हो सकता। पाप से ही आदमी सुखी होता है।" ऐसे लोग अपनी आने वाली पीढ़ियों को भी पापकर्म करने की ही शिक्षा और प्रेरणा देकर जाते हैं। वे संसार में पाप का ही वातावरण और माहौल पैदा करके जाते हैं।

गर्भवास के दुःख कितने उत्कट, कितने प्रबल ?

ऐसे लोग गर्भवास (पुनः पुनः जन्म-मरण) के दुःख को नजरअन्दाज कर देते हैं। हमारे महान् आचार्यों ने गर्भवास के दुःख को एक रूपक द्वारा समझाया है—

श्रेष्ठिपुत्र ललितांगकुमार घोड़ागाड़ी में बैठकर सैर करने जा रहा था। रास्ता राजमहल के पास से होकर जाता था। राजमहल के पास आते ही महल के झरोखे में बैठी हुई रानी की दृष्टि सुन्दर, सुडौल और गौरवर्ण वाले इस श्रेष्ठिपुत्र पर पड़ी। रानी उसे देखते ही कामविह्वल हो गई। उसने एक विश्वस्त दासी को भेजकर ललितांगकुमार को बुलाया। ललितांग के आते ही रानी ने अपने अग हाव-भाव आदि का प्रदर्शन करते हुए कहा—मैं आपको अपना हृदय समर्पित करती हूं। राजा अभी यहाँ नही है। आप निश्चिन्त होकर मेरे साथ सहवास कीजिए।' ललिताग भी रानी के रूप पर मुग्ध होकर वैसा करने के लिए तत्पर हो गया। संयोगवश कुछ ही देर में समाचार मिला कि 'राजाजी महलों में आ रहे है।' यह सुनते ही रानी एकदम चौंकी। ललितागकुमार भी घबराकर सोचने लगा—राजा मुझे देख लेंगे तो बुरी मौत मरवाएँगे या अन्य कठोर दण्ड देंगे। अतः उसने रानी से कहा—'मुझे झटपट छिपने की जगह बतला दो, ताकि मेरे प्राण बच सके।' रानी ने शौचालय की गन्दी कोठरी बता दी। और कहा—'देखो, राजाजी वहां शौच के लिए आ सकते हैं। इसलिए आप शौचालय में शौच क्रिया के गड्ढे में उलटे लटक जाइए, मैं आपके हाथ-पैर बाध देती हूँ। वहाँ किसी को आपके होने की शंका नही होगी।' ललितांग ने ऐसा ही किया। बेचारा दुर्गन्ध से भरे मल से लथ-पथ हो गया। बदबू के मारे नाक फट रहा था। कपड़े भी विष्ठा से भर गये। उलटा-लटकने से भी अंग-अंग में बेहद पीड़ा हो रही थी। वह थर-थर काँप रहा था। परन्तु मरता क्या नही करता? बेइज्जती और घोर सजा से बचने के लिए उस गदगी मे उलटा लटका रहा। राजाजी के जाने के बाद रानी ने शौचालय में जाकर देखा तो वह बेहोश हो गया था।

मै आपसे पूछता हू, मा के गर्भ मे बालक की स्थिति भी तो ऐसी ही होती है। गर्भवास में माता के मल-मूत्र स उसका शरीर लिपटा रहता है। ललितांगकुमार की तरह ही वह औंधा लटका रहता है, माँ के उदर मे। अपनी व्यथा या पीड़ा किसी से कह नही सकता। यह तो एक बार का गर्भवास है। ऐसे घोर पापकर्म करने वाले को तो अनन्त बार गर्भवास मे आना पड़ता है। कितना घोर कष्ट है, गर्भवास का?

ये महान् पुरुष पुनः गर्भवास में नहीं आते

अब यौगन्धरायण उन व्यक्तियों का परिचय दे रहे हैं, जो पुन. गर्भवास में नहीं आते। उनके कथन का भावार्थ इस प्रकार है—

"—जो आर्य आत्माएँ पापकर्म से विमुक्त हैं, वे पुनः गर्भवास में नही आतीं। वे स्वयं प्राणातिपात (हिंसा) नही करते, न ही दूसरो को हिंसा की प्रेरणा देते हैं, अनुमोदन भी नही करते हैं। (इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य, परिग्रह का भी त्रिकरण (कृत-कारित-अनुमोदन) त्रियोग (मन-वचन-काया) से सेवन नही करते) यावत् (वे संयत, विरत, प्रतिहत पापकर्मों का प्रत्याख्यान करने वाले) क्रियारहित होते हैं। वे एकान्ततः पण्डित होते है, राग-द्वेष से वे उपरत रहते हैं। वे त्रिगुप्तियों मे गुप्त होते हैं। मन आदि तीनों दण्डों से उपरत होते हैं, वे माया, निदान और मिथ्यादर्शन रूप तीनों शल्यों से रहित होते हैं। वे आत्मभाव के रक्षक होते हैं। उन्होने चारो कषायो पर विजय पा ली है। उन्होंने चारो विकथाओं को विवर्जित किया है। वे पंच महाव्रत सम्पन्न, तीन गुप्तियों से युक्त, पाँच इन्द्रियों से सुसंवृत, षट्-जीवनिकाय की रक्षा में भलीभाँति निरत, सात प्रकार के भय मे रहित, अष्टविध मदस्थान के त्यागी, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियो (बाड़ो) के पालन मे उद्यत, तथा दस प्रकार के समाधिस्थानो में उपयोग रखने वाले हैं, ऐसे महान् व्यक्ति बहुत से पापकर्मों तथा कलियुग के कालुष्य का क्षय करके यहा से च्यव (मर) कर सद्गतिगामी होते है।"

गर्भवास के अन्त करने का मतलब है—ससार-चक्र का अन्त करना। प्रस्तुत प्रकरण में यौगन्धरायण ने उस महापुरुष के उन गुणो का उल्लेख किया है, जो गर्भवास में पुन. आगमन की परिसमाप्ति के लिए अनिवार्य है। उस व्यक्ति का समस्त पापकर्मों से विमुक्त होना आवश्यक है। हिंसादि पाँच आस्रवों का त्रिकरण-त्रियोग से परित्याग आवश्यक है, क्योकि उसके बिना नये आने वाले कर्मों का निरोध (सवर) होना कठिन है। जो राग-द्वेष से परे है। इस विश्व में तथा समाज (सघ) में रहता हुआ भी जो इनके प्रति मोह तथा असक्ति से दूर रहता है। किसी भी पापकर्मबन्धक क्रिया का आरम्भ नहीं करता और न ही शुभक्रिया का अहकार करके कर्ममल से लिप्त होता है। जो छोटी-छोटी भूलों पर बारीकी से विचार करता है, किसी भी शुभ प्रवृत्ति मे भी माया, निदान और मिथ्यात्व के तीखे काटे न घुस जाए, इसकी पूरी सावधानी रखता है। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति पर पूरी पहरे-दारी रखता है। उसके मन, वाणी और काय-चेष्टा में एकरूपता होती है। इन्द्रियो और मन पर वह पूर्णतया संयम रखता है। कषायों पर उसका पूरा नियन्त्रण होता है। दण्ड, शल्य, विकथा, हिंसादि पाँच पापास्रव, कषाय, भय, मदस्थान एवं अब्रह्मचर्यस्थान, आदि वृत्तियां आत्मा को शुद्ध स्थिति प्राप्त करने में भयंकर रोड़े हैं। इन वृत्तियों का विजेता ही दश प्रकार की आत्म-

समाधि में लीन हो सकता है। ब्रह्मचर्य की प्रभा से जिसका मुख आलोकित रहता है। ऐसा महान् व्यक्ति ही गर्भवास में आगमन को सदा के लिए रोक कर संसार चक्र को समाप्त करने तथा परमात्मपद को प्राप्त करने में सक्षम हो सकता है।

उस महान् साधक का आहार-विहार और व्यवहार

प्रश्न यह उठता है कि पापकर्मों से सर्वथा विरत ऐसे महान् साधक का आहार, विहार और व्यवहार कैसा होता है ? इसका समाधान यौगन्धरायण के आगे के वक्तव्य में मिलता है। उस वक्तव्य का भावार्थ इस प्रकार है—

"—भगवन् अम्बड ! वे महान् साधक सूत्रमार्ग का अनुसरण करने वाले, क्षीणकषायी, दान्तेन्द्रिय होते हैं। वे शरीर धारण करने के लिए तथा योग (सयम) की साधना के लिए नवकोटि परिशुद्ध आहार ग्रहण करते हैं। साथ ही वह आहार एषणा (भिक्षाचरी के समय आहार गवेषणा) के दस दोषो से तथा सोलह प्रकार के उद्गम दोषों एवं सोलह प्रकार के उत्पादना दोषो से रहित होता है। अन्यान्य कुलों मे जो परकृत (दूसरों के लिए बनाया हुआ) होता है, उसी निर्दोष पिण्ड (आहार), शय्या, उपधि (उपकरण) की वे गवेषणा करते हैं। (फिर वह आहार परिभोगैषणा के) अंगार, धूम आदि दोषों से रहित होता है।"

"—(इसके अतिरिक्त) समुचित विनयोपचार में कुशल, सुन्दर, मधुर और रिभित (स्वर-माधुर्य से युक्त) सभापण करने वाली, अवसर पर (समयोचित), उचित गति, हास्य और वचन वाली, सुन्दर स्तन और जघाओं से सुशोभित और अनुपम रूपशालिनी नारियों को देखकर उनके मन के किसी कोने में भी वासना का उद्भव नहीं होता।"

जो साधक पापकर्मों से रहित एवं कामविजेता होता है, वह शास्त्र में कथित छह कारणो से आहार ग्रहण करता है। उत्तराध्ययन सूत्र (२६।३३) में वे छह कारण इस प्रकार बताये गये हैं—

वेयण-वेयावच्चे इरियट्ठाए या संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठ पुण धम्मचिंताए ॥

अर्थात्—क्षुधावेदना को शान्त करने के लिए, आचार्य आदि की सेवा (वैयावृत्य) के लिए, ईर्या (चर्या) के लिए, संयम-पालन के लिए, प्राण धारण

करने के लिए, तथा आत्म-धर्म चिन्तन करने लिए— इन छह कारणों से मुनि आहार ग्रहण करे तथा शरीर के प्रति अनासक्त निर्ग्रन्थ मुनि आहार भी तभी लेते है, जब वह गवेषणा और ग्रहणैषणा के कुल बयालीस (१६ उद्गम के, १६ उत्पादना के और १० एषणा के) दोषों से रहित हो। तथा वह आहार दूसरों के लिए बनाया हुआ हो, अर्थात् साधु के निमित्त— उद्देश्य से न बना हो, तभी वह ग्रहण करता है। इन्ही नियमो के अनुसार वह आवश्यकतानुसार पिण्ड (आहार), शय्या और उपधि (उपकरण) की गवेषणा करके लेता है। तथा अंगार, धूम आदि पांच परिभोगैषणा (भोजन करते समय लगने वाले) दोषो को वर्जित करता है। कामविजेता साधु का आहार-विहार नियमित होता है। मन, वचन और काया से अशुद्ध आहार ग्रहण न करना, न कराना और न ही अनुमोदन करना, इस प्रकार नवकोटि-परिशुद्ध आहार का ही वे ग्रहण और उपयोग करते है।

और सबसे महत्त्वपूर्ण गुण उनमे यह होता है कि वे समाज में रहते हैं, तब उनके दर्शन और प्रवचन श्रवण तथा भक्ति उपासना के लिए मधुर संभाषिणी, रूपवती ललनाएँ आती हैं, परन्तु उनको देखकर उनके मन के किसी कोने में भी काम-विकार पैदा नहीं होता। वे सबसे निर्लेप, निःसग एवं निःस्पृह रहते हैं।

सराग होते हुए भी कामवासना क्यों नहीं उत्पन्न होती ?

प्रश्न होता है कि उनके समक्ष सुन्दर नारियो की प्रत्यक्ष उपस्थिति होते हुए भी उनके मन में लेशमात्र भी कामवासना उत्पन्न नही होती, इसका क्या कारण है ? जबकि ऐसे साधक छद्मस्थ और सरागी होते है। इसी प्रश्न को उठाकर अर्हतर्षि इसका युक्ति-युक्त समाधान करते है

प्रश्न—से कधमेतं विगत रागता ?

(समाधान) सरागस्स वियणं अविबल हतमोहस्स, तत्थ-तत्थ इतराइतरेसु कुलेसु परकड जाव पडिरूवाओ पासित्ता णो मणसा वि पाउब्भाओ भवति, त कहमिति ?

मूलघाते हतो रुक्खो, पुप्फघाते हत फलं।
छिण्णाए मुद्धसूइए, कतो तालस्स रोहण ? १॥

प्रश्न है—(उन महापुरुषों मे) वीतरागता कहां से आ गई ?

समाधान इस प्रकार है—यद्यपि वे अभी सराग हैं, तथापि उन्होंने

मोह को अपेक्षाकृत पराजित या उपशान्त कर दिया है। (यही कारण है कि) वे यहाँ-वहाँ अन्यान्य कुलों से परकृत आहार आदि का उपभोग करते हैं, यहां तक कि (यावत्) सुन्दर रूपवती नारियों को देखकर भी उनके मन में काम आदि विकारों (पापों) का प्रादुर्भाव नहीं होता।

प्रश्न—भगवन् ! ऐसा कैसे हो जाता है ?

उत्तर—जैसे जड़ को नष्ट कर देने पर वह वृक्ष नष्ट हो जाता है; फूल को समाप्त कर देने पर फल स्वयं नष्ट हो जाता है। क्या ताड़ वृक्ष के शिरोभाग को सुई से छेद देने पर उसकी वृद्धि सभव है ? (कदापि नहीं।) (इसी प्रकार जिसने काम वासना की जड़ को नष्ट कर दिया है, उसके मन में कामवासना उत्पन्न नहीं हो सकती।)

प्रस्तुत सूत्र मे ऐसी शंका उठाई गई है कि साधक अभी सराग है। वह वीतरागता का पथिक अवश्य है, किन्तु अभी तक उसने पूर्ण वीतरागता प्राप्त नही की है। ऐसी स्थिति में आहार आदि के लिए क्या उसके मन में कामना या आसक्ति नहीं होती ? अथवा उसके दर्शन, प्रवचन श्रवण आदि के लिए आने वाली सुन्दर सुन्दर युवतियों का सम्पर्क होने पर भी उसके मन मे कामराग क्यों नही उत्पन्न होता ? इसका समाधान यहाँ दो प्रकार से किया गया है।

(१) यद्यपि जिसका मोह उपशान्त या क्षीण हो गया है, ऐसा व्यक्ति ही सम्पूर्ण कामविजेता हो सकता है, तथापि ऐसे कई सराग व्यक्ति भी वीतरागता के पथिक होते है, जो कामना एव कामवासना पर विजय पा लेते हैं। उनकी साधना भी इतनी तीव्र एवं प्रमादरहित होती है कि उनके मन में कभी दोषयुक्त आहारादि ग्रहण करने की कामना नहीं पैदा होती, न ही कभी कामवासना उत्पन्न होती है।

(२) वृक्ष के मूल को नष्ट कर देने पर वह वृक्ष नष्ट हो जाता है, फूल के नष्ट होने पर फल भी नष्ट हो जाता है, तथैव ताड़ के मस्तक के भाग को सुई से छेद देने पर वह आगे नहीं बढ़ पाता, इसी प्रकार साधक के मन में कामना एव वासना की जड़ उखड़ जाने से तथाकथित कामना एव कामवासना उसके मन में अकुरित नही होती।

अप्रमत्त साधक की साधना में स्खलना नहीं होती

इसी प्रकार की सतत जागृति यदि जीवन में आ जाए तो वह साधक

कभी अपनी साधना से स्खलित नहीं हो सकता। अप्रमत्त साधक का उद्देश्य ही है--वृत्तियों पर विजय पाना।

इस सम्बन्ध में मुझे एक उदाहरण याद आ रहा है—

एक गुरुभक्त शिष्य ने जिज्ञासावश गुरु से पूछा—गुरुदेव ! एक बात मेरे मन को कुरेदती रहती है कि आपके दर्शनार्थ अनेक रूपवती बालाएँ एव वधुएँ आती हैं। क्या उन्हें देखकर आपका मानसिक ब्रह्मचर्य स्खलित नहीं होता ?

शिष्य का प्रश्न बहुत गहरा और चुनौती भरा था। गुरु को तो उत्तर देना ही था, किन्तु तर्क से उत्तर देने मे वह शिष्य के गले नही उतरता अतः अनुभवपूर्ण उत्तर देने का सोचा। गुरु ने आँखे लाल कीं और कृत्रिम आवेशपूर्ण मुद्रा में शिष्य से कहा—इसका उत्तर तो मैं बाद में दूंगा। परन्तु यह समझ ले कि सात दिनों में तेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है।

शिष्य यह सुनकर घबराया। उसने गुरुजी मे क्षमा माँगते हुए कहा —गुरुदेव ! मुझे बचाइए। मालूम होता है आप मेरे प्रश्न को आक्षेपात्मक समझ गए हैं, पर मैंने तो जिज्ञासावश ही ऐसा कठोर प्रश्न किया था।

गुरु ने कहा—मृत्यु से बचाने की तो मेरे में क्या, किसी भी शक्ति में ताकत नहीं है। परन्तु मेरी बात माने तो तू इन सात दिनों को आर्त्तध्यान में मत गंवा। मेरे पास बैठ। आत्म-चिन्तन और प्रभु स्मरण कर।

शिष्य अब गुरु के समीप ही बैठने लगा। दर्शनार्थी भक्त और भक्ताएँ आतीं, रूपवती युवतियां भी आती और भक्तिभावपूर्वक गुरु और शिष्य दोनों को वन्दन करके चली जाती।

सात दिन व्यतीत हो गए, किन्तु शिष्य को मृत्यु का साक्षात्कार नही हुआ तो आठवे दिन शिष्य ने पूछा—गुरुदेव आपने ! तो कहा था कि सात दिनों में तेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है, परन्तु ऐसा तो नहीं हुआ।

गुरु मुस्कराकर बोले—निःसन्देह मृत्यु तो रविवार से लेकर शनिवार तक इन सात दिनों मे ही कभी होगी। किन्तु एक बात तो बता कि क्या इन विगत सात दिनों में तेरा मन उन दर्शनार्थी देवियों के रूप में मुग्ध हुआ ? क्या तेरा मानसिक ब्रह्मचर्य स्खलित हुआ ?

शिष्य ने अपने बीते दिनो का स्मरण कर कहा—गुरुदेव ! इन सात दिनों में तो सतत एक भय था, जो मेरे जीवन को बाँधे हुए था, जिसने मेरे

जीवन को अन्तर्मुख कर दिया था ; वह थी मृत्यु ! इन सात दिनों में मृत्यु ही मेरी आँखों और मन-मस्तिष्क में नाचती रही। मुझे उन रूपवती ललनाओं के रूप को देखने का, उनमें मुग्ध होने का एक बार भी ध्यान नहीं आया।

गुरु ने शिष्य को समझाते हुए कहा—यही तेरे उस दिन के प्रश्न का उत्तर है। मृत्यु मेरे समक्ष प्रतिक्षण रहती है, तब कामवासना कैसे आ सकती है ? जिसके मन मे प्रतिक्षण मृत्यु की उपस्थिति का विचार बना रहता है, उसका जीवन कामविकार या किसी भी पाप में डूब नहीं सकता। कामवासना के प्रबल निमित्त भी उसके समक्ष उपस्थित हों, तो भी वह उनसे अछूता रहता है ; क्योंकि मृत्यु उसे प्रतिक्षण जागृत किये रहती है।

कामवासना पर विजय की साधना कैसे सम्भव है ?

फिर भी कामवासना इतनी प्रबल है कि उसके जन्म जन्म के संस्कारों की परतें अज्ञात (सूक्ष्म) मन में जमी रहती हैं, वह निमित्त मिलते ही पुनः उभर सकती है। जैसे राख मे ढकी हुई अग्नि वायु का निमित्त मिलते ही प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार कामवासना भी प्रबल निमित्त मिलते ही पूर्व संस्कारवश भड़क सकती है।

अत इस सम्बन्ध में पुनः इस प्रकार की शका उठाते हुए अर्हतर्षि कहते हैं

> प्रश्न 'से कथमेतं ? हत्थि महारुक्ख-णिदरिसणं।'
> उत्तर 'तेल्लापाउधम्मं, किंपागफल-णिदरिसणं।'

अर्थात्- (प्रश्न है कामवासना पर विजय की) यह साधना कैसे सम्भव है ? क्योंकि जिस प्रकार हाथी एक महावृक्ष को उखाड़ सकता है, उसी प्रकार काम साधनारूप वृक्ष को उखाड़ सकता है।

इसका उत्तर दो दृष्टान्तों द्वारा दिया गया है-- साधक तेलपात्रधारक की भाँति अप्रमत्त होकर घूमे तो काम से बच सकता है। अथवा भौतिक सुखों में किम्पाकफल की छाया देखे।

तात्पर्य यह है कि साधक ग्राम और नगरो में विचरण करता है। आँखों का स्वभाव देखने का है। सौन्दर्य उसके सामने आता है, तब भी वह देखता है और कुरूपता आती है, उस पर भी उसकी दृष्टि पड़ती है। साधक अपने मन को उस समय नेत्रेन्द्रिय के साथ न जोड़े। मन पर वह विवेक का अंकुश रखे, आत्मा की पहरेदारी रखे। कामवासना के कटु परि-

णाम उसके आन्तरिक चक्षु के समक्ष रहेंगे तो वह अपने मन को साधने में सफल हो सकेगा। साधक गाफिल होकर कभी न रहे। उच्च से उच्च श्रेणी पर पहुंचकर भी प्रबल निमित्त मिलते ही गिर सकता है। जिस प्रकार एक मतवाला हाथी किसी विशाल वृक्ष को एक ही प्रहार में उखाड़ सकता है, उसी प्रकार काम भी बर्षों की साधना को नष्ट कर सकता है। इस ध्रुव सत्य को साधक अपनी आँखों के समक्ष रखे।

दूसरा सक्रिय समाधान अर्हतर्षि ने तेलपात्र धारक के उदाहरण से दिया है। वह इस प्रकार है—

अयोध्या के उपवन मे भगवान् आदिनाथने विशाल परिषद् के समक्ष देशना दी कि 'महारम्भी और महापरिग्रही मर कर नरक में जाता है।'

उस परिषद् में बैठे एक सुनार ने सहसा प्रश्न किया—'प्रभो! ये चक्रवर्ती मर कर कहाँ जायेंगे।'

प्रभु ने कहा—'यह अल्पारम्भी चक्रवर्ती इसी भव में सम्पूर्ण कर्मों का क्षयकर मोक्ष प्राप्त करेगा।'

उसने अविश्वास के स्वर में कहा—'आपके पुत्र है, इसीलिए मोक्ष तो मिलेगा ही।'

चक्रवर्ती भरत ने ये अस्पष्ट शब्द सुने। सोचा—इसे प्रभु की बात पर विश्वास नहीं है, अतः इसे युक्ति से समझाना चाहिए।

अगले दिन भरत चक्रवर्ती ने अपना अनुचर उसे बुलाने के लिए भेजा। अनुचर ने कहा—चलो, मेरे साथ अभी का अभी, चक्रवर्ती ने बुलाया है। यह सुनने ही सुनार की सिट्टीपिट्टी गुम हो गई। सोचा—पता नही चक्रवर्ती क्या दण्ड देंगे? कल मैंने उनके सम्बन्ध में प्रश्न पूछकर बड़ी मूर्खता की। अनुचर ने उसे चक्रवर्ती के समक्ष उपस्थित किया। चक्रवर्ती ने कहा 'लो, यह तेल का लबालब भरा कटोरा। इसे हाथ में लेकर अयोध्या के सभी बाजारों में घूम आओ। लेकिन, खबरदार! एक बूँद भी नीचे नही गिरनी चाहिए, अन्यथा, ये दो अंगरक्षक तुम्हारी गर्दन उतार लेंगे।' अंगरक्षकों को भरत चक्रवर्ती ने कुछ समझाकर उक्त सुनार के साथ कर दिया। आगे-आगे तेल का कटोरा हाथ मे लिये हुए वह सुनार चल रहा था और पीछे-पीछे अंगरक्षक।

सुनार ने सोचा—'आज मौत सिर पर है। तेल का कटोरा लिए क्या चल रहा हूँ, मौत को लिए चल रहा हूँ।' सुनारपूरी सावधानी के साथ अयोध्या के बाजारों में घूमा और सन्ध्या समय जब सकुशल पहुंचा, तब जी मे जी आया। उसने तेल का कटोरा नीचे रखकर संतोष की साँस ली। चक्रवर्ती ने पूछा—'अच्छा, यह बताओ कि अयोध्या के बाजारों में तुमने क्या क्या देखा?

वह बोला—"क्षमा करें। अयोध्या के सारे बाजार इस तेल के कटोरे में थे। मेरे सिर पर तो मौत मँडरा रही थी, फिर बाजारों की चहल-पहल देखने-सुनने की रुचि ही कैसे होती? मेरे तो प्राण सूख गये थे।"

चक्रवर्ती ने कहा—"अब तो तुम्हें अपने प्रश्न का समाधान मिल गया होगा?"

सुनार—"कैसा समाधान? मुझे तो मौत ही मौत हरदम दिखाई देती थी।"

हँसते हुए चक्रवर्ती ने कहा—"मैंने तो तुम्हें समाधान के लिए बुलाया था, मारने के लिए नहीं। प्रभु के द्वारा दिये गये समाधान के प्रति तुम्हें अविश्वास था, उसे ही मुझे दूरकरना था। अयोध्या के रागरंग तुम्हें लुभा न सके, क्योंकि मौत तुम्हारे सिर पर झूम रही थी। ठीक इसी प्रकार छह खण्ड का विशाल साम्राज्य भी मुझे लुभा नहीं सकता। भले ही, मेरे चारों ओर भोग और विलास का वातावरण हो। मैं इससे निर्लेप रहता हूं।"

तेलपात्रधारक को अपने प्रश्न का समाधान मिल गया।

तेलपात्रधारक की यह कहानी एक ओर अनासक्ति का सन्देश देती है तो दूसरी ओर यह प्रतिक्षण सावधानी एवं एकाग्रता का भी पाठ पढ़ाती है। साधक भी इस तेलपात्रधारक की भाँति प्रतिक्षण सावधान रहे तो कामवासना से अलिप्त रह सकता है। साथ ही अज्ञानी जीवों को मीठे लगने वाले इन कामभोगों में वह किम्पाकफल की छाया देखता रहे। इन दोनों उपायों से वह मन को साध सकेगा।

तीन रूपकों द्वारा साधक के आहार ग्रहण करने का विधान

मन के साथ तन की भी कुछ समस्या है। मन को जिस प्रकार मारना नहीं साधना है, उसी प्रकार तन को भी सदा के लिए भूखे-प्यासे रखकर मारना नहीं, उसे भी साधना है। साधक तन की रक्षा के लिए आहारादि विविध उपायों में होने वाले संभावित पाप-दोष से दूर रहे।

साधक शरीर के लिए आहार भी ग्रहण करे और उसे उसमें पाप-दोष भी न लगे; यह देखना है। साधक शरीर को पुष्ट करने और वृत्तियों को खुलकर खेलने देने के लिए आहार नहीं करता। किन्तु वह आहार इसलिए करता है कि शरीरसे उसे काम लेना है; धर्मपालन करना है, आत्मधर्म का चिन्तन करना है, प्राण धारण करना है, गुरु आदि की सेवा भी करनी है। इसी दृष्टि से अर्हतर्षि कहते हैं—

'से जधा णाम ते साकडिए अक्खमक्खेज्जा, एस मे णो भज्जिस्सति, भारं च मे वहिस्सति, एवमेओवमाए समणे णिग्गथे छहिं ठाणेहिं आहार आहारेमाणे वा णो अतिक्कमेति, वेदणा वेयावच्चे० त चेव ···।'

'से जधा णाम ते जतुकारए इगालेसु अगणिकाय णिसिरेज्जा एस मे अगणिकाए णो विज्झाहिति जतुं च ताविस्सामि, एवमेवोवमाए समणे णिग्गथे छहिं ठाणेहिं आहारं आहारेमाणे णो अतिक्कमेति, वेदणा वेयावच्चे तं चेव··· ···।'

'से जधा णाम ते उसुकारए तुसेहि अगणिकाय णिसिरेज्जा, एस मे अगणिकाए णो विज्झातिस्सति, उसुं च ताविस्सामि एवमेवोवमाए समणे णिग्गथे० सेव त चेव········,'

अर्थात्—जैसे कि एक गाड़ीवान अपनी गाड़ी के पहिये की धुरी के लिए कहता है—मेरी गाडी की यह धुरी नहीं टूटेगी तो यह मेरा भार भी ढो सकेगी। इसी उपमा से मुनि का आहार उपमित है। श्रमण निर्ग्रन्थ यदि इन ६ कारणों से आहार करता है तो वह धर्म मर्यादा का उल्लंघन नही करता।

वे ये है—वेदना, वैयावृत्य, ईर्यासमिति, सयम, प्राणनिर्वाह और धर्मचिन्तन।'

'जैसे एक लखारा कोयलों में आग प्रज्वलित करता है और विचार करता है कि यह आग बुझ न जाए, उससे पहले ही मैं लाख को तपा लूँगा। इसी उपमा से मुनि के आहार को उपमित किया है। श्रमण निर्ग्रंथ छह कारणों से आहार करता हुआ इत्यादि पूर्ववत्।'

'जैसे कि एक इक्षुकार (गन्ने का रस उकालने वाला) तुस (भुस्से) से अग्नि प्रज्वलित करता है और सोचता है कि ईंधन बुझ न जाए, तब तक मैं इक्षुरस को गर्म कर लूँगा। इसी प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थ आहार का सेवन करता है इत्यादि पूर्ववत्।'

यहाँ तीन रूपकों द्वारा मुनि को आहार किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए इसकी प्रेरणा दी गई है।

साधक की देह एक गाड़ी है। जैसे गाड़ीवान यह सोचता है कि गाड़ी (धुरी से) सुरक्षित रहेगी तो मेरा भार यथास्थान पहुँच सकेगा। इसी प्रकार मुनि भी यही सोचे कि शरीर सुरक्षित रहेगा तो धर्मपालन आदि कार्य हो सकेंगे। अतः पहले बताए हुए छह कारणों से वह आहार करता है।

मुनि के आहार ग्रहण का लक्ष्य शरीर-पुष्टि का न रहकर शरीर-निर्वाह का रहे। जैसे लखारा ईंधन को प्रज्वलित करते समय यह सोचता है कि ईंधन बुझे, उससे पहले ही मैं अपना कार्य सम्पन्न कर लूं। इसी प्रकार

साधक भी यही सोचे कि जब तक यह शरीर है, तब तक मुझे आत्म-साधना कर लेनी चाहिए।

लाक्षाकार की तरह इक्षुकार (गन्ने का रस उकालने वाला) भी अपना लक्ष्य आग के द्वारा सिद्ध करना चाहता है। इसी प्रकार मुनि भी साधना करना चाहता है, उसके लिए शरीर का सहयोग आवश्यक है। जब तक शरीर स्वस्थ है, मुनि साधना में स्थित रह सकेगा। आहार से शरीर समाधिस्थ रहता है। यदि शरीर स्वस्थ और समाधिस्थ न हुआ तो मन और बुद्धि भी स्वस्थ और समाधिस्थ नहीं रहेंगे। समाधि और स्वस्थता के अभाव में साधक को आर्तध्यान और रौद्रध्यान होना सम्भव है। अतः मुनि के लिए शास्त्रीय विधान है कि वह योग्य कारण के उपस्थित होने पर अवश्यमेव आहार करे।

इस प्रकार आहार के लिए पूर्वोक्त बातों को तथा इन रूपकों को ध्यान में रखा जाएगा तो मुनि साधना में दृढ़ रहेगा, पापकर्म के बन्धन से अलिप्त रहेगा। रत्नत्रय की साधना करता हुआ वह अपने लक्ष्य को भी सिद्ध कर सकेगा। आप लोग भी इसी उद्देश्य को ध्यान में रखेंगे तो पाप-कर्मों के भार से बहुत हल्के रह सकेंगे।

□

२८

स्वधर्म और परधर्म का दायरा

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

मनुष्य जब से जन्म लेता है, तब से मृत्यु-पर्यन्त श्वासोच्छ्वास की तरह, जो साथ ही रहता है, आस्तिक दर्शन उसे धर्म कहते है। दूध में घी, अरणि मे अग्नि और चन्द्र मे चांदनी आदि की तरह जो आत्मा मे रहे, वह धर्म है। धर्म का लक्षण आचार्य कुन्दकुन्द ने किया है– "वत्थु-सहावो-धम्मो' — वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। यह तो हुआ निश्चयदृष्टि मे आत्मधर्म का लक्षण। परन्तु व्यवहार में जब हम धर्म का आचरण करते हैं, उस समय धर्म की परिभाषा इस प्रकार होती है—

'जो समाज का धारण पोषण और रक्षण करे, समाज को सुखमय बनाए, वह धर्म है।'

धर्म न हो तो समाज की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। अराजकता छा सकती है। एक ब्राह्मण है, उसका कार्य है—पठन-पाठन कराना, परन्तु शास्त्रजीवी ब्राह्मण यदि उस नीति का उल्लंघन करके शास्त्र के अर्थ का अनर्थ करने लगे, पशुबलि को धर्म बताने लगे, तो वह धर्म से च्युत होता है। एक क्षत्रिय है, उसका कार्य है—न्याय और सुरक्षा करना। वह शस्त्रजीवी है। परन्तु अगर वह निर्बलो पर शस्त्र चलाने लगे, प्रजा पर अन्याय और अत्याचार करने लगे तो वह अपने धर्म से च्युत होता है। इसी प्रकार वैश्य का धर्म है—जो चीज यहाँ नही मिलती, उसे दूसरी जगह से लाकर जनता को मुहैया करना और बदले में अपना उचित पारिश्रमिक ले लेना। परन्तु वैश्य यदि महगाई करके कीमत बढ़ाने लगे, जनता को लूटने और शोषण करने लगे तो वह अपने धर्म से भ्रष्ट होता है। इसी प्रकार शूद्र का कार्य है—सेवा करना। वह श्रमजीवी है, शिल्पी है। विविध शिल्प द्वारा वह जनता

को विविध प्रकार से सेवा करता है। इस सेवा के बदले वह उचित पारिश्रमिक ले लेता है। एक भारतीय विद्वान् ने कहा है—

ज्ञानदो ब्राह्मणः प्रोक्तः, त्राणदः क्षत्रियः स्मृतः।
प्राणदो ह्यन्नदो वैश्यः, शूद्रः सर्वसहायकः॥
शिक्षको ब्राह्मणः प्रोक्तः, रक्षकः क्षत्रियः स्मृतः।
पोषकः पालको वैश्य धारकः शूद्र उच्यते॥

'ज्ञानदाता ब्राह्मण कहा गया, रक्षादाता को क्षत्रिय कहा. प्राणदाता और अन्नदाता को वैश्य तथा शूद्र को सर्वसहायक कहा गया। शिक्षक को ब्राह्मण, रक्षक को क्षत्रिय, पोषक और पालक को वैश्य और धारक को शूद्र कहा गया।

धर्म का जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जीवन की प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति उस सर्वव्यापी धर्म से आलोकित रहनी चाहिए, तभी समाज में विचार और आचार शुद्ध रह सकते हैं।

अतः चारों वर्णों का धर्म, जो सारे समाज में लागू होता है, वह तो सबका एक समान है। उसके बिना चातुर्वर्ण्य समाज चल नहीं सकता। महाभारत में चारो वर्णों के धर्म का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

अहिंसा, सत्यमस्तेयमकाम-मक्रोध-लोभता।
भूत-प्रिय-हितेहा च धर्मोऽय सार्ववर्णिकः॥

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा काम, क्रोध और लोभ पर विजय, प्राणियों के प्रति शुद्ध प्रेम, उनके हित ही चेष्टा, यह सभी वर्णों का धर्म है।

आशय यह है कि धर्म अपने आप में सर्वव्यापक होता है। चारों वर्णों का सर्वव्यापक धर्म ऐसा होना चाहिए, जो स्वस्थ एवं सशक्त समाज का निर्माण करे। चारों वर्णों में परस्पर मैत्री, बन्धुता और प्रेम हो। यही अहिंसा है। इससे चारों वर्णों वाले समाज में एक वर्ण को दूसरे वर्ण वाले के साथ टक्कर, संघर्ष या प्रतिस्पर्द्धा नही होगी। चारों ही वर्ण वाले समाज को धर्मनिष्ठ, स्वस्थ, उन्नत एव सत्त्वशील बनाने का प्रयास करेंगे। समाज आन्तरिक सम्पदा से भी सम्पन्न होगा, उसका चरित्रबल ब गा।

सत्य का फलितार्थ यहाँ समाज में प्रामाणिकता और पवित्रता से है। चारों ही वर्ण वाले प्रामाणिकता रखेंगे तो समाज में एक-दूसरे के प्रति विश्वास का वातावरण तैयार होगा। पवित्रता से समाज तेजस्वी बनेगा।

अस्तेय का फलितार्थ है--समाज में एक-दूसरे के अधिकारों का हरण न होना, एक दूसरे का शोषण-उत्पीड़न, मिलावट, धोखेबाजी, बेईमानी,

तस्करी, तौल-नाप में गडबड़, बनावट वस्तु में हेराफेरी आदि का कतई त्याग हो।

काम, क्रोध और लोभ, ये समाज को रसातल मे पहुंचाने वाले नरक के द्वार हैं। काम-विजय का फलितार्थ यहाँ व्यभिचार, परस्त्रीगमन एव यौन स्वच्छन्दता के त्याग से है। कोधविजय का फलितार्थ है—आवेश मे आकर एक दूसरे वर्ण के घरों को आग लगा देने, मारपीट करने, तोड़फोड़, दंगा एवं उपद्रव के त्याग से है।

लोभविजय का फलितार्थ है—चारो वर्णों मे दहेज, ब्याज, गबन, भ्रष्टाचार, जूआ-सट्टा, रिश्वतखोरी आदि के कारण जो लोभवृत्ति बढ़ी है, उससे विरत होना। प्राणिमात्र के प्रति शुद्ध प्रम, आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना को चरितार्थ करना है। ऐसी भावना वाला मासाहार, मद्यपान एवं शिकार कर ही नहीं सकता। प्राणियों के हितों की चेष्टा भी तभी होगी, जब उनके प्रति दिल में उदारता, दु.ख और पीड़ा के समय सहानुभूति, दया और करुणा होगी।

इसी प्रकार चतुर्विध वर्णधर्म के साथ नीति का अनुबन्ध जोड़ा गया, ताकि चारों वर्णों में परस्पर एक दूसरे के कर्म—कर्तव्य में टक्कर न हो। नैतिकता का अनुबन्ध जिस धर्म के साथ न हो, वह चिरकाल तक टिक नहीं सकता। महाकवि शेक्सपीयर ने कहा—

A religion without morality is tree without root, and a morality without religion is root without tree.

अर्थात्—नैतिकता (नीति) के बिना धर्म, मूलरहित वृक्ष है, और धर्मविहीन नैतिकता (नीति) भी वृक्षरहित,जड़ है।

अत. चातुर्वर्णिक धर्म का नीति के साथ गाढ़ सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा अधूरा है।

प्रस्तुत छब्बीसवे अध्ययन में मातंग अर्हतर्षि ने इसी वर्णधर्म-सम्बन्धी तथ्यों को प्रकाशित करते हुए कहा—

कतरे धम्मे पण्णत्ते सव्वा महाउसो ! सुणेह मे।
किण्णा बंभण-वण्णाभा, जुद्धं सिक्खति माहणा ॥१॥

'(उस महामुनि ने) कितने प्रकार के धर्म बतलाए हैं ? सभो आयुष्मानो ! तुम लोग मुझसे सुनो। (आश्चर्य है) ये ब्राह्मणाभास माहन श्रावक युद्ध क्यों करते हैं ?'

वास्तव में बहुत-से तथाकथित ब्राह्मण जैसे दिखाई देने वाले लोग हैं। जो आकृति से ब्राह्मण दिखाई देते हैं, परन्तु प्रकृति से वे ब्राह्मण के बदले

क्षत्रिय हैं, वे लोगों को युद्ध (अकारण ही युद्ध) की शिक्षा देते हैं। अर्थात्—हिंसा का प्रसार करते है, हिंसा का उपदेश देते हैं।

तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण जब अपना नीतियुक्त धर्म का दायरा छोड़कर दूसरे वर्ण के धर्म को अपनाने लगता है, तब नीति-धर्म नष्ट होने से समाज में टकराहट, प्रतिस्पर्द्धा, ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध, युद्ध आदि हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ पनपती हैं।

भगवान् महावीर ने—

'कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।'

कहकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र, चारों ही वर्णों को अपने-अपने नैतिक कर्तव्य के कारण ब्राह्मण आदि कहा है। इसी प्रकार गीता (अ ४/१३) में कहा है—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म विभागशः।'

अलग-अलग गुण (योग्यता या विशेषता) और कर्म (नैतिक कर्तव्य) का विभाग करके मैंने चार वर्ण बनाए हैं।

इसी दृष्टि से चारों वर्णों के नैतिक कर्तव्ययुक्त धर्म का उल्लंघन करने वाले स्वधर्म को छोड़कर क्षत्रियधर्मी शस्त्रजीवी एवं युद्धशिक्षक बनने वाले ब्राह्मणों पर कटाक्ष करते हैं। वस्तुतः ब्राह्मणों के नैतिक कर्तव्ययुक्त धर्म का दायरा है अध्ययन, अध्यापन एवं तत्त्व चिन्तन करना।

महाभारत में कहा है—

तपः श्रुतं च योनिश्च ब्राह्मण्ये कारण परम्।
तप. श्रुताभ्यां यो हीनो, जाति ब्राह्मण एव सः॥

अर्थात्—तपस्या और शास्त्रज्ञान इन दोनों का उत्पत्तिस्थान ब्राह्मणत्व का परम कारण है। जो ब्राह्मण तप और श्रुत से हीन है, वह जाति (जन्म) से ही ब्राह्मण है, (गुण-कर्म से नहीं।)

जिसकी जो वृत्ति है, वही उसका नैतिक कर्तव्ययुक्त धर्म है। उक्त धर्मानुसार जो कार्य करता है, वह उसमें सफल और विशेषज्ञ होता है। ब्राह्मणवृत्ति वाला ही ब्राह्मण है। वह जब अपने वर्णधर्म का उल्लंघन करके ब्राह्मण कुल में जन्मे परशुराम की तरह क्षत्रिय के नैतिक कर्तव्य-धर्म में प्रवृत्त होता है, तब वह स्वधर्म को छोड़कर परधर्म में प्रवृत्त होता है। गीता (अ. ३/३५) में भी यही कहा गया है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

अर्थात्—स्वधर्म में ही रत रहकर मृत्यु पाना श्रेयस्कर है, किन्तु परधर्म में प्रवृत्त होना भयावह है।

इसका तात्पर्य यह है कि जैसे एक ब्राह्मण है, वह अपने गुण एवं नैतिक कर्तव्य को छोड़कर क्षत्रिय धर्म अपना ले, तो वह क्षत्रिय धर्म से अनभिज्ञ एव अनभ्यस्त होने के कारण उसमें सफल नहीं हो सकेगा, और समाज की व्यवस्था को भी बिगाड़ेगा। वह 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' हो जायगा। न तो वह ब्राह्मणधर्म का पालन कर पायेगा, और न क्षत्रिय-धर्म का।

इसी प्रकार एक साधु है, वह अपने साधुधर्म के नैतिक कर्तव्य को छोड़कर गृहस्थधर्म अपना ले, तो उसमें अनभिज्ञ होने के कारण सफल न हो सकेगा, साधुधर्म से तो भ्रष्ट हो ही जायगा।

हाँ, यह बात दूसरी है कि कोई व्यक्ति आज गृहस्थधर्म का पालन कर रहा है, परन्तु बाद में सर्वविरत होकर साधुधर्म को अपना ले। अथवा कोई ब्राह्मण के घर में जन्मा हुआ व्यक्ति क्षत्रिय वर्ण के नैतिक कर्तव्य को अपनाकर क्षत्रियवर्ण का बन जाए। इसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है। अर्हतर्षि आगे इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

> रायाणो वणिया जागे, महणा सत्थजीविणो।
> अधेण जुगणद्धे वि-पल्लत्थे उत्तराधरे ॥२॥
> आरूढा रायरह, अडणीए जुद्धमारभे।
> सधामाइ पणिद्धन्ति, विवेता बभपालने ॥३॥

'राजागण और वणिक् लोग यदि यज्ञ-याग में प्रवृत्त हों, और ब्राह्मण शस्त्रजीवी हों, तो ऐसा लगता है मानो वे अंधे से जुड़े हुए हों' ॥२॥'

'कुछ ब्राह्मण लोग राजपथ पर चढ़कर सेना के साथ युद्ध में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु ब्रह्मवृत्ति के पालन में विवेक रखने वाले (ब्राह्मण) (ऐसी हिंसात्मक वृत्ति के लिए) अपने घरों को बन्द कर लेते हैं ॥३॥

वस्तुत. राजा क्षात्रवृत्ति वाला होता है, उसमें वीरता, धीरता, न्याय-प्रियता एवं तेजस्विता होती है, उसका कार्य है—समाज और राष्ट्र की रक्षा करना। वैश्य का कार्य है – कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य। समाज को जीवन-निर्वाह हेतु आवश्यक वस्तुएं मुहैया करना यही वैश्यवृत्ति है। शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन करना, ब्राह्मण का कार्य है। ब्राह्मण अहिंसा, तप और संयम की वृत्ति वाला होता है।

इस प्रकार की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को मनीषियों ने नैतिक कर्तव्य और पृथक्-पृथक योग्यतावृत्ति और विशेषता के अनुरूप धर्म का रूप दिया।

भारत के प्राचीन समाज की यह एक सुन्दर और स्वस्थ व्यवस्था थी। आज यह व्यवस्था टूट रही है, और इसके स्थान पर नई कोई योग्य परम्परा बन नही रही है। इस कारण समाज में बिखराव और संघर्ष पैदा हो रहा है।

ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को अपने-अपने नैतिक कर्तव्यरूप धर्म को छोड़कर दूसरे के नैतिक कर्तव्य धर्म को अपनाने को अर्हतर्षि दो अन्धों की परस्पर टक्कर बतलाते हैं। विपरीत दिशा से आने वाले दो अन्धों में परस्पर टक्कर हो सकती है। तब वे राजमार्ग को ही युद्ध भूमि बना सकते हैं। किन्तु जिनकी दोनो आँखे खुली हों, वे परस्पर टकराते नहीं। अगर खुली आँखों वाले परस्पर टकराने लगे तो समझना चाहिए कि उनके अन्तश्चक्षु अभी खुले नहीं हैं। उन्होने शास्त्रों को केवल रटा है, जीवन में उतारा नही है। उनका तत्त्वज्ञान का दावा करना थोथा है, केवल तोतारटन है। सम्यग्दर्शनयुक्त ज्ञान हो तो वह इस प्रकार भटक ही नहीं सकता।

ब्राह्मण (माहन) के लक्षण

अब जैनशास्त्रों में प्रचलित 'माहन', जिसको वैदिक ग्रन्थों में 'ब्राह्मण' कहा गया है, उसके लक्षण बतलाते हुए अर्हतर्षि मातंग कहते हैं—

> ण माहणे धणुरहे, सत्थपाणी ण माहणे।
> ण माहणे मुसं बूया, चोज्जं कुज्जा ण माहणे ॥४॥
>
> मेहुणं तु ण गच्छेज्जा, णेव गिण्हे परिग्गहं।
> धम्मंगेहिं णिजुत्तेहिं, झाणज्झयण-परायणो ॥५॥
>
> सव्विदिएहिं गुत्तेहिं, सच्चपेही स माहणे।
> सीलगेहिं णिउत्तेहिं, सच्चप्पेही स माहणे ॥६॥
>
> छज्जीवकायहितए, सव्वसत्तदयावरे।
> स माहणेत्ति वत्तव्वे, आता जस्स विसुज्झती ॥७॥

अर्थात् - 'धनुष और रथ मे युक्त ब्राह्मण (माहन) नहीं हो सकता। ब्राह्मण शस्त्रधारी भी नही हो सकता। ब्राह्मण न तो मृषावाद (असत्य) बोलता है और न ही चोरी करता है' ॥४॥

'ब्राह्मण वह है, जो अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करता, तथा परिग्रह को भी ग्रहण नही करता वह धर्म के विविध अगों में नियुक्त होकर सदैव ध्यान और अध्ययन मे परायण होता है' ॥५॥

'जिसकी इन्द्रियाँ निग्रहीत है, और जो सत्यप्रेक्षी है, वही ब्राह्मण है।

शील के अठारह हजार अंगों में जिसने अपने मन को नियुक्त कर रखा है, वह शीलद्रष्टा ही ब्राह्मण है' ॥६॥

'जिसके मन में षट्जीवनिकाय का हित बसा हुआ है, समस्त प्राणियों के प्रति जो दयापरायण है और जिसकी आत्मा विशुद्ध है, उसे ही ब्राह्मण कहना चाहिए' ॥७।

ब्राह्मण (माहन) के ये लक्षण उत्तराध्ययन सूत्र (२५वे अध्ययन की १९ से २९ तक की गाथाओं) मे बताये हुए लक्षण से मिलते-जुलते हैं।

निष्कर्ष यह है कि ब्राह्मण अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में दृढ़ रहता है। जिसमें क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, ये उत्तम धर्म के दस अंग हैं, जो ध्यान और अध्ययन में रत रहता है, जितेन्द्रिय, सत्यद्रष्टा एवं शीलद्रष्टा है, प्राणिमात्र के प्रति जिसके मन में कल्याण कामना है, जो जीवदया-परायण है और जिसकी आत्मा विशुद्ध है, वही ब्राह्मण है।

गुणों की दृष्टि से ब्राह्मण और श्रमण

जैनदर्शन गुणों का पुजारी है। वह श्रमण और ब्राह्मण दोनों को गुणों से पूजता है। वह व्यक्तिपूजक नही है, न ही वह वेष और क्रियाकाण्ड से या आडम्बर एवं प्रदर्शन से ब्राह्मण या श्रमण को मानता है। किसी ब्राह्मण के घर में जन्म लेने मात्र से जैनदर्शन उसे ब्राह्मण नही कहता। उत्तराध्ययन सूत्र (अ. २५ गा. ३२) में स्पष्ट कहा है—

न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो॥

'केवल सिर मुंडा लेने से ही कोई श्रमण नही हो जाता, तथा ओंकार का रटन करने मात्र से कोई ब्राह्मण नही हो जाता। अरण्यवास से ही कोई मुनि नहीं कहला सकता तथा कुश एवं वल्कल वस्त्र से ही कोई 'तापस' नहीं कहला सकता।'

तात्पर्य यह है कि श्रमण हो या ब्राह्मण, मुनि हो या तापस, उनकी अपनी-अपनी मर्यादानुरूप क्रिया एव गुणो तथा नैतिक कर्तव्यो के अनुरूप अन्तःसाधना होनी चाहिए। इन चारों में क्रमश. समत्व, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, एवं तप तो होना ही चाहिए, जो साधना का अन्तःप्राण है।

जैनदर्शन ने न तो श्रमण संस्कृति का विरोध किया है और न ही

ब्राह्मण संस्कृति का; किन्तु स्थानांग, भगवती एवं सुखविपाक आदि आगमों में यत्र-तत्र गौरव के साथ उनका उल्लेख - 'तहारूवं समणं वा माहणं वा' इत्यादि रूप में किया है। हाँ, ब्राह्मणत्व की ओट में पनपने वाले जातिवाद, पंथवाद एव एकाधिकारवाद का डटकर विरोध किया है और शुद्ध ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा की है।

जैन दृष्टि से श्रमण और ब्राह्मण सद्ज्ञान और सद्आचार के प्रतिनिधि हैं। उनका जीवन त्यागमय और परोपकारपरायण बताया गया है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र - ये तीन सत्कर्म और सामाजिक पुरुषार्थ तथा राष्ट्रीय पराक्रम के प्रतीक हैं।

ब्राह्मण की आध्यात्मिक कृषि

इस अध्ययन के पाठ से स्पष्ट मालूम होता है, प्राचीन युग में ब्राह्मण खेती करता था। खेती करने में जो हिंसा होती है, उस ओर से आँख मूँद लेने से जनता द्वारा मिलने वाली पूजा प्रतिष्ठा आदि के स्रोत सूखने लगे, तब सम्भव है विवश होकर उसने कृषि कर्म के साथ ऋषिकर्म अपनाया होगा। जो भी हो, जब ब्राह्मण संस्कृति के पुराने शुद्ध मूल्यों का ह्रास होने लगा, ब्राह्मणवर्ण को लोभ, मोह और अहंकार (जाति आदि मद) ने आ घेरा, तब अर्हतर्षि मातग ने ब्राह्मण वर्ग को भौतिक कृषि के बदले आध्यात्मिक कृषि (दिव्य खेती) की प्रेरणा दी है, जो इन गाथाओं से स्पष्ट है—

दिव्व सो किसिं किसेज्जा णोवप्पिणेज्जा, मातगेण अरहता इसिणा बुइतं।

ब्राह्मण दिव्य (श्रद्धा, ज्ञान, दया आदि की) खेती करे, पानी की क्यारी न बनावे अथवा उसे (पानी को) छोड़े नहीं।

मातग अर्हतर्षि इस प्रकार बोले—

आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुअणंगलं।
झाणं फालो निसत्तो य, संवरो य बीयं दढं ॥८॥

अकुडत्तं व कूडेसु, विणए णियमेण ठिते।
तितिक्खा य हलीसा तु, दयागुत्ती य पग्गहा ॥९॥

समत्त गोच्छणवो, समिती उ समिला तहा।
धितिजोत्त सुसबद्धा, सव्वण्णुवयणे रया ॥१०॥

पचेव इंदियाणि तु, खता दता य णिज्जिता।
माहणेसु तु ते गोणा, गंभीर कसते किसिं ॥११॥

तवो बीय अवझ से, अहिंसा णिहण-परं।
ववसातो धणं तस्स, जुत्ता गोणा य संगहो ॥१२॥

धिती थलंबसुहिक्का, सद्धा मेढी य णिच्चला ।
भावणा उ वती तस्स, इरियादार सुसंवुडं ॥१३॥
कसाया मलणं तस्स, कित्तिवातो य तक्खमा ।
णिज्जरा तुल वामीसा, इति दुक्खाणं णिक्खति ॥१४॥

एतं किसिं किमित्ताणं सव्व-सत्त-दयावहं ।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वा पि विसुज्झति ॥१५॥

अर्थात्--(इस आध्यात्मिक खेती का) क्षेत्र (खेत) आत्मा है, तप बीज है, तथा सयम रूप हल (दो हल) से युक्त है। ध्यान रूपी तेज धार फलक (फाल) है, तथा संवररूप दृढ़ बीज है ॥८॥

मायाशीलों में अमायी होकर रहना तथा नियमत. विनय में स्थित होकर तितिक्षा करना ही (खेती की) हलीसा है। दया और गुप्ति ही उसकी प्रग्रह (रस्सी) है ॥९॥

(उस खेती के लिए) सम्यक्त्व का गोच्छणव (खाद) है, और समिति शमिला (समोल) है। बैल को जोतने के लिए धृतिरूपी जोत (डोरी) है जो सुसम्बद्ध है और सर्वज्ञ के वचनों में अनुरक्त है ॥१०॥

क्षान्त, दान्त और इन्द्रियविजेता ब्राह्मणो के लिए उसकी पांचों इन्द्रियाँ ही उसके बैल (वृषभ) हैं, जिनसे वह गभीर दिव्य खेती करता है ॥११॥

तप ही उस खेती का अवन्ध्य (निष्फल न जाने वाला) बीज है और दूसरे के हितों का हनन न करने वाला अहिसामय व्यवसाय (आचरण या व्यवहार) ही उसका धन (फसल) है। अहिसा की साधना में जुते हुए (लगे हुए) दो बैल ही उसका 'संग्रह' है ॥१२॥

अवलम्बन के लिए हिक्का के समान धृति (धैर्य) है। निश्चल श्रद्धा मेढ़ी है। भावनाओं से ईर्यापथ का द्वार भी सुसंवृत है ॥१३॥

कषायों का मर्दन ही उसके धान्य का मर्दन है। क्षमा ही उसका कीर्तिवाद है। निर्जरा ही फसल का काटना है। इस प्रकार की दिव्य खेती से साधक दुःखों से मुक्त होता है ॥१४॥

समस्त प्राणियों पर दया का झरना बहाते हुए जो इस प्रकार की आध्यात्मिक खेती करता है, वह ब्राह्मण (माहन) हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो, तो भी वह विशुद्ध होता है ॥१५॥

इस अध्ययन की अन्तिम सात गाथाओं में अर्हतर्षि मातंग ने ब्राह्मण (माहन) के लिए आध्यात्मिक खेती का सुन्दर रूपक देते हुए साधक की स्थिति और उसके साधनों का निर्देश किया है।

आध्यात्मिक खेती का मूलाधार आत्मा रूपी खेत है, जिस पर माहन को खेती करनी है। तप और सयम ये जमीन को जोतने के लिए दो हल हैं। ध्यान उस हल का फलक (फाल) है तथा सब्ररूपी दृढ़ बीज हैं।

खेत में जमीन जोतने से पहले उस पर उगे हुए झाड़-झखाड़ और कांटे-कंकरों को साफ करना और जमीन को मखमल-सी मुलायम बनाना जरूरी है। इसके लिए हलीसा और रस्सी (जिसे कि हलीसा से बांधा जाता है) जरूरी हैं। यहाँ सरलता (मायारहितता), नम्रता, एवं तितिक्षा हलीसा है, और दया एव गुप्ति उसकी रस्सी है। हृदय सरल, नम्र और उदार होगा, तभी आत्म-क्षेत्र सम होगा, और उसमे बोया हुआ बीज उग निकलेगा। जिस हृदय भूमि पर वक्रता, माया, अहंकारिता, अनुदारता आदि के कांटे-ककड़ एव झाड़-झखाड़ होगे, उस पर बोई हुई तप-सयमरूप साधना के बीज नहीं उग सकेंगे। तथा जिस जमीन में सूर्य का प्रखर ताप एव सर्दी के झोंके एवं वर्षा की झड़िया सहन करने की शक्ति नहीं होती, वहाँ भी बोया हुआ बीज अकुरित एवं विकसित नही होता, न ही वह उग सकता है। इसी प्रकार जिस हृदय भूमि में शीत और उष्ण, परीषह तथा उपसर्गों को सहन करने की क्षमता नही होती, वहां बोये हुए साधना-बीज विकसित नहीं होने। ऐसा साधक साधना के उच्च शिखर पर नहीं पहुंच सकता।

महर्षि वेदव्यास के शब्दों में—'तीर्थानां हृदयं तीर्थं, शुचीनां हृदयं शुचिः'—तीर्थों में सर्वश्रेष्ठ तीर्थ हृदय है और पवित्रताओ में विशुद्ध हृदय पवित्रतम है।

जिस साधक का हृदय सरल, निश्छल और अन्दर-बाहर एकरूप होता है, वही हृदय शुद्ध होता है, और भगवान् महावीर के शब्दो में 'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई'—शुद्ध हृदय मे ही धर्म टिकता है।

कपट और दम्भपूर्वक की गई बाहर से साधना चाहे जितनी ऊँची दिखाई देती हो, अन्दर से वह खोखली है। उससे आत्मशुद्धि नही हो सकती। सोने पर किये गये मुलम्मे के समान साधना पर किये गए दम्भ, कपट आदि का मुलम्मा है, पॉलिश है।

हाँ, तो आत्मा-रूपी खेत के हृदयरूपी भूतल को समतल बनाने के लिए सरलता, विनम्रता एवं तितिक्षा अनिवार्य है।

खेती के लिए खाद आवश्यक होती है। अच्छी खाद से फसल अच्छी और प्रचुर मात्रा में होती है। आध्यात्मिक शान्ति की फसल प्राप्त करने के

लिए सम्यक्त्वरूप खाद की आवश्यकता है, जो कि आध्यात्मिक शान्ति का मूल है। सम्यक्त्व आत्मा की शुद्ध परिणति का नाम है, इस शुद्ध परिणति को प्राप्त किये हुए, प्राप्त करने वाले एव प्राप्ति का माध्यम क्रमशः देव, गुरु और धर्म है, जिन पर श्रद्धा रखना अथवा तत्वभूत पदार्थों पर श्रद्धान-विश्वास भी सम्यक्त्व है।

ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और परिष्ठापनरूप पचविध समिति ही शमिला है, यानी बैलों के कन्धों पर रखने वाले जुए (युग) की कील है। समिति का अर्थ है योगो की शुभ प्रवृत्ति। यह समिति रूपी कील धृति रूपी रस्सी से सुसम्बद्ध है। जो वीतराग वचनों में अनुरक्त है, वही साधक श्रेष्ठ खेती कर सकता है।

पार्थिव खेती में दो बैलों की तरह इस दिव्य खेती के भी दो बैल है—क्षान्ति और इन्द्रियजय। क्षान्ति और विजितेन्द्रियता मे, चाहे कितने आँधी-तूफान आएँ, साधक खेती में लगा रहता है, उसमे भागता नही। साधक की अहिंसा ही इस खेती की फसल है। किन्तु फसल कट जाने के बाद, उसे खलिहान में लाया जाता है। पहले हिक्के (लकड़ी के लट्ठो) से कूटकर धान्य के छिलके को अलग किया जाता है, फिर खलिहान के बीच में एक खम्भ (मेढ़ी) गाड़ा जाता है, जिसके चारो ओर बैल चलते हैं वे दांय करते और अनाज से उसका भुस्सा दूर होता जाता है। इस आध्यात्मिक कृषि की हिक्का साधक की धृति है। स्तम्भरूप मेढ़ी साधक की निश्चल श्रद्धा है, जिससे अध्यात्माकाश में ऊँची उड़ान भरी जा सकती है। भावनाएँ ही उसकी फसल से छिलके को दूर करती है, नये आस्रवरूपी कचरे आदि को आने नही देती। वे ही ईर्यापथ का द्वार सवृत कर देती—ढँक देती है। खलिहान में पड़े अनाज से छिलका पृथक् करने के लिए उनका मर्दन किया जाता है, अध्यात्म खेती मे आत्मा से कर्म के छिलके पृथक् करने से लिए कषायों का मर्दन अपेक्षित है। निर्जरा ही फसल की कटाई है। अनाज को उपजने के लिए क्षमा रूपी हवा (कीर्तिवाद) की आवश्यकता है। इस प्रकार की आध्यात्मिक खेती करने वाला सर्वभूतदयापरायण साधक चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो, समस्त दुःखो का तथा जन्ममरणरूप संसार एवं गर्भवास का अन्त करता है।

३०

निःसंगता की साधना के सूत्र

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आज मैं साधक जीवन की साधना में अत्यन्त बाधक तत्व जन-संसर्ग के विषय में प्रकाश डालूँगा। आप मेरी बात को ध्यान से सुनेंगे तो आपके लिए भी वह अत्यन्त उपयोगी होगी।

साधक जब से साधु बनता है, तभी से अपने घर-बार, कुटुम्ब, स्त्री-पुत्र, सगे-सम्बन्धी तथा मित्रों और स्नेहीजनों का संग सर्वथा छोड़ देता है। परन्तु '**अप्पाणं वोसिरामि**' कहने से वाणी से तो वह सांसारिकजनों का संसर्ग या संग छोड़ देता है, मगर मन से छोड़ता है या नहीं ? मन के किसी कोने में भी अपने पुत्र, भाई-बहन या परिवार के प्रति उसका स्नेहराग है, आसक्ति है, तो वह संगत्याग वाणी से हुआ है मन से नहीं। और जब तक मन से संगत्याग नहीं होता, तब तक वह औपचारिक त्याग है, अन्तर् से त्याग नहीं है। और जब तक अन्तःकरण से संगत्याग नहीं होता, निःसंगता नहीं आती। और जब तक निःसंगता नहीं आती साधक के अपनी साधना भ्रष्ट होने का भय है, अनेक दोष भी पैदा हो सकते हैं। एक विचारक ने कहा है—

> निःसंगता मुक्तिपदं यतीनां, संगादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
> आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः, संगेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

— साधकों के लिए निःसंगता ही मुक्ति-पथ है; क्योंकि संग से समस्त दोष पैदा हो सकते हैं। बड़े-बड़े अध्यात्मयोगी भी संग के कारण पतन के गर्त में गिर गए हैं, फिर अल्पसिद्धि वाले साधारण साधक की तो बात ही क्या ?

वस्तुतः निःसंगता ही साधु-जीवन की उन्नति का मूलद्वार है।

निःसंगता की आधारभूमि : चारित्र सम्पत्ति

प्रस्तुत सत्ताइसवें अध्ययन में वारत्तक अर्हतर्षि निःसंगता पर जोर

देते हुए उसकी आधारभूमि साधु की चारित्र सम्पदा के विषय में कहते हैं—

साधु सुचरितं अव्वाहता समणसपया ।
वारत्तएण अरहता इसिणा बुइत ॥

अर्थात्— श्रमणों की सच्ची सम्पत्ति उसका सुचारित्र है। जो साधक उस सम्पत्ति से युक्त है, उसकी गति अव्याबाध रहती है। इस प्रकार वारत्तक (वारत्रयक) अर्हतर्षि ने कहा।

साधु वर्ग की समस्त साधना का मूल उसका चारित्र है। यदि साधु चारित्रवान् है तो सर्वत्र अबाध गति से उसका प्रवेश हो सकता है। क्योंकि चारित्र ही उसकी मूल पूँजी है।

चारित्र की शक्ति साधकजीवन मे सर्वोच्चशक्ति है। जिसके पास यह शक्ति है, वह साधक कही भी बेधड़क जा सकता है, कोई शस्त्र, अस्त्र, बम, भय, प्रलोभन, सत्ताधीश, धनाढ्य या दुनिया की कोई भी शक्ति उसे झुका नही सकती। किसी भी प्रतिबन्ध मे वह रह नहीं सकता। दुनिया की समस्त शक्तियों पर चारित्र शक्ति विजय पाती है। उसकी तुलना ससार की कोई भी शक्ति नही कर सकती।

चारित्र-सम्पत्ति की रक्षा : कैसे और कैसे नहीं ?

साधु की चारित्र-सम्पत्ति की सुरक्षा तभी हो सकती है, जब श्रमणो के विशेषत: गीतार्थ, स्थविर, गुरु या आचार्य के सान्निध्य में रहे, ग्रहण और आसेवन दोनों प्रकार की शिक्षा गुरु (आचार्य) कुल के सन्निकट रहकर प्राप्त करे। इसके विपरीत यदि वह गृहस्थ से अधिक सम्पर्क, ससर्ग या परिचय मे रहता है तो उसकी चारित्र-सम्पत्ति क्षीण होती जाती है। उसके पचमहाव्रत रूप चारित्र-बल में दरारे पड़ने लगती है। इसीलिए अर्हतर्षि वारत्तक चारित्र-सम्पत्ति के अपहरण करने वाले गृहस्थ-सहवास के लिए साधक को सावधान करते हुए कहते है

न चिर जणे सवसे मुणी सवासेण सिणेहु वद्धती ।
भिक्खुस्स अणिच्चचारिणो अत्तट्ठे कम्मा दुहायती ॥१॥

अर्थात्—मुनि गृहस्थजनों के बीच अधिक समय तक न रहे। गृहस्थों के साथ संवास से स्नेहराग बढ़ता है, जो कि अनित्य (अनियत) चारी भिक्षु के आत्मा के लिए कर्म (बन्धन) का रूप लेकर (भविष्य में) दु:ख की सृष्टि करता है।

साधक का चरम लक्ष्य कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा बनना है, इसके लिए उसे चाहिए कि जिन बातों से कर्मबन्धन हो, चारित्र-सम्पत्ति क्षीण हो, और लक्ष्य से भ्रष्ट हो, उन्हें छोड़े। गृहस्थजनों के साथ अधिक सम्पर्क, अतिपरिचय एवं अत्यधिक संवास, मेल-मिलाप और ससर्ग स्नेहबन्धन को दृढ़ करता है। परिणामतः मोह, आसक्ति आदि बढ़ती जाती है। गृहस्थ अपने स्वार्थ के लिए अनासक्त एवं नि सगवृत्ति वाले मुनि को उचित-अनुचित सभी वृत्ति-प्रवृत्तियो मे डाल सकता है, स्नेहबन्धन में बँधा हुआ मुनि आदर-सत्कार, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि एव सुविधा आदि प्रलोभनों को ठुकरा नही पाता। फलत नील गगन में स्वतन्त्र उड़ान भरने वाले पक्षी की भांति आध्यात्मिक गगन में द्रव्य, क्षत्र, काल और भाव के प्रतिबन्ध से रहित स्वतत्र उड़ने वाला अप्रतिबद्ध-विहारी मुनि जब किसी भक्त-भक्ता, ग्राम-नगर, चिरकाल-सवास तथा स्नेहभाव, ममत्व, मोह एवं आसक्ति आदि के भाव के पाश में बंध जाता है, तो उसकी स्वतन्त्रता, समता एवं वीत-रागता की साधना की पाँखे कट जाती है। मोह, ममता प्रतिबद्धता, आसक्ति तथा स्नेहभाव आदि की धारा में बहकर साधक कर्मबन्धन करके असंख्य दुःखो के गड्ढे खोद कर उन्हीं मे गिर पड़ता है। यही कारण है कि साधु-वर्ग को इस भयकर खतरे से बचने के लिए वीतराग प्रभु ने आगम में नौ कल्पी विहार का विधान किया है।

वनादि में जाने मात्र से निःसंगता नहीं आती

प्रश्न होता है कि क्या मुनि इन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के साथ रागात्मक वृत्ति के प्रतिबन्ध से बचने के लिए ग्राम या नगरो को छोड़कर किसी वन में पर्वत गुफा मे, एकान्त निर्जन स्थान मे, या किसी जनशून्य उद्यान मे चला जाय? क्योंकि वहाँ जाने पर न तो जन-सम्पर्क ब गा, और न ही रागात्मक वृत्ति बनेगी।

इसका समाधान संस्कृत के एक प्रसिद्ध आत्मचिन्तक के शब्दो मे इस प्रकार है -

> वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहं तप.।
> अकुत्सिते कर्मणि य. प्रवर्तते, निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

जिनके चित्त की रागदशा समाप्त नही हुई है, वन में जाने पर भी उनके जीवन मे अनेक दोष पैदा हो सकते हैं। दूसरी ओर इन्द्रियनिग्रह की तपःसाधना घर में या ग्राम-नगर में भी की जा सकती है। जो व्यक्ति

जितेन्द्रिय होकर सत्कर्म (अपनी मर्यादा के अनुरूप अनिन्द्य कार्य) में प्रवृत्त होता है, उस वीतरागस्थिति-प्राप्त साधक के लिए घर (या ग्राम-नगर आदि) ही तपोवन है।

संत विनोबा ने इस सम्बन्ध मे सुन्दर चिन्तन दिया है कि जिस व्यक्ति ने घर-बार आदि से संन्यास तो ले लिया, परन्तु उसमे संन्यास की वृत्ति नहीं आई, तो वह वन में जाकर भी दुगुना घर जमाने की कोशिश करेगा।

अतः मूल वस्तु मोह, ममत्व एव आसक्ति का त्याग करने की है। अगर एक साधु किसी गाँव या नगर में अधिक निवास करता है, परन्तु वह सावधान रहकर आसक्ति, मोह या ममत्व से दूर रहता है, मोहवर्द्धक सांसारिक बातों से, रागात्मकवृत्ति से दूर रहता है, गृहस्थ द्वारा दिये गये प्रलोभनों, सुख-सुविधाओं आदि में नही फँसता तो वह वहाँ गृहस्थों से परिचय करके या अमुक क्षेत्र मे चिर-निवास करके भी अलिप्त एवं अनासक्त रह सकता है। परन्तु यदि कोई साधक सुख-सुविधा या किसी सामग्री या अमुक स्वार्थ के वशीभूत होकर जानबूझ कर गृहीजनों का अत्यधिक सम्पर्क करता है, एक क्षेत्र में अकारण ही वर्षों तक जमकर रहता है, गृहस्थों को आकर्षित करके अपने उचित-अनुचित काम निकलवाने के लिए अधिकाधिक सम्पर्क करता है तो वह साधक चाहे जितना विद्वान् हो, क्रियाकाण्डी हो, उच्च पदाधिकारी हो, या प्रसिद्ध वक्ता हो, पतन से तथा कर्मबन्धन से बच नहीं सकता। प्राचीनकाल के साधक प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा से कोसो दूर रहते थे।

स्वामी रामकृष्ण परमहस तो काली माता की मूर्ति के समक्ष बैठकर प्रार्थना करते थे—'माँ! मुझे इस प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा से बचा। लोग मुझे इतना सम्मान क्यो देते हैं?'

पर आज का साधक प्रायः येन-केन-प्रकारेण प्रसिद्धि पाने की धुन में रहता है। सस्कृत के एक कवि की यह उक्ति ऐसे लोगो की मनोवृत्ति पर करारा व्यंग करती है—

> घटं भित्वा, पटं छित्वा, कृत्वा गर्दभवाहनम्।
> येन केन प्रकारेण, नरः सम्मानमाप्नुयात्॥

'घड़ा फोड़कर, कपड़ा फाड़कर, या गधे पर सवारी करके भी जिस किसी भी प्रकार से यश मिले, मान-सम्मान मिले प्राप्त कर लो।'

उनके द्वारा अधिकाधिक जन-सम्पर्क के बारे में बाहरी नारा धर्म प्रचार या जन-कल्याण का रहता है, परन्तु उनके हृदय को टटोला जाय तो कुछ और ही बात निकलेगी। अतः साधक के समक्ष सदैव आत्मसाधना का लक्ष्य रहे, प्रतिक्षण वह अपनी मनोवृत्ति पर पहरेदारी रखे, अपने वचन का

भी उपयोग उसी दृष्टि से करे तथा काया को भी समिति-गुप्तिपूर्वक नियंत्रित रखे तो वह चारित्र-सम्पत्ति को लूटने वाले इस महादोष से बच सकेगा।

जनसंसर्ग से बचने के उपाय

अत्यधिक जनसंसर्ग से स्वाभाविक अरुचि, तथा अति-परिचय से विरक्ति के लिए साधक को क्या उपाय करना चाहिए, जिससे कि उसका मन उस ओर से लक्ष्य की दिशा में मुड़ सके? इसके लिए अर्हतर्षि कहते है—

पयहित्तू सिणेहबंधणं झाणऽज्झयण परायणे मुणी।
णिद्धत्तेण सया वि चेतसा, णिव्वाणाय मतिं तु संदधे ॥२॥

'मुनि मन से स्नेह-बन्धन का त्याग करने के लिए प्रशस्त ध्यान और अध्ययन (शास्त्र-स्वाध्याय) में दत्तचित्त हो जाये। चित्त को सदैव (अपने अन्तिम लक्ष्य मे) निहित (अथवा नियन्त्रण में रख) करके अपनी बुद्धि को मोक्ष-पथ में जोड़ दे।'

स्नेहपाश एवं रागात्मक वृत्ति को तोड़ने के लिये यहाँ अर्हतर्षि ने जो ठोस उपाय साधकों को सुझाये हैं, वे इस प्रकार हैं—अपने मन को शुभ ध्यान में लगाये, अपने वचन को स्वाध्याय में लीन करे, अपने चित्त को अपने लक्ष्य में केन्द्रित करे और अपनी बुद्धि को सदा मोक्ष (कर्मो से या जन्म-मरणादि दुःखों से सर्वथा मुक्ति) में जोड़े।

दूसरी दृष्टि से देखें तो गृहस्थजनों का स्नेहबन्धन साधना में विक्षेप डालता है वह अध्ययन में विघ्नरूप है। एक विद्यार्थी भी जब किसी के प्रेम-पाश में बंध जाता है, तो वह ठीक ढग से अध्ययन नहीं कर पाता। नेपोलियन बोनापार्ट विद्यार्थी-अवस्था में साधारण स्थिति का था। वह एक नाइन के घर में किरायेदार के रूप में रहकर अध्ययन करता था। घर की मालकिन नेपोलियन के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसे अपने प्रेमपाश में बांधने की विभिन्न चेष्टाएँ करती थी। परन्तु नेपोलियन अपने अध्ययन में ही लीन रहता था। वह उसकी ओर आँख उठाकर भी नही देखता था। इससे नेपोलियन को वह अरसिक एवं किताबी कीड़ा समझ कर उससे घृणा करने लगी। बहुत वर्षो के बाद नेपोलियन जब फ्रांस का सेनापति बनकर उसके यहाँ आया तो उसने बहुत सत्कार किया। बात ही बात में नेपोलियन ने कहा—'अगर उस समय मैं तुम्हारे प्रेमापाश में फँस जाता तो आज मैं इतने उच्च पद पर कभी नहीं पहुंच पाता।'

अतः स्नेहबन्धन से विरत होने के लिये शुभध्यान द्वारा मन की शक्तियों को उस ओर से हटाकर एकमात्र ध्येय मे केन्द्रित करना चाहिये। जिस प्रकार आतशी शीशे मे सूर्य की किरण केन्द्रित हो जाती है, तो उसमें से तेज और प्रकाश के साथ चिनगारी फूटती है, इसी प्रकार मन की किरणें जब ध्येय में केन्द्रित हो जाती हैं, तो मन में तपस्तेज एवं ज्ञान-प्रकाश के साथ आत्मशक्ति की ज्वाला फूट पड़ती है, जिसमें रागादि विकार और वासना आदि भस्म हो जाते है। तभी ध्यान, आत्मचिन्तन, मनन, अनुशीलन एव निदिध्यासन शुद्ध और यथार्थ हो सकता है। साथ ही चित्त का भी निरोध मोहादि विकारो से हो, और वह लक्ष्य मे निहित हो, और बुद्धि सतत मोक्षपथ में संलग्न रखी जाये तो कोई कारण नही कि साधक स्नेह-बन्धन, अतिपरिचय या संसर्गदोष में पड़ सके।

प्राचीनकाल का साधक शहरो में रहना पसन्द नही करता था। वह प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा, प्रशंसा और प्रशस्ति से दूर रहने हेतु शहरो से दूर वन में रहता था। भिक्षा के लिये गाव में एक बार आता और पुनः वन की शान्त, विविक्त और एकान्त भूमि में आत्म-साधना के लिये चल पड़ता था। प्रकृति का स्वच्छ वायुमण्डल भी उसकी चित्तवृत्तियो को शान्त और शुद्ध रखने में सहायक बनता था। साथ ही गृहस्थजनों का यह अल्पकालीन परिचय तथा नि.स्पृह एव निरासक्त जीवन उनके हृदय मे भी सन्त के प्रति श्रद्धा के दीप जलाता था। वह हृदय की सच्ची जिज्ञासा लेकर सन्त के पास पहुंचता था और सन्त भी निस्पृहभाव से उसे आत्म-दर्शन का मार्ग बताता था।

लोक-संसर्ग से वचन की प्रवृत्ति होती है, उससे मन व्यग्र (चचल या अस्थिर) होता है। चित्त की चचलता से अनेक प्रकार के विकल्पो से मन क्षुब्ध होता है। अतः योगिजनों को लोक-ससर्ग का त्याग करना चाहिए।

वस्तुतः लौकिकजनो के ससर्ग से चित्त की निश्चलता हो नही सकती। चित्त निश्चल हुए बिना जगत् से अलग अकेला होकर आत्मानुभव नही कर सकता। जिसकी लोक-ससर्ग में बड़प्पन पाने मे रुचि है, उसे चैतन्य-साधना में रुचि कैसे हो सकती है? जन-परिचय से मन की व्यग्रता होती है, जो केवलज्ञान को रोकती है। अत. लोकसज्ञा तथा अतिलोक सम्पर्क छोड़कर अपने स्वभाव-स्वरूप मे स्थिर होना चाहिये।

जंगल में नहीं, आत्मा में निवास करो

किन्तु यह भी कोई निश्चित नही है कि जगल, या पर्वत गुफा में रहने

से ही आत्मा या परमात्मा के दर्शन हो जायेंगे। जो आत्मा एकान्तरूप में यह समझते हैं कि शहर या नगर को छोड़-छाड़कर एकान्त जंगल में जाने से अपनी आत्मा में एकाग्रता आ जायेगी, वे भी बहिरात्मा हैं, उनकी दृष्टि बाह्य सयोग-वियोगों में ही अटकी हुई है, वे अनात्मदर्शी है। समाधिशतक के ७३ वे श्लोक मे कहा गया है—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा, निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु, विविक्तात्मैव निश्चलः॥

अनात्मदर्शी यह ग्राम है, यह जंगल है, यो दो प्रकार के निवास स्थान की कल्पना करते हैं। जो आत्मदर्शी अन्तरात्मा हैं आत्मस्वरूप का जिन्होंने अनुभव किया है, वे तो पर से भिन्न रागादिरहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही अपना विविक्त निश्चल निवासस्थान मानते हैं। वे बाह्य संसर्ग छोड़ कर आत्मस्वरूप में ही निवास करते है। उसी में एकाग्र होकर रहते हैं। बाह्य गुफा में तो सिंह एव सर्प आदि रहते हैं, परन्तु अन्तर् की, चैतन्य की गिरि गुफा में गहरे उतर कर ध्यान करने से आनन्द और शान्ति का अनुभव होता है।

जो लोक-ससर्ग को छोड़कर जंगल में अपनी पुरानी वृत्ति लेकर जाते हैं, वे बाह्यदृष्टि हैं। वहाँ भी उनका राग जाता नहीं। केवल क्षेत्र बदल जाता है। भागवत में जड़ भरत की कथा आती है। वे नदी के तट पर एकान्त में एक झोंपड़ी में निवास करने लगे। परन्तु वहाँ भी एक मृग शिशु पर उनका राग बढ़ गया। वे रात दिन उसी को पपोलने, उसकी चेष्टाएँ देख कर खुश होने और उसी के साथ क्रीड़ा करने में रत रहने लगे। उनकी आत्म साधना छूट गई। वे राग भाव में डूब गये।

वास्तव में स्थान बदलने से स्नेहराग नही चला जाता, इसके लिये आत्मध्यान आवश्यक है। तथा उसकी दृष्टि, चित्तवृत्ति, और बुद्धि एकमात्र लक्ष्य—मोक्ष में स्थिर होना भी चाहिये।

अतिपरिचय से होने वाले दुष्परिणाम

अतिपरिचय मे सम्भावित दोषों का निरूपण करते हुए अर्हतर्षि कहते हैं—

जे भिक्खु सखेयमागते, वयणं कण्णसुहं परस्स बूया।
सेऽणुप्पियभासाए हु मुद्धे आलट्ठे नियमा तु हायती॥२॥

जो भिक्षु मित्रता के बन्धन में आकर दूसरे के कानों को सुखकर शब्द कहता है। और वह गृहस्थ भी प्रिय भाषा (साधु की चिकनी चुपड़ी बातों) में मुग्ध हो जाता है। इस प्रकार दोनों ही (साधु और गृहस्थ) आत्मार्थिता को खो बैठते हैं।

गृहस्थ के साथ जब अतिपरिचय या घनिष्ठ संसर्ग हो जाता है, तब आगे चलकर वह परिचय या संसर्ग स्वार्थी मैत्री में परिणत हो जाता है। इस प्रकार मैत्री के पाश में बंधकर साधु गृहस्थ को ठकुरसुहाती चिकनी-चुपड़ी बातें कहता है। फिर उसमें नग्नसत्य कहने का साहस नही रहता। वह गृहस्थ भी प्रियभाषी साधु की मीठी-मीठी बातों में आकर मुग्ध हो जाता है। गृहस्थ को उसके मतलब की बातें सुनने को मिलती हैं तो वह स्वार्थ सिद्धि के लिये मुनि की आत्म-साधना को दूषित कर देगा। उसको सदोष आहारादि देगा, या सुख-सुविधाओ से उसको खुश कर देगा। किन्तु यह रागात्मक अन्ध श्रद्धा एव अन्ध भक्ति साधु और गृहस्थ दोनों के आत्म-हित को ठेस पहुंचाती है।

वास्तव में मोहपाश मे बंधे हुए साधक में नग्नसत्य कहने का साहस नही होता। वह सोचता है कि अगर खरी-खरी बात कह दी तो इसकी श्रद्धा-भक्ति मेरे पर से हट जायेगी। फिर यह मेरे पास भी नही फटकेगा अथवा दूसरे किसी का भक्त बन जायेगा। जिसमे नग्नसत्य कहने की हिम्मत नहीं होती, वह चापलूस बन जाता है, ठकुरसुहाती कहने लगता है। एक कवि ने ठीक ही कहा है -

> सचिव वैद्य गुरु तीन जो, प्रिय बोलहि भय आस।
> राज, धर्म, तन तीन कर, वेग होहिंहि नास॥

मन्त्री, वैद्य और धर्मगुरु, ये तीन अगर किसी के भयवश प्रिय बोलते है, सच्ची बात नही कहते हैं तो क्रमशः तीन बातों का नाश हो जाता है। अर्थात् मन्त्री प्रिय बोलकर राज्य का, धर्म-गुरु प्रिय बोलकर भक्त के धर्म का और वैद्य प्रिय बोलकर रोगी के तन का नाश कर बैठते है।

पाश्चात्य विचारक डेल कारनेगी कहता है—

Flattery is counterfeit and like counterfeit money it will eventually get you into trouble if you try to pass it.

'चापलूसी एक नकली सिक्का है, और नकली सिक्के की भाँति अन्त मे आपको सकट में डाल देगा, यदि आप इसको चलाने का प्रयत्न करेंगे।'

भगवान् महावीर ने अपने साधक शिष्यों से आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा था—

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥

'हे साधक ! तुम्हारे भीतर सात्त्विक तेज प्रकट होना चाहिए कि तुम्हारे समक्ष दर-दर भटकने वाला भिखारी या दीन-हीन व्यक्ति आए, अथवा सम्राट् या धनाढ्य ही क्यों न आए, तुम्हें बिलकुल हिचकिचाए बिना सत्य प्रकट कर देना चाहिए। सत्य प्रकट करते समय तुम्हारे मन का एक अणु भी नहीं कांपना चाहिए।

वस्तुत सत्य कहने के लिए निर्भयता और साहस अपेक्षित है, क्योंकि हर कान इतना मजबूत नही होता; जो सत्य सुन सके।

परन्तु सच्चा निरासक्त, निर्मोही, निःस्पृह साधक किसी भी कष्ट की परवाह नही करता, वह सच्ची बात कहने से नहीं हिचकिचाता। मोह-विजेता श्रमण-शिरोमणि भगवान महावीर भी प्रखर सत्यवक्ता थे। एक बार भगवान् महावीर से धर्मसभा मे मगध सम्राट् कोणिक ने पूछा—

'भगवन् ! मै मर कर कहाँ जाऊँगा ?'

भगवान बोले—'यह तो तुम मुझसे न पूछ कर, अपने आप से ही पूछ लो। जैसी तुम्हारी करनी है, उसी के अनुसार तुम्हारी गति होगी।'

कोणिक ने कहा—'भगवन् ! मैं आपके श्रीमुख से सुनना चाहता हूं।'

भगवान् ने कहा—'अपने प्रबल क्रूर कर्मों के कारण तुम मर कर छठी नरक में जाओगे। इसमें बुरा मत मानना। जैसी करणी वैसी भरणी।'

कोणिक ने उदास होकर पूछा—'भगवन् ! मैं आपका भक्त और छठी नरक में ?'

भगवान् महावीर ने कहा—'मुझसे तुमने पूछा है तो मैं सत्य-सत्य ही कहूंगा।'

भगवान् महावीर को मानसिक दुर्बलता के ये विचार सत्य कहने से नहीं रोक सके कि 'यह मेरा भक्त है, मगध सम्राट् है, यदि यह रूठ गया तो ?'

अतः अतिपरिचय से सावधान साधक गृहस्थी की चापलूसी न करे। उसकी यही कामना रहे—न तो मैं किसी की सस्ती प्रशंसा करूँ और न

दूसरों से अपनी सस्ती प्रशंसा सुनूँ। यदि साधक में मुँहमीठी बातें कहने की आदत हो गई तो वह गृहस्थ को सही मार्गदर्शन नहीं दे सकेगा, न ही वह उसकी गलती बताकर सुधार सकेगा। गृहस्थ को मुँहमीठी बात कहने वाले सन्त प्रिय लगेंगे। पर यों करने से साधक और गृहस्थ दोनों ही पतन के गड्ढे में गिरेंगे।

स्नेहबन्धनबद्ध साधक : श्रमणजीवन से अतिदूर

गृहस्थों के स्नेहबन्धन में बधा हुआ साधक श्रमणजीवन से कितनी दूर जा पहुंचता है ? इसके विषय मे अर्हतर्षि वारत्तक कहते है—

> जो लक्खण सुमिण पहेलियाउ अक्खाई याइ य कुतूहलाओ।
> तहा दाणाहं णरे पउञ्जए सामण्णस्स महंतर खु से ॥४॥
>
> जे चेलकउवणयणेसु वा वि आवाह-विवाह-वधू-वरेसु।
> जुञ्जेइ जुद्धेसु य पत्थिवाणं सामण्णस्स महंतरं खु से ॥५॥
>
> जे जीवाण हेतु पूयण-ट्ठा किंचि लोकसुहं पउञ्जे।
> अट्ठिविसएसु पयाहिणे से सामण्णस्स महंतरं खु से ॥६॥

अर्थात्—जो साधक कुतूहलवश लक्षण और स्वप्न का फलाफल बतलाता है, पहेलियाँ बोलता (बूझता) है, तथा जो मनुष्य (साधक) उसके लिए दानादि का प्रयोग करता है, वह श्रामण्यभाव से बहुत दूर है ।४।।

जो साधक (गृहस्थ-पुत्र के) चूड़ोपनयन आदि संस्कारों मे, तथा वर-वधू के आवाह-विवाह प्रसग मे सम्मिलित होता है और राजाओ के साथ युद्ध में भी जुड़ जाता है, किन्तु जो साधक इन सब सावद्य कार्यों को करता कराता है, या अनुमोदन देता है उसमे और श्रमण भाव मे बहुत बड़ा अन्तर है ॥५॥

जो जीवन (जीने) के लिए, पूजन के लिए और इस लोक के किंचित् सुख के लिए तिकड़मबाजी का प्रयोग करता है, अर्थात् वह अपनी बहुमूल्य साधना को इन तुच्छ वस्तुओं के लिए बेच देता है। उसकी यह बालचेष्टा है। वह अपनी साधना के सिक्के को इन भौतिक और क्षणिक चीजों मे भुना लेता है। सचमुच उसकी यह चेष्टा वैसी है, जैसी कि मुर्दे की अर्थी की प्रदक्षिणा करना। इस प्रकार के कार्यकलाप मे और श्रमणत्व मे बहुत ही अन्तर है, अथवा श्रमणत्व मे वह साधक बहुत दूर (अन्तर पर) है ॥६॥

इन तीन गाथाओ मे अर्हतर्षि ने स्पष्ट कर दिया है कि गृहस्थों के अतिपरिचय एवं ससर्ग के कारण साधक के श्रमणत्व में कहाँ कहाँ और कैसे-कैसे दरारें पड़ जाती हैं ?

जब साधक गृहस्थों से स्नेहबद्ध हो जाता है तो मोहवश वह उन्हें लक्षण-विद्या बतलाता है, कभी वह स्वप्नफल बताता है और कभी नाना प्रकार की पहेलियाँ बुझाता है। अपना प्रभाव बढ़ाने एवं लोगों को आकर्षित करने के लिए ये और ऐसे कुतूहल, आश्चर्य और मोह एवं स्नेहबन्धन बढ़ाकर घोर पापकर्म बाँधता है।

गृहस्थ के साथ स्नेहबन्धन में बंधा साधक पतन की किस सीमा तक पहुंच जाता है, इसका चित्र इस पाँचवीं गाथा में दिया गया है। गृहस्थ के आँगन में जब बालक के चूड़ोपनयन-संस्कार का प्रसंग आता है, या फिर विवाह या किसी मांगलिक प्रसंग पर अन्धभक्ति से प्रेरित गृहस्थ साधु को उनमें सम्मिलित होने और आशीर्वाद देने के लिए प्रार्थना करता है, और स्नेह से बधा हुआ साधक वहाँ पहुंच जाता है। यदि किसी राजा के साथ है तो वह अपने अहिंसा-महाव्रत को ताक में रखकर युद्ध के मैदान में भी उस राजा की सहायता के लिए पहुंच जाता है। किन्तु यह श्रमण जीवन में प्रबल बाधक बातें हैं, जो साधक को अत्यन्त निम्नस्तर पर ला देती है।

साधक के समक्ष सदैव त्याग, तप और सयम का उच्च आदर्श रहना चाहिए, पूजा, यशकीर्ति, प्रतिष्ठा और सुख-सुविधा की कामना, किसी वस्तु की स्पृहा, अर्थलालसा, प्रसिद्धि की पिपासा आदि साधना को दूषित करने वाली चीजे हैं। ये साधक को अपने आदर्श से नीचे गिरा देती हैं। उसका जीवन तप-त्याग से शून्य खोखला बन जाता है। यदि पूजा प्रतिष्ठा और तात्कालिक सुख की ओट में वह आत्मसाधना को ताक में रख देता है, मंत्र तंत्रादि का प्रयोग करता है और स्वार्थ-लोलुप गृहस्थ उसके इस पतन में सहायक बनकर अपनी स्वार्थ सिद्धि करना चाहता है तो ऐसा करने वाला साधक अपने यथार्थ आदर्श से बहुत दूर रहकर बीच में ही अटक जाता है। उसके सारे कार्य कलाप भौतिक विषयों को केन्द्र बनाकर उसी के चारों ओर घूमते हैं। जैसे मुर्दे की अर्थी के चारों ओर प्रदक्षिणा से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता वैसे ही भौतिक विषयों के चारों ओर प्रदक्षिणा से कुछ भी आध्यात्मिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

समस्त संगों से दूर रहकर आत्मलक्ष्य में स्थिर रहो

अन्त में अर्हतर्षि आत्मार्थी साधको को लक्ष्य करके समस्त संगों से दूर रहकर एकमात्र आत्मलक्ष्य में स्थिर रहने का उपदेश देते हैं।

ववगयकुसले संछिण्णसोते पेज्जेण दोसेण य विप्पमुक्को ।
पियमप्पिय-सहे अकिंचणे य आतट्ठ ण जहेज्ज धम्मजीवी ॥७॥

अर्थात्—'मंत्र-यंत्र-तंत्रादि की चातुरी से पृथक होकर जिसने भवपरम्परा के स्रोत का छेदन कर दिया, और राग (प्रेम) और द्वेष से विमुक्त है। वह धर्मजीवी महामुनि अकिंचन बनकर प्रिय और अप्रिय को समभाव से सहन करे, तथा आत्मा का अर्थ—लक्ष्य का परित्याग न करे।'

दुनिया जिसे कुशलता—चातुरी समझती है, ऐसे मन्त्रादि के प्रयोग आत्मसाधना के लिए शूल हैं। इन भौतिक प्रयोगों से आत्मा का कुछ भी कल्याण होने वाला नहीं। अत: सच्चे माने में श्रमण-जीवन जीने के लिए वह स्नेह, मोह, आसक्ति आदि राग के तथा घृणा, ईर्ष्या, वैर-विरोध, क्रोध आदि द्वेष के प्रसंगों से दूर रहे। जीवन-क्षेत्र में अकिंचन होकर आगे बढ़ते हुए साधक को कड़वे-मीठे घूंट मिले तो साधक उनमें भी उलझ नहीं। किसी भी प्रसंग पर, या कैसी भी परिस्थिति में, भय और प्रलोभन के आंधी-तूफानों में साधक अपने आत्मलक्ष्य को न भूले। जैसे भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन में एक ओर मेघमाली देव का भयकर उपसर्ग था, तो दूसरी ओर उस कष्ट के निवारण में धरणेन्द्र-पद्मावती की सहायता थी। परन्तु प्रभु ने न तो मेघमाली पर द्वेष किया और न ही धरणेन्द्र पद्मावती के प्रति राग, मोह या स्नेहबन्धन किया। प्रभु दोनों ही स्थिति मे सम रहे। इसी प्रकार प्रत्येक साधक अनुकूल के प्रति स्नेहराग और प्रतिकूल के प्रति द्वेषभाव न करे, सभी स्थितियों में सम रहे। ये ही निसगता की साधना के सूत्र हैं।

बन्धुओ !

आप भी अपनी भूमिका के अनुसार इस प्रकार की साधना करेंगे तो गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी उच्च आदर्श तक पहुंच सकेंगे। □

३१

कामविजय : क्यों और कैसे ?

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

कामवासना पर विजय पाना साधक की सबसे बड़ी उपलब्धि है, सर्वश्रेष्ठ विजय है। ससार में एक से एक बढ़कर निर्भय, साहसी, योद्धा, पहलवान, बलवान एवं शूरवीर आए। ऐसे-ऐसे सुभट संसार में आए. जिनकी धाक से पृथ्वी कांपती थी, जो संग्राम में अपनी तलवारें चमकाते थे, तो लाखों सुभटों को मौत की गोद में सुला देते थे। किन्तु इन सब विजयों के उपरान्त भी वे कामवासना पर विजय नहीं पा सके। योगिराज भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—

> मत्तेभकुम्भ-दलने भुवि सन्ति धीराः,
> केचित् प्रचण्ड-मृगराज-वधेऽपि दक्षाः।
> किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
> कन्दर्प-दर्प दलने विरला मनुष्याः॥

इस संसार में ऐसे ऐसे धीरपुरुष हैं, जो मत्त गजराज के कुम्भ को विदीर्ण करने में समर्थ हैं। कई ऐसे भी वीर हैं, जो प्रचण्ड सिंह को एक झटके में मार डालने में दक्ष हैं, किन्तु मैं उन बलिष्ठ पुरुषों के सामने साहसपूर्वक कह सकता हूँ कि काम के घमण्ड को चूर-चूर करने में शूरवीर तो इने-गिने मनुष्य ही हैं।

इसलिए कहा गया है **'कामविजेता, जगतोविजेता'** काम पर विजय पाने वाला जगद्विजयी है।

कामवासना का दास विश्व का दास है। बड़े से बड़े योगी, ध्यानी, मौनी और तपस्वी भी काम के आगे हार खा जाते हैं। जो भिक्षा-जीवी हैं, दिन में एक बार और वह भी नीरस आहार करते हैं, जमीन पर सोते हैं, जिनके कुटुम्बीजनों में एकमात्र उनका अपना शरीर है, वस्त्र

के नाम पर जिनके पास एक जीर्ण-शीर्ण गुदड़ी है, किन्तु अफसोस है, उन्हें भी कामवासना नहीं छोड़ती।

इस प्रकार काम की प्रबलता और अधिकांश साधकों की दुर्बलताएँ देखकर प्रस्तुत अट्ठाईसवे अध्ययन में आर्द्रक अर्हतर्षि ने कामवासना पर विजय पाने की प्रेरणा देते हुए कहा है—

छिण्णसोते भिसं सव्वे, कामे कुणह सव्वसो।
कामा रोगा मणुस्साण, कामा दुग्गति-वड्ढणा ॥१॥
णासेवेज्जा मुणी गेहिं, एकंतमणुपस्सतो।
कामे कामेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं ॥२॥

अर्थात्—साधक कामवासना के सभी स्रोतों को एकदम सर्वथा बंद कर दे, क्योंकि काम मनुष्यों के लिए रोग के सदृश है। वे दुर्गति वर्द्धक हैं ॥१॥

निर्जन वन में, एकान्त में रहने वाला मुनि भी गृहस्थी (गृहस्थ के काम-भोगों) का सेवन न करे; क्योंकि काम की कामना करने वाले मनुष्य काम का सेवन न करने पर भी दुर्गति के पथिक बन जाते हैं ॥२॥

साधक जीवन सर्वोत्तम जीवन है, किन्तु उस जीवन में यदि काम प्रविष्ट हो जाता है तो वह उसे निन्दापात्र और वासना का गुलाम निकृष्ट जीवन बना देता है। ऐसे विलासी और पामर जीवन से वह स्वयं ही जीते जी असन्तुष्ट रहता है और मरने पर अनेक बार दुर्गतियों में जाकर दुःख पाता है। इसलिए अर्हतर्षि आर्द्रक आत्म-साधना में प्रविष्ट होने वाले साधक को परामर्श देते हैं कि कामवासना के प्रविष्ट होने के जितने भी द्वार हैं, उन्हें बिलकुल बंद कर दो। जिस नौका में जरा-सा भी छेद होता है, उसमें शीघ्र ही पानी घुस जाता है और उसमें बैठे हुए यात्री सहित नौका को ही ले बैठता है। इसी प्रकार जिस साधक की जीवन रूपी नौका में वासना का छिद्र है, उसमें काम रूपी जल तेजी से प्रविष्ट हो जाता है और साधना-सहित सारे जीवन को ले डूबता है।

निर्जनवन में एकान्त में महकने वाला उत्कृष्ट साधक जीवनरूपी पुष्प भी कामराग से आहत होकर एकदम कुम्हला जाता है। यद्यपि ऐसा साधक एकान्त में साधना करता है, परन्तु वहाँ भी यदि वह साधक गृहस्थी के कामभोगों का सेवन करता है तो शीघ्र ही उसकी साधना मिट्टी में मिल जाएगी, उसकी आत्मा का विकास अवरुद्ध हो जाएगा। यदि वह एकान्त में रहकर भी गृहस्थ के संसर्ग में या गृहस्थी के वातावरण में रहता है, तो भी

उसका मन कामवासना की लहरों से दूषित हो जाएगा और उसकी साधना चौपट हो जाएगी।

अथवा जिस साधक के मन में कामवासना की रंगीन तस्वीरें घूम रही हैं, परन्तु सामाजिक बन्धन या दूसरे बन्धन उसे ऐसा करने से रोक रहे हैं, तो मन में उठने वाली कामवासना की ललक भी उस साधक की साधना को दूषित करके उसे दुर्गति का मेहमान बना देगी। अतः कामवासना पर कोरा कायिक संयम ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिए मन और वाणी पर भी संयम होना चाहिए। वह तो कोरा कैदी जीवन है, जो समाज के बन्धन में कैद होने से काम-सेवन नहीं कर पाता, परन्तु मन में कामाग्नि भभक रही है। बाहर से शान्त दिखाई देने वाली वह कामाग्नि कभी भी निमित्त मिलते ही भभक सकती है।

इसलिए अर्हतर्षि काम की अभिलाषा करने वाले कामलोलुप लोगों के जीवन की दुर्दशा को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं—

> **जे लुभंति कामेसु, तिविहं हवति तुच्छ से।**
> **अज्झोववण्णा कामेसु बहवे जीवा किलिस्सन्ति ॥३॥**
> **पत्थंति भावओ कामे, जे जीवा मोहमोहिया।**
> **दुग्गमे भयसंसारे, ते धुवं दुक्खभागिणो ॥५॥**
> **काम-सल्लमणुद्धित्ता जंतवो कामसुच्छिया।**
> **जरा - मरण - कांतारे, परियत्तत्यवक्कमे ॥६॥**

जो कामों (कामवासनाओं) में लुब्ध होता है, वह तीनों प्रकार से अर्थात्—मन, वाणी और कर्म से, सत्वहीन हो जाता है। कामभोगों में आसक्त हुए बहुत-से जीव (जीवन में) क्लेश ही पाते हैं ॥३॥

जो मोह मोहित जीव भाव से (मन से) काम की अभिलाषा (प्रार्थना) करते हैं, वे इस दुर्गम भयावह संसार में अवश्य ही दुःख के भागी होते हैं ॥५॥

काम में आसक्त जीव, जब तक कामरूप शल्य (बाण) को चित्त से नहीं निकाल फेंकते हैं, अथवा जड़मूल से काम को मन से नहीं उखाड़ फेंकते हैं, तब तक वे जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु की अटवी में वक्रतापूर्वक (टेढ़े मेढे रास्तों से) परिभ्रमण करते रहते हैं ॥६॥

कामवासना सुख की एक ऐसी मृगमरीचिका है, जिसमें दूर से प्रचुर सुख झलकता है, किन्तु ज्यों-ज्यों मानव कामवासना में आसक्त होकर

उसकी पूर्ति करने जाता है, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक दुःखी होता जाता है। सुख कामपिपासु से दूर भागता जाता है। एक पाश्चात्य विचारक 'सेनेका' कहता है—

If sensuality were happiness, beasts were happier than men; but human felicity is lodged in the soul not in the flesh.

'यदि कामवासना में अधिक सुख हो तो जानवर मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सुखी होते, किन्तु मनुष्य का आनन्द आत्मा में रहा हुआ है, मांस (शरीर) में नहीं।'

अगर कामभोगों में ही सुख होता तो अमेरिका के लोग सबसे अधिक सुखी होते। परन्तु आज वे लोग ही शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार से सबसे अधिक दुःखी हैं। उनके पास कामभोगों के उपभोग की एक से एक बढ़कर सामग्री है, धन भी प्रचुर मात्रा में है, सुख के साधन भी अत्यधिक हैं। वे इन्द्रिय विषयों (कामभोगों) का भी खुलकर उपभोग करते है, फिर भी उन्हें क्षणिक सुख के सिवाय अधिकतर दुःख ही दुःख मिलता है। वे कामभोगों का उपभोग करते करते ऊब गये हैं। अगर कामभोगों की तृप्ति ही सुख का कारण होती तो अमेरिका के लोग सुख की खोज में भारत जैसे देशों में न भटकते, न ही भारतीय योगियों से वे सुख का उपाय पूछते।

एक विचारक ने कहा है -

'सांसारिक और इन्द्रिय-विषयों के आनन्द प्रायः क्षणिक, झूठे और धोखे से भरे होते हैं। वे नशीली चीजों से होने वाले नशे के समान अनेक पश्चात्तापों को साथ लिए हुए केवल एक घंटे तक पागलपन की खुशी देते हैं।'

इसीलिए चित्तमुनि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को बोध देते हुए कहते हैं—

बालाभिरामेसु दुहावहेसु न तं सुहं कामगुणेसु राया !

'हे राजन् ! ये कामभोग मूढ़ (अज्ञानी) लोगों को ही रमणीय लगते हैं, परन्तु वे अनेक दुःखों को लाने वाले हैं।'

जो साधक कामवासना के चक्कर में पड़ जाता है, वह अपना तेज खो बैठता है, शारीरिक दृष्टि से वह अनेक रोग और विपत्तियों से घिर जाता है, उसके जीवन का रस निचुड़ जाता है, मानसिक दृष्टि से वह शोक संताप और अतृप्ति के दुःख का भागी बन जाता है। वह मन, वाणी और शरीर, तीनों से निःसत्व बन जाता है। जब जीवन में ब्रह्मचर्य का

तेज समाप्त हो जाता है, तब मानव के जीवन का रस भी उसी तरह समाप्त हो जाता है, जिस प्रकार गन्ने में से रस निकल जाने के बाद वह कूड़े का ढर मात्र रह जाता है।

जो व्यक्ति बाहर से निष्काम प्रतीत होते हैं, किन्तु जिनके मन में कामवासना की लहरें उठती हैं, वे वर्तमान और भविष्य मे संसार में सबसे अधिक दु:खी जीव हैं।

यह निश्चित समझिए कि जब तक कामवासना की रस्सी जली नहीं है, तब भवपरम्परा समाप्त नहीं होती। कामासक्ति संसार की वह बेल है, जिस पर जरा और मृत्यु के विषफल लगा करते है।

कामासक्त पुरुष सम्पूर्ण जगत् को काम के आगे तुच्छ समझता है। वह तुच्छ कामसुख को पाने के लिए अपने साम्राज्य तक को छोड़ने को तैयार हो जाता है।

'कीलर' नाम की सुन्दरी के रूपपाश में फंसने के कारण इंग्लैण्ड के कामासक्त विदेशमन्त्री 'प्रोफ्युमो' को अपने पद मे त्यागपत्र देना पड़ा था। इनकी काम-लीला की चर्चाएँ अखबारों में प्रकाशित हो गई थीं, जिसके कारण बहुत बदनामी भी हुई।

कामवासना से होने वाली इहलौकिक और पारलौकिक हानियों का उल्लेख करते हुए अर्हतर्षि आर्द्रक कहते हैं --

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोपमा।
बहु-साधारणा कामा, कामा संसारवड्ढणा ॥४॥

'काम शूल की तरह चुभनेवाली वस्तु है। काम विष की तरह मारक है। काम आशीविष सर्प के समान भस्म करने वाला भयकर पदार्थ है। काम अत्यन्त तुच्छ (साधारण) वस्तु है और काम ससार को बढ़ाने वाला है ॥४॥

वस्तुत: काम का बाहरी रूप अत्यन्त मोहक है, साधारण अज्ञमनुष्य काम के परिणामों से अनभिज्ञ रहकर उसे अपना लेता है, वह अपने तीखे बाणों से उसे घायल कर देता है। थेरी गाथा मे बताया है—

सत्ति-सूलूपमा-कामा'

काम विषबुझे बाणों के समान तथा तीखे भाले के समान पीड़ादायक है। काम अपने आप में एक प्रकार का तीव्र विष है, जो एक जन्म तक ही नहीं, अनेक जन्मों तक मारता है। मोहक और सुरूप दिखाई देने वाले काम

एक दिन इतने विद्रूप होकर सामने आते है कि क्रूरता भी शर्मा जाती है। आशीविष सर्प दूर से देखते ही अपनी फुफकार से ही जीव को वहीं खत्म कर देता है, किन्तु कामरूपी सर्प उससे भी भयंकर है, यह हजारों—लाखों कोस दूर बैठे कामपीड़ित को विषाक्त बनाकर मार डालता है। कामविकार के आवेग वस्तुतः उन पागल कुत्तों की तरह हैं, जो स्वयं को पालने वाले को ही काट खाते हैं, इसलिए कामरूपी पागल कुत्तों को न पालना ही श्रेयस्कर है।

कामाणं मग्गणं दुक्खं, तित्ती कामेण दुल्लभा।
विज्जुज्जोगो परं दुक्खं, तण्हक्खय परं सुहं ॥६॥

कामभोगाभिभूतप्पा, विच्छिण्णा वि णराहिवा।
फीतिं कित्तिं इमं भोच्चा, दोग्गतिं विवसा गया ॥१०॥

काममोहितचित्तेणं विहाराहारकंखिणा।
दुग्गमे भयसंसारे, परीतं केसभागिणा ॥११॥

असब्भाव पवत्तेंति, दीणं भासंति वीरुवं।
कामग्गहाभिभूतप्पा, जीवितं पहयंति य ॥१५॥
हिंसादाणं पवत्तेंति, कामतो केति माणवा।
वित्तं णाणं स विण्णाणं. केइणेंति हि संखयं ॥१६॥

सदेवोरग-गंधव्वं, सतिरिक्खं समाणुसं।
काम-पंजर-संबद्धं, किस्सते विविहं जगे ॥१७॥

जे गिद्धे कामभोगेसु, पावाइं कुरुते नरे।
से संसरंति संसारं, चउरंतं महब्भयं ॥१६॥

अर्थात्—कामों का अन्वेषण दुःखरूप है। कामों से तृप्ति होनी भी दुर्लभ है। उनसे वियोग के क्षण तो और अधिक दुःखदायक हैं। अतः सच्चा सुख तो (काम) तृष्णा के क्षय करने में ही है।।६।

काम भोग से अभिभूत सम्राट् एक दिन इस सम्पूर्ण पृथ्वी को भोग कर विवश होकर उनसे विच्छिन्न हो गए, और दुर्गति के पथिक बने ।।१०॥

जिसका चित्त काम से मोहित हो गया, वह कामाभिनिविष्ट होकर आहार-विहार का आकांक्षी बनता है और इस दुर्गम भयावह संसार में चारों ओर से क्लेश का भागी बनता है ॥११॥

कामग्रह से अभिभूत आत्मा असद्भाव की प्रवर्त्तना (प्ररूपणा) करते हैं, दीनता और खुशामद की भाषा बोलते हैं। ऐसे लोग अपना जीवन स्वयं विनष्ट कर देते हैं ॥१५॥

काम से प्रेरित कई मानव हिंसा और चोरी में भी प्रवृत्त होते हैं। ऐसे व्यक्ति सम्पत्ति, ज्ञान और विज्ञान सब कुछ खो बैठते हैं ॥१६॥

देव, उरग (सर्प), गन्धर्व, तिर्यञ्च और मनुष्य, इस प्रकार सारा संसार काम के पींजरे में बन्द होकर जगत् में विविध क्लेशों का अनुभव करते हैं ॥१७॥

जो मानव कामभोगों में गृद्ध होकर अनेक पाप करते हैं, वे महा भयंकर चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं ॥१८॥

यहाँ मैं आर्द्रक ऋषि की काम-विषयक गाथाओं को क्रम से न लेकर विषयबद्ध क्रम से ले रहा हूं।

वास्तव में देखा जाय तो जब से मनुष्य कामभोगों की तलाश करने लगता है, तभी से वह मन से बार-बार बेचैन हो उठता है। अतः काम की प्राप्ति ही दुःखरूप है। प्राप्ति होने के बाद भी जो व्यक्ति कामसेवन से तृप्त होना चाहता है, वह भी घोर भ्रम में है। क्या आग में घी की अधिकाधिक आहुति डालने से वह कभी तृप्त होती है ? इसी प्रकार ज्यों-ज्यों काम वासना की तृप्ति के उपाय किये जाते हैं, त्यों-त्यों वह आग की तरह अधिकाधिक भड़कती है। इसलिए काम की तृष्णा को जड़मूल से समाप्त करने में ही सच्चा सुख है। जिन कामभोगों की प्राप्ति ही दुःखरूप है, उनका वियोग तो प्राप्ति से भी अधिक दुःखदायी है।

जिनका जीवन कामलक्षी रहा है, विश्व उन्हें शीघ्र ही भूल गया, परन्तु जो त्याग, तप, संयम और वैराग्य के पथ पर चले, उनको हजारों वर्ष बीत जाने पर भी लोग भूले नहीं हैं।

कुछ कामग्रह से ग्रस्त व्यक्ति अपने पामर जीवन की भूख मिटाने के लिए असत्य प्ररूपणा करने लगते हैं कि 'कामसुख ही सर्वस्व सुख है, कामभोग से समाधि प्राप्त होती है, वही योग और ध्यान का सन्मार्ग है, अपनी इन्द्रियों को कामभोगों में खुली छोड़ दो, कामेच्छा को दबाओ मत।'

'साइकॉलोजी एण्ड मॉरल्स' नामक पुस्तक में मनोविज्ञानवेत्ता प्रो० हेडफील्ड ने लिखा है कि 'स्वच्छन्द यौनाचार (काम प्रवृत्ति) का परामर्श देना, व्यक्ति को विनाश के मार्ग की ओर धकेलना है।'

कामप्रेरित मन अपनी वासनापूर्ति में बाधक को दूर करने के लिए हिंसा को अपनाता है। संसार के इतिहास में ऐसी बहुत-सी घटनाएँ हुई हैं कि कामी के प्रस्ताव को ठुकराने पर प्रतिहिंसा की ज्वाला उसके हृदय में भभक उठी, और उसने अपने प्रेमी को या कामपूर्ति में बाधक को समाप्त कर दिया। सती मदनरेखा ने मणिरथ राजा का प्रस्ताव ठुकरा दिया। इस पर उसने अपनी मनोरथ पूर्ति में बाधक अपने छोटे भाई युगबाहु को मार डाला था। कामी

जीव समय आने पर किसी दूसरे की बहन; बेटी या पत्नी आ अपहरण करने में भी संकोच नहीं करता। यह एक प्रकार की चोरी ही है। उज्जयिनी नृप चण्डप्रद्योत उदायन राजा की दासी स्वर्णगुटिका को चोरी से अपने साथ भगा ले गया था। कामी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति, ज्ञान, विज्ञान सब कुछ कामाग्नि में होम देता है। इसके लिए हमारे सामने ज्वलन्त उदाहरण रावण का है। कामवासना की आँधी ने उसके ज्ञान-विज्ञान के दीप को बुझा दिया, फलतः उसकी सोने की लंका उसकी आँखों के सामने ही भस्म हो गई।

कामविकार आत्मकृत है, स्वाभाविक नहीं

कई लोग, खासकर कामविज्ञान के पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि कामविकार मनुष्य के लिये अपराध नहीं, भूख, प्यास आदि हाजतों की तरह काम-वृत्ति-प्रवृत्ति स्वाभाविक हाजत है। उसकी तृप्ति की प्रक्रिया में कोई रोक नहीं लगाई जानी चाहिए।

जहाँ तक भारतीय अध्यात्मविज्ञान का प्रश्न है, उसके विज्ञों ने काम को मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं, विकृति मानी है। अगर स्वाभाविक प्रवृत्ति होती तो एक नन्हें बालक मे भी होती। काम मानव-जीवन का दुर्बल पक्ष है, बहुत नाजुक भी है। यह आत्मकृत अपराध है। इसी तथ्य को अनावृत करते हुए अर्हतर्षि कहते है—

अप्पक्कसावराहोऽयं, जीवाणं भवसागरो।
सेओ जरग्गवाणं, वा अवसाणंमि दुत्तरो ॥१२॥
अप्पक्कसाऽवराहेहि जीवा पावंति वेदणं।
अप्पक्कसेहिं सल्लेहिं, सल्लकारी व वेदणं ॥१३॥
जीवो अप्पोवघाताय, पडते मोह— मोहितो।
बद्ध-मोग्गर-मालो वा, णच्चंतो बहुधारियो ॥१४॥
जहा निस्साविणीं नाव, जाति-अन्धो दुरूहिया।
इच्छते पारमागंतुं, अन्तरे च्चिय सीदति ॥२०॥

अर्थात्— जीवों के लिए यह काम-सेवन आत्मकृत अपराध है, अथवा अप्राकृत अपराध है। इससे भवसागर का अन्त (पार) करना उसी तरह दुस्तर हो जाता है, जिस तरह वृद्ध बैल के लिए जीवन के अन्तिम वय में यात्रा करना ॥१२॥

जीवात्मा अपने किये हुए (आत्मकृत) या अप्राकृतिक अपराधों के कारण घोर वेदना पाते हैं। आत्मकृत शल्यों के द्वारा ही शल्यकारी वेदना पाता है ॥१३॥

मोह-मोहित आत्मा अपने ही उपघात के लिए पतित होता है। वह

मानो वन्धरूप मुद्गर को पकड़ कर प्रायः विश्व के रंगमंच पर बहुत बार नृत्य करता है ॥१४॥

जिस प्रकार निस्राविणी अर्थात् छिद्ररहित नौका भी हो, परन्तु उस पर जन्मान्ध कर्णधार बैठा हो और उस पार जाना चाहता हो, परन्तु अन्धत्व के कारण वह बीच में ही संकटग्रस्त हो जाता है। (उसी प्रकार कामान्ध व्यक्ति संयम की छिद्ररहित नौका पाकर भी उस पार जाना चाहे तो नहीं जा सकता, वह बीच में ही संकटग्रस्त हो जाता है।) ॥२०॥

कामोन्मत्त मनुष्य काम विकार को स्वकृत अपराध न मानकर निमित्त पर उसका दायित्व डाल देता है, अथवा उसे भगवान् की देन समझता है, फिर वह स्वच्छन्द होकर इस अपराध को बार-बार करता जाता है, और उसे प्राकृतिक (स्वाभाविक) प्रवृत्ति मानता है। इस अज्ञानता का परिणाम यह आता है, प्रारम्भ में तो कदाचित् मानव उस (काम) के पीछे दौड़ लगा लेता है जैसे बूढ़ा बैल प्रारम्भ में ठीक चलता है, परन्तु उसकी बूढ़ी टांग थक जाती है, इसी प्रकार काम विकार रूप अपराध जीवन की सन्ध्या में विघातक बन जाता है। तथा इससे जीवों को जीवन की सन्ध्या में संसार-समुद्र पार करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसलिए सभी साधकों को कामविकार को अप्राकृतिक या आत्मकृत अपराध मानना चाहिए।

काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आत्मकृत अपराध है। दूसरा कोई इन अपराधो को कराता नहीं, न ही प्रेरणा देता है। और इन्ही अपने किये हुए पापों के फलस्वरूप मनुष्य अनन्तकाल तक वेदना भोगता है। उस समय नरक मे परमाधार्मिक असुर उसे याद दिलाते हैं कि तूने हंस हँसकर काम आदि अमुक अपराध किये थे, उनका फल चख ले। परन्तु अज्ञानी मानव प्रायः इस सिद्धान्त को नहीं समझता कि मै अपनी ही गलतियों के कारण दुःख पा रहा हूँ। सुख और दुःख का कर्ता और भोक्ता मै ही हूं। परन्तु ज्ञान-चेतना के अभाव में मनुष्य अपने सुख दुःखों की जड़ दूसरे में खोजता है। और उस निमित्त को दुःख का हेतु मानकर उसे नष्ट कर देना, तथा समर्थ शक्तिविशेष को सुखप्रदाता मानकर उससे याचना करना चाहता है। इस प्रकार दुःख के लिए वह दूसरों पर रोष-दोष का आरोपण करता है और सुख के लिए वह दूसरों से भीख मांगता है। परन्तु आज से ढाई हजार वर्ष पहले भगवान महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन उत्तराध्ययन सूत्र में इस शाश्वत सिद्धान्त को रखा था—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।

आत्मा ही दुःखों और सुखों का कर्ता है और वही भोक्ता है। हे

आत्मन् ! दुनिया की कोई भी बाहरी ताकत न तो तुझे सुख दे सकती है और न ही किसी दूसरे में इतना साहस है कि वह तुम्हें दुःख दे सके।

तब फिर यह प्रश्न होता है, कि जब यह निश्चित सिद्धान्त है कि जीव स्वयं अपने भले-बुरे या सुख दुःख के लिए उत्तरदायी है, तब वह स्वय क्यों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना चाहेगा ? स्वयं क्यों दुःख मोल लेगा ? इसका समाधान १४वीं गाथा में किया गया है, जीव चाहे या न चाहे, पाप या अपराध करेगा, तो उसका दण्ड उसे मिलेगा ही। मनुष्य जिस समय काम आदि पाप करता है, उस समय मोहवश उसे कुछ भी भान नहीं रहता कि मैं जो कुछ करता हूँ, उसका परिणाम कितना भयंकर आयेगा ? अपने पतन के लिए मोहवश स्वयं गड्ढा खोदता है। जैसे एक भौंरा कठोरतम काष्ठ को छेद सकता है, परन्तु कोमल कमलकोष में वह बंध जाता है, उसे छेदन करने की शक्ति होने पर भी मोहवश उसकी शक्ति कुण्ठित हो जाती है। मोह के धागों ने जैसे उसकी शक्ति को मजबूती से बांध रखा है, वैसे ही मोह के तारों से बंधे मानव की शक्ति कुण्ठित हो जाती है। मोहवश वह स्वयं को पतन के गड्ढे में डाल देता है। मोह ही वह बन्धरूपी मुद्गर है, जिसे हाथ में लेकर संसार के रंगमंच पर प्राणी अनन्तकाल से नृत्य करता आ रहा है। युग बीत गये, पर अभी तक उसका यह नृत्य समाप्त नहीं हुआ।

महाकवि सूरदासजी, जिन्होंने आंख वालों को दृष्टि दी है, इसी नृत्य की एक झांकी अपने भजन में दे रहे हैं—

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध का पहरि चोलना, कण्ठ विषय की माल ॥

इसका भावार्थ यही है कि प्रभो ! मैं बदन पर काम क्रोध का चोला और कण्ठ में विषयों की माला पहन कर इस दुनिया के रंगमंच पर बहुत नाच चुका हूँ। अब मैं विश्रान्ति चाहता हूं, इस नृत्य से।

सचमुच, मोह-बन्धनवश ही मनुष्य कामचेष्टा करके अपना ही आत्मघाती बनकर दुःख पाता है।

ययाति राजा अत्यन्त बुद्धिमान् था, मगर वह काम का कीड़ा था। बूढ़ा हो जाने पर भी उसकी कामलिप्सा नहीं मिटी। वह इससे बहुत ही खिन्न और उदास रहने लगा। किसी ने उसे एक सुझाव दिया कि यदि आपका बुढ़ापा और कोई ले ले और अपनी जवानी आपको दे दे तो आप पुनः युवा हो सकते हैं, अपनी कामतृप्ति कर सकते हैं। अपने पिता की उत्कट कामलिप्सा और खिन्नता देखकर ययाति के पुत्र ने उसे अपना यौवन दे दिया। कहते हैं, कामान्ध ययाति पुनः अधिकाधिक काम-सेवन

करने लगा। उसका शरीर निचुड़ गया, इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं, हाथ पैर आदि अंग ढीले पड़ गये, फिर भी कामलोलुप ययाति तृप्त न हुआ। कामान्ध ययाति बिलकुल अशक्त और जर्जर हो गया। उस आत्म-कृत घोर अपराध का फल ययाति को अनेक जन्मों तक भोगना पड़ा। घोर वेदना और मानसिक कष्ट सहना पड़ा।

काम-विजय के अनूठे उपाय

प्रश्न होता है कि काम जब इतना प्रबल है, कि वह बड़ों-बड़ों को मात कर देता है, बड़े से बड़े धर्मधुरन्धरों, योगियों, फकीरों तक को वह पराजित कर देता है, तब उसे कैसे वश में किया जाये ? उस पर कैसे विजय प्राप्त की जाये ? अर्हतर्षि काम-विजय के लिए कुछ उपाय बताते हुए कहते हैं—

> सदेव-माणुसा कामा, मए पत्ता सहस्ससो।
> न याऽहं कामभोगेसु तित्तपुव्वो कयाइ वि ॥७॥
> तित्तिं कामेसु णासज्ज, पत्तपुव्वं अणंतसो।
> दुक्खं बहुविहाकारं कक्कस परमासुभं ॥८॥
> काले काले य मेहावी, पंडिए य खणे-खणे।
> कालातो कंचणस्सेव, उद्धरे मालमप्पणो ॥२१॥
> अंजणस्स खयं दिस्स, वम्मीयस्स य संचयं।
> मधुस्स य समाहारं, उज्जमो संजमे वरो ॥२२॥
> उच्चादीयं य विकप्पं तु, भावणाए विभावए।
> ण हेमं दंतकट्ठं तु चक्कवट्टी वि खावए ॥२३॥
> खण थोव-मुहुत्तमंतरं, सुविहित पाउणमप्पकालियं।
> तस्स वि विपुले फलागमे, किं पुण जेसिद्धि परक्कमे ॥२४॥

अर्थात्—देवों और मनुष्यों के ये काम-भोग मैंने हजार-हजार बार प्राप्त किये हैं। अत: मेरे द्वारा पहले छोड़े हुए इन कामभोगों को मैं पुनः कदापि नहीं अपनाऊंगा ॥७॥

ये कामभोग मुझे पहले अनन्त बार प्राप्त हुए हैं, किन्तु यह आत्मा उनमें तृप्त नहीं हो सकी, अपितु इन कामभोगों में आसक्त होकर मैंने बहु-विध कर्कश (कठोर) और परम अशुभ दुःख प्राप्त किये हैं ॥८॥

मेधावी पण्डित साधक प्रतिसमय और प्रतिक्षण जागरूक रहकर सोने पर जमे हुए मैल को दूर करने की भांति अपनी आत्मा पर लगे हुए कामादि विकारमल को दूर करे—इस प्रकार अर्हतर्षि आर्द्रक ने कहा ॥२१॥

नेत्रांजन (काजल) का क्षय, वल्मीक (दीमक) के द्वारा किया हुआ

संचय और (मधुमक्खी द्वारा किया गया) मधु-संग्रह देखकर इस प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संयम में ही उद्यम करना चाहिए ॥२२॥

उच्च आदि के विकल्प (मनुष्य की) भावना द्वारा ही किये जाते हैं, क्योंकि चक्रवर्ती भी सोने के दंतकाष्ठ (दतौन) को खाता नहीं, फेंक देता है ॥२३॥

क्षण, स्तोक, मुहूर्तभर की गई अल्पकालिक शुभक्रिया भी विपुल फल दे जाती है। फिर जो साधक सिद्धस्थिति प्राप्त करने के लिए आजीवन पुरुषार्थ करते हैं, उनकी (आत्म) साधना का तो कहना ही क्या ? ॥२४॥

अर्हतर्षि आर्द्रक ने यहाँ छह गाथाओं में काम से विरत होने या काम पर विजय पाने के उपाय बताए हैं।

एक बात तो निश्चित है कि कामवासना का एकदम दमन कई बार अनेक शारीरिक और मानसिक रोगों को जन्म दे सकता है। कामोत्तेजना को दबाने से कई बार स्नायविक तनाव भी हो जाता है। जब काम का प्रबल वेग व्यक्ति के मन में होता है, परन्तु परिवार, समाज आदि के डर से वह उसे दमित कर लेता है, तो प्रायः अवचेतन मन में उसकी आग धधकती रहती है और निमित्त पाकर प्रबल वेग से कामोत्तेजना भड़क सकती है। फिर वह अनेक प्राकृतिक-अप्राकृतिक द्वारों से खुलकर खेल सकती है।

अतः अर्हतर्षि कामविजय का सर्वोत्तम उपाय बताते हैं आन्तरिक वैराग्य। जब कामवासना से होने वाले कुपरिणाम पर विचार करके मनुष्य को अन्तर् से उस पर विरक्ति हो जाएगी, तब कामवासना का प्रादुर्भाव होते ही एकदम सावधान होकर उसे खदेड़ देगा।

कामविकार के प्रबल अन्धड के आते ही मनुष्य वैराग्य का गोगल्स (काले रंग का चश्मा) अपनी दृष्टि पर लगा लेगा। वह यही सोचेगा आत्मा अनन्त काल से विविध गतियों और योनियों मे यात्रा करती आ रही है। उस सुदीर्घ यात्रा में मैंने अनेक बार देव और मानव भव में हजारों बार इन कामभोगों को अपनाया, भोगा और इनके परिणामों को भी प्राप्त किया, फिर भी क्या मैं इनमे शाश्वत शान्ति पा सका हूँ ? इन कामभोगों से न तो मुझे कभी तृप्ति हुई है, न कभी शान्ति ही, बल्कि क्षणिक सुख के बाद मुझे अनन्त-अनन्त दुःखों की परम्परा प्राप्त हुई है।

अतः सर्वोत्तम उपाय यह है कि काम मेरी अनन्तशक्तिसम्पन्न आत्मा पर विजय पाए, इससे तो अच्छा यही है मैं ही काम से सर्वथा विरक्त होकर इस पर विजय प्राप्त करूं।

कामविजय का दूसरा उपाय है— प्रतिक्षण सावधानी। जिस प्रकार

केसर का व्यापारी प्रतिक्षण सावधान रहता है कि उसमें धूल न पड़ जाए, क्योंकि उसमें धूल पड़ने से उसका मूल्य कम हो जाता है, इसी प्रकार मेधावी साधक आत्मा पर लगने वाले कामादि मैल को दूर करने के लिए प्रतिक्षण सावधान रहे ज्यों ही मन में, वचन में या काया में काम का मैल आए, त्यों ही वह कामविजेता तीर्थंकरों अथवा स्थूलभद्र आदि महापुरुषो का स्मरण करके तुरंत उस काम-मल को हटा दे। अगर साधक जरा भी गाफिल हुआ तो कामविकार उसके मन में प्रविष्ट हो सकता है। अतः साधक प्रतिक्षण जागृत रहे, और अपने मन, वचन, काया पर पहरेदारी रखे, यदि काम रूपी चोर जरा भी घुसने लगे कि तुरन्त उसे भगा दे। जैसे स्वर्णकार सोने पर आए हुए मैल को तुरन्त दूर करता है, इसी लगन के साथ साधक आत्मा पर लगे कामादि के मैल को दूर कर दे।

एक बात और है – मनुष्य काम-सुख के लिए जितना पुरुषार्थ करता है, वह बिल्कुल निष्फल जाता है, क्योंकि काम-सेवन से उसे रोग, शोक, वियोग, अतृप्ति, पतन, शक्तिनाश आदि अनेक दुःख ही मिले, सुख नहीं। इससे लाभ के बजाय सैकड़ो गुनी हानि ही हुई। जैसे दीपक जल-जल करके काजल तैयार करता है, परन्तु आँखो में आँजते ही वह काजल समाप्त हो जाता है। वल्मीक (दीमक) बहुत मेहनत करके अपना मिट्टी का घर बनाता है, किन्तु मानव या पशु के एक ही पाद प्रहार से वह समाप्त हो जाता है। मधुमक्खियाँ इधर-उधर से फूलो का रस ले-लेकर बहुत परिश्रम से मधु का छत्ता बनाती हैं; किन्तु क्रूर मधुग्राही धुँआ छोड़ता है, उससे सभी मधुमक्खियाँ अपनी जान बचाकर उड़ जाती हैं, महीनों की श्रम साधना से एकत्रित मधु-संचय को वह एक ही घंटे में लेकर चला जाता है। मधुमक्खियों का श्रम व्यर्थ जाता है। इसी प्रकार काम-सुख के लिए किया गया अज्ञानी मानव का पुरुषार्थ भी व्यर्थ जाता है। इन सबका पुरुषार्थ निष्फल गया, क्योंकि उसका परिणाम गलत आया। किन्तु आत्म-साधना के लिए संयम में किया गया पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं जाता, क्योंकि आध्यात्मिक गुणो के हरण करने की ताकत किसी में नहीं है। इसीलिए अर्हतर्षि कहते है कि इन सभी भौतिक पुरुषार्थों के विपरीत परिणामों को देखकर साधक को चाहिए कि वह सयम में पुरुषार्थ करे।

कई लोग इस भ्रान्ति के शिकार हैं कि जिनके पास कामभोगों के प्रचुर साधन हैं, वे ऊँचे हैं, उनका जीवनस्तर ऊँचा है और जिनके पास कामभोगों के साधन स्वल्प हैं, या बिल्कुल नहीं हैं, वे नीचे हैं, तुच्छ हैं, पर ये विकल्प अज्ञानियों की क्षुद्र कल्पनाओं पर आधारित हैं। तत्त्वज्ञानी कामभोगों में

अहर्निश डूबे हुए व्यक्ति को कभी ऊँचा नहीं मानते, श्रेष्ठ नहीं कहते, व कामभोगों के स्वेच्छा से त्यागी को महान और ऊँचा मानते हैं। चक्रवर्ती भी अनाज की रोटियाँ खाता है, और त्यागी भी। क्या चक्रवर्ती सोने या मोती की रोटियाँ खाकर अपना पेट भरता है? अतः बाह्य धन, वैभव या भोगों के आधार पर उच्चता-नीचता की कल्पना करना ही गलत है। यदि कामत्यागी महान् और श्रेष्ठ न होता तो चक्रवर्ती या देवेन्द्र आदि उसके चरणों में क्यों झुकते? अतः कामत्यागी या कामविजयी साधक ही विश्ववन्द्य और पूज्य है।

अब अर्हतर्षि उन कामविजेता महान् आत्माओं को धन्यवाद देते हुए कहते हैं—

कामग्गहविणिमुक्का, धण्णा धीरा जितिंदिया।
वितरंति मेइणिं रम्मं, सुद्धप्पा सुद्धवादिणो ॥१८॥

अर्थात्—वे कामरूपी ग्रह से विनिर्मुक्त और जितेन्द्रिय आत्माएँ धन्य हैं। उनकी आत्मा समस्त विकारों से मुक्त शुद्ध होती है। वे शुद्धवाद की प्ररूपणा करते हैं। अतः ऐसी शुद्ध आत्माएँ इस रम्य लगने वाली पृथ्वी (पार्थिव जगत) को पार कर जाते हैं। वे शुद्ध अध्यात्म गगन में ही उड़ते हैं, कामादि विकारों की मन से भी इच्छा नहीं करते, उनका सेवन करना तो दूर रहा।

कामवासना की लहरें जिस आत्मा को छू नहीं सकती, वह आत्मा सच्चे माने में धन्य है। वही शुद्धात्मा इस सौन्दर्यमय मोहमयी दुनिया को पार कर जाती है। सौन्दर्यपूर्ण यह दुनिया मानव के लिए सबसे बड़ा बन्धन है, इस परीषह को जीतना सबसे अधिक दुर्गम है। जिसने कामवासना को तोड़ फेंका, उसके लिए दूसरे बन्धनों को तोड़ना कच्चे धागे के समान है। भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र (अ. ३२/१८ गा.) में इसी तथ्य को अभिव्यक्त किया है—

एए य संगे समइक्कमित्ता, सदुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगा समाणा॥

जिसने काम-राग पर विजय पा लिया है, उसके लिए दूसरे परीषहों पर विजय पाना ऐसा ही है, जैसा कि महासागर तैर कर आने वाले के गंगा नदी को पार करना।

बन्धुओ!

कामविजय कर लेने से समस्त विकारों पर विजय प्राप्त कर लेना आसान हो जाता है। आप भी काम पर विजय पाने का पुरुषार्थ कीजिए, वही सच्चा और सफल पुरुषार्थ होगा।

□□

३२

इन्द्रिय-निग्रह का सरल मार्ग

इन्द्रियनिग्रह : क्या और कैसे ?

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! साधना के क्षेत्र में इन्द्रियनिग्रह का बहुत बड़ा महत्त्व है। परन्तु इन्द्रिय-निग्रह का यह अर्थ नहीं है कि आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों को पकड़कर कहीं बन्द करके रख देना अथवा इन्द्रियों को मार डालना, काट डालना; लेकिन यह सब न संभव है और न उचित ही है।

प्राचीन काल के कुछ साधकों में ऐसी भ्रान्ति पनप रही थी कि अगर आँख ने किसी सुन्दरी स्त्री का मनोहर रूप देख लिया तो उसे फोड़ डाली, अगर किसी के हाथ ने कोई फल चुरा लिये तो उन्हें काट डाले, अगर किसी की जीभ ने कोई अपशब्द बोल दिया तो जीभ ही काट डाली। अथवा जीभ किसी स्वादिष्ट वस्तु को चख न सके, इसके लिए लोहे के तार से मुँह सी लिया। वास्तव में यह सब अज्ञानमूलक क्रियाएँ हैं, इनसे वृत्तियों का शमन या संशोधन नहीं होता, सिर्फ दमन या उत्पीड़न ही होता है।

किसी व्यक्ति को एक तेज तर्रार घोड़ा दे दिया जाये, परन्तु यदि वह उस घोड़े को, बेलगाम छोड़ दे तो उस सवार को वह पटक देगा, क्षतिग्रस्त कर देगा। अथवा सवार उस घोड़े पर सवार भी हो गया, लगाम भी अपने हाथ में ले ली, किन्तु घोड़े को सुपथ पर चलाने के लिए वह कोड़ों से मार-मार कर उसका कचूमर निकाल दे तो सवारी किस पर करेगा। तीसरा सवार ऐसा है कि वह घोड़े की लगाम अपने हाथ में रखता है, जब भी घोड़ा विपथ पर चढ़ने लगता है, वह लगाम खींचता है और सम्यक् रास्ते पर मोड़ देता है। वह घोड़े को पुचकारता भी है, थोड़ा मारता भी है। बताइए, तीनों घुड़सवारों में से आपको कौन-सा घुड़सवार उपयुक्त जचा ? आप न कहें तो मैं ही कह दूँ। तीसरा घुड़सवार ही आपको उपयुक्त जचता है।

साधना के क्षेत्र में इन्द्रियाँ घोड़े हैं. शरीर रथ है, आत्मा सारथि है, मन उसका सहायक है। कहा भी है—

इन्द्रियों के न घोड़े विषय में अड़ें।
जो अड़ें भी तो संयम के कोड़े पड़ें॥

तन के रथ को सुपथ पर चलाते चलें।
सिद्ध अर्हन्त मे मन को लगाते चलें!

अगर सारथि कुशल अश्वसचालक है, अश्व की लगाम अपने हाथ में रखता है और सदैव जागरूक रहता है तो कोई कारण नहीं कि अश्व विपथ-गामी बने। वास्तव में आत्मा का मन्त्री (सहायक) मन है। वह जिस ओर की प्रेरणा इन्द्रियों को देता है, इन्द्रियाँ उसी ओर दौड़ जायगी। अतः आत्मारूपी सारथि स्वयं सुशिक्षित और जागरूक हो, मनरूपी सहायक मन्त्री भी सयमित हो तो वह इन्द्रियो पर शासन कर सकता है, उत्पथगामी होने से रोक सकता है। परन्तु एक बात अवश्य ही विचारणीय है। वह यह है कि छहों दिशाओं मे इन्द्रिय-विषय-वासनाओं के स्रोत उमड़-घुमड़ कर आ रहे हैं। साधक जिस दिशा में देखता-सुनता, सूंघता, चखता और स्पर्श करता है, उस दिशा में विषयासक्ति के स्रोत है। ये स्रोत जब तक बद न कर दिये जाएँ, या सुखा न दिये जाएँ, तब तक आत्मा इन्द्रिय-विषयों की आसक्ति में फसती रहेगी और कर्मों का आगमन (आश्रव) होता रहेगा। उत्तराध्ययन सूत्र (३०।५) में कहा गया है—

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे॥

किसी बड़े तालाब को सुखाना हो तो सर्वप्रथम उसमें जल के आग-मन-द्वार को रोकना होगा, तथा तालाब के अन्दर रही हुई जलराशि को उलीच कर बाहर निकालना होगा। इसी प्रकार किसी साधक को मन के तालाब को सुखाना है, और उसे विषयासक्ति, वासना या आस्रवो के स्रोत से मुक्त करना है, तो सर्वप्रथम इन आस्रवों या विषयासक्ति के आगमन द्वारों को रोकना होगा। तपस्या से कर्मों को उलीचकर उसे सुखाना होगा। ये ही वे स्रोत हैं जो आत्मा में कर्मों के आस्रवद्वार हैं। जैसे कि आचारांगसूत्र (१ श्रु. ५ अ. ६ उ. सू १२) में कहा गया है—

उड्ढं सोता अहे सोता तिरियं सोता वियाहिता।
एते सोया वियक्खाता, जेहिं संगति पासहा॥

अर्थात्—'ऊपर (आसक्ति के) स्रोत हैं, नीचे स्रोत हैं, मध्य में स्रोत

(विषयासक्ति के स्थान) हैं। ये स्रोत कर्मों के आश्रवद्वार कहे गये हैं, जिनसे समस्त प्राणियों को विषयासक्ति पैदा होती है। अतः सावधान होकर देखते रहो।'

ये स्रोत कर्मों के आगमन (आस्रव) के द्वार हैं, जो तीनों दिशाओं या लोकों में हैं। ऊर्ध्वस्रोत हैं—वैमानिक देवांगनाओं या देवलोक के विषय सुखों की आसक्ति। अधोदिशा मे स्रोत हैं - भवनपति देवों के विषय-सुखों में आसक्ति और तिर्यक्लोक मे स्रोत हैं—व्यन्तरदेव, मनुष्य और तिर्यञ्च-सम्बन्धी विषय-सुखासक्ति। इन तीनों मुख्य स्रोतों से साधक को सदा सावधान रहना चाहिए। मन की गहराई में उतरकर उन्हें देखते रहना चाहिए। इन स्रोतों को बन्द कर देने पर ही कर्मबन्धन बन्द होगा।

प्रस्तुत उन्तीसवे अध्ययन मे वर्द्धमान अर्हतर्षि ने इसी प्रश्न को उठा कर उसका सम्यक् समाधान किया है -

> सवन्ति सव्वतो सोता, कि ण सोतो-णिवारणं ?
> पुट्ठे मुणी आइक्खे कहं सोतो पिहिज्जति ?॥१॥

अर्थात्— सभी ओर से स्रोत बह रहे हैं। क्या उस स्रोत का निरोध नही हो सकता ? इस प्रकार पूछे जाने पर मुनि (वर्द्धमान अर्हतर्षि) ने बताया कि किस प्रकार स्रोत का निरोध हो सकता है ?

वस्तुत: जब तक आत्मा ससार-स्थिति में है, तब तक विषय-वासना (आसक्ति) उसके साथ है और वही वासना कर्म-स्रोत को चालू रखती है। वह स्रोत प्रत्येक स्रोत इन्द्रिय के साथ क्या, किस प्रकार का और कैसे लग जाता है, उस स्रोत को बन्द करने या रोकने का उपाय क्या है ? इस सम्बन्ध में वर्द्धमान अर्हतर्षि कहते है —

वद्धमाणेण अरहता इसिणा बुइयं -

> पंच जागरओ सुत्ता, पंच सुत्तस्स जागरा।
> पंचहिं रयमादियति पंचहि च रयं ठए ॥२॥

अर्थात् -जिनकी पाँचों इन्द्रियाँ जाग्रत हैं, वे सुप्त हैं, और जिनकी पाँचों इन्द्रियाँ सुप्त हैं, वे जाग्रत हैं। पाँचों इन्द्रियों के द्वारा ही प्रमादी आत्मा कर्मरज को ग्रहण करता है और अप्रमत्तमुनि उनके द्वारा कर्मरज को आने मे रोकता है, यों अर्हतर्षि वर्द्धमान बोले।

वास्तव में, पाचों इन्द्रियाँ ही वे स्रोत हैं, जिनमे कर्मरज का आगमन (ग्रहण आस्रव) आत्मा में होता है। जिन प्रमत्त साधकों की इन्द्रियाँ जाग्रत

हैं, वे सुप्त हैं, इन्द्रियों के वश में हैं; वासना के गुलाम हैं। उनकी स्थिति उस सवार की-सी होती है, जिसके हाथ में लगाम नहीं है। उसके इशारों पर इन्द्रिय रूपी अश्व नहीं चलते, अपितु अश्वों के इशारों पर उसे चलना पड़ता है। इन्द्रियो के सकेतों पर चलने वाला सुप्त (प्रमादी) साधक उन स्रोतों को रोक नहीं सकता। जिसके हाथ में इन्द्रिय रूपी घोड़ों की लगाम है, वही अप्रमत्त-जागृत साधक है, जो उन स्रोतों को रोक देता है। वही साधक स्थितप्रज्ञ या स्थितात्मा है, जिसके इन्द्रियाँ वश में हैं।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।'

'अपनी इन्द्रियां जिनके वश में हैं, उसकी प्रज्ञा स्थिर है।'

आगम में साधक के लिए ऐसा निर्देश है कि यदि उसकी इन्द्रियाँ प्रशस्त पथ की ओर हैं तो वह उन्हें चलने दे, किन्तु जब वे अप्रशस्त पथ में जाने लगें, तब उनकी गति को रोक दे।

कछुआ क्या करता है? जब तक वह पानी में अपने आपको सुरक्षित समझता है, तब तक आजादी से घूमता है, किन्तु जब उसे खतरे की आशंका होती है, तो उसी क्षण अंगों को समेट लेता है।[1] दक्षिण के महान सन्त तिरुवल्लुवर भी अपने त्रिकुरल में लिखते है कि "जो साधक अपनी इन्द्रियों को उसी तरह अपने भीतर खींचकर रखता है, जिस तरह कछुआ अपने हाथ-पाँव को खींचकर भीतर छिपा लेता है वह अपने समस्त आगामी जन्मों के लिए खजाना जमा कर रखता है।"

निष्कर्ष यह है कि अप्रमत्त साधक की पांचो इन्द्रियाँ सुप्त हैं, जबकि प्रमत्त साधक की पाँचों इन्द्रियां जागृत रहती है। सुप्त साधक पाँचों इन्द्रियों के द्वारा कर्मरज को ग्रहण करता है, जबकि जागृत साधक पाँचों इन्द्रियों के द्वारा कर्मरज को रोकता है।

श्रोत्रेन्द्रिय-विजय का मार्गदर्शन

पांचों इन्द्रियों के विभिन्न विषय को पाकर साधक कैसे जागृत रहे? इसके लिए अर्हतर्षि वर्द्धमान साधक को सरल और स्वाभाविक उपाय बताते हुए कहते हैं—

सद्दं सोतसमुवादाय मणुण्णं वा वि पावगं।
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुसेज्जा हि पावए ॥२॥

---

१. भगवद्गीता अ. २ श्लोक २८ में भी कहा है—

यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽंगनीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता॥

मणुण्णम्मि अरज्जंते, अदुट्ठे इयरम्मि य।
असुत्ते अविरोधीणं एव सोए पिहिज्जति ॥४॥

अर्थात्—श्रोत्र के द्वारा मनोज्ञ शब्द को पाकर साधक राग न करे, तथा अमनोज्ञ शब्द को पाकर द्वेष न करे, समचित्त रहे। मनोज्ञ शब्दों में अनुराग और अमनोज्ञ में द्वेष न करता हुआ साधक अविरोधी में जागृत रहकर कर्म-स्रोत को रोकता है।

(१) **श्रोत्रेन्द्रिय का स्वभाव है**—शब्द को ग्रहण करना। अच्छे या बुरे मधुर या कटु जो भी शब्द आते हैं, कान ग्रहण करेगा ही। साधक कान को बंद करके बैठ नहीं सकता, बैठना भी नहीं चाहिए। उसका कार्य इतना ही है वह जाग्रत रहे, मधुर शब्दों पर अनुरक्त न होकर अपने कर्तव्य को भूल न जाए। मधुरता के प्रवाह में बह न जाए। कटु शब्द कान में पड़ें, तब भी वह अपना विवेक न खोए, क्योंकि किसी भी मूल्यवान् वस्तु को खोकर भी मनुष्य इतना नहीं खोता, जितना कि वह अपना विवेक खोकर खोता है।

अतः होना यह चाहिए कि श्रवणेन्द्रिय अपना काम करे किन्तु साधक उसके बहाव में आकर अपनी साधना न खोए।

प्रश्न होता है कि श्रवणेन्द्रिय से क्या सुना जाए? श्रवणेन्द्रिय से वे ही बातें सुनी जाएँ, जिनसे आत्मा का विकास हो, आत्मा त्याग वैराग्य और सयम के पथ पर आगे बढ़े। परमात्मा की प्रार्थना, भक्तिगीत, आगमों की वाणी, धर्मोपदेश अथवा गुरुदेव के द्वारा जो भी तप-संयम के विषय में मार्ग-दर्शन हो वह सुना जाए। किन्तु विकारवर्द्धक अश्लील बातें, सिनेमा के गाने आदि सुनने से मन विषयोन्मुख होता है और उससे अशुभकर्मों का बन्धन होता है।

चक्षुरिन्द्रिय-विजय का मार्गदर्शन

(२) दूसरी इन्द्रिय आँख के रूप में आपको प्राप्त है। आँख के द्वारा सब प्रकार के अच्छे-बुरे दृश्य, रूप दिखाई देंगे, उस समय साधक क्या करे? इसके लिए अर्हतर्षि मार्गदर्शन दे रहे हैं—

रूवं चक्खुमुवादाय मणुण्णं वा वि पावगं।
मणुण्णमि न रज्जेज्जा, ण पदुसेज्जा हि पावए ॥५॥
मणुण्णम्मि अरज्जंते अदुट्ठे इयरम्मि य।
असुत्ते अविरोधीणं एव सोए पिहिज्जति ॥६॥

अर्थात्—'चक्षु के द्वारा रूप को ग्रहण करके साधक मनोज्ञ में अनुरक्त न हो और अमनोज्ञ पर प्रद्वेष न करे। इस प्रकार मनोज्ञ में आसक्त और अमनोज्ञ में प्रद्वेष न रखता हुआ साधक अविरोधीरूप में जागृत रहकर कर्मों के स्रोत को रोक सकता है।'

आँख शरीर का अमूल्य और महत्वपूर्ण अंग है। जो बात वाणी नहीं प्रकट कर सकती, उसे आँखें अनायास ही बता देती है। वे करुणा का भाव आते ही बरस पड़ती हैं, क्रोध का भाव आते ही लाल हो जाती हैं। आनन्द का अनुभव होते ही चमक उठती हैं, और लज्जाजनक बात होते ही झुक जाते हैं। आँखों से ग्रहण किये हुए मनोज्ञ—अमनोज्ञ रूप का मन पर शीघ्र प्रभाव पड़ता है। विषय-विकारों को उत्तेजना देने वाले नाटक, सिनेमा या नृत्य आदि देखने पर मन में शीघ्र ही विकार आता है, उससे अशुभकर्म का बन्ध होता है, तथा महापुरुषों तथा त्यागी सत्पुरुषो के दर्शन करने पर मन के विकार नष्ट होते हैं। अतः साधक मनोज्ञ रूप को देखकर रागभाव और अमनोज्ञ रूप को देखकर द्वेषभाव न लाए। अपने चित्त को समस्थिति में रखे। जो रूप उसके साधनापथ में अविरोधी है, उसमें साधक सदैव जागृत रहे। देव और गुरु के दर्शन, ऐर्यापथ, स्वाध्याय आदि में चक्षु का उपयोग आवश्यक है, वह साधनापथ में अविरोधी है। अतः उसमें साधक सदैव जागृत रहे।

घ्राणेन्द्रिय-विजय का मार्गदर्शन

(३) तीसरी इन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय है। नासिका के द्वारा मनुष्य अच्छी और बुरी गन्ध को सूंघता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध का प्रसंग आने पर साधक क्या करे? इसके लिए अर्हतर्षि मार्गदर्शन दे रहे हैं—

> गंध घाणमुवादाय मणुण्णं वा वि पावगं।
> मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुसेज्जा हि पावए ॥७॥
> मणुण्णंमि अरज्जंते, अदुट्ठे इयरम्मि य।
> असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोए पिहिज्जति ॥८॥

अर्थात्—नासिका के द्वारा मनोज्ञ या अमनोज्ञ गन्ध (सुगन्ध या दुर्गन्ध) को ग्रहण करके साधक सुगन्ध मे आसक्ति न रखे और दुर्गन्ध पर प्रद्वेष न करे। इस प्रकार मनोज्ञ गन्ध मे आसक्ति और अमनोज्ञ पर द्वेष न रखता हुआ साधक अविरोधी गन्ध पर सजग रहे। इस तरह साधक कर्मों के स्रोत को रोक सकता है।

वैसे तो सुगन्ध सभी को प्रिय लगती है, परन्तु दुर्गन्ध का प्रसंग आने पर घबराए नहीं। पुद्गलों का स्वभाव ही ऐसा है इस प्रकार चिन्तन करके समभाव रखे।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो इन बातों की ओर ध्यान देकर दुर्गन्ध को भी सुगन्ध मान लेते हैं और उसी में अपने आपको रमा लेते हैं। प्याज, लहसुन, मांस, मदिरा आदि का सेवन करने वाले उन वस्तुओं की दुर्गन्ध को भी सुगन्ध मान लेते हैं। मदिरा पीने वाला मद्य को गन्ध पाकर मस्त हो जाता है।

(४) चौथी इन्द्रिय है—जीभ। जिह्वा के द्वारा दो काम होते हैं—चखना और बोलना। मनुष्य जो कुछ भी खाता है उसका अनुभव जिह्वा करती है। वह यह नही देखती कि अमुक वस्तु पेट में जाकर लाभ पहुंचायेगी या हानि ? जीभ की लोलुपता के कारण अनेक व्यक्ति रोगों के शिकार हो जाते हैं, कभी-कभी तो वे अपने प्राणो से हाथ धो बैठते हैं।

रसनेन्द्रियविजय का मार्गदर्शन

जिह्वा पर मधुर या कटु रस आए उस समय साधक किस प्रकार का विवेक रखे ? इसके लिए अर्हतर्षि मार्गदर्शन देते हैं—

> रस जिब्भमुवादाय मणुण्ण वा वि पावगं।
> मणुण्णंमि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्जा हि पावए ॥९॥
> मणुण्णंमि अरज्जते, अदुट्ठे इयरम्मि य।
> असुत्ते अविरोधीणं एवं सोए पिहिज्जति ॥१०॥

अर्थात् जीभ मनोज्ञ (मधुर) या अमनोज्ञ (कटु) रस का ग्रहण करती है, किन्तु साधक मनोज्ञ रस में आसक्त न हो और अमनोज्ञ रस पर द्वेष न करे। अर्थात् मनोज्ञ रस मे आसक्ति और अमनोज्ञ रस पर द्वेष न रखता हुआ साधक अविरोधी रस पर सजग रहे। इस प्रकार वह कर्मस्रोत को रोक सकता है।

जीभ का काम चखना है, उसमे यह विवेक नहीं है कि मनोज्ञ या अमनोज्ञ वस्तु मिलने पर क्या करना चाहिए ? यह तो साधक पर निर्भर है कि वह दोनों ही स्थितियों में समभाव रखे।

आज जिह्वा-लोलुपता के कारण मनुष्य यह विवेक भूल गया है कि क्या खाना चाहिए ? कितनी मात्रा में खाना चाहिए ? भक्ष्य-अभक्ष्य का

ख्याल न रखने वाला अपने शरीर और मन दोनों को हानि पहुंचाता है। एक कहावत प्रसिद्ध है—

जैसा खावे अन्न, वैसा रहे मन।
जैसा पीये पानी, वैसी बोले वानी ॥

आप समझ गये होंगे कि अन्न और जल शुद्ध हो तो मन और वचन भी शुद्ध रहते हैं। ये दोनों अशुद्ध हों तो मन और वचन भी अशुद्ध और विकृत हो जाते हैं। परन्तु मनुष्य अपनी जीभ पर पहरा देना भूल जाता है। कबीर जी ने जिह्वा की भर्त्सना करते हुए कहा है—

खट्टा मीठा चरपरा, जिह्वा सब रस लेय।
चोरों कुतिया मिल गई, पहरा किसका देय ॥

भावार्थ स्पष्ट है। आप समझ गये होंगे कि रसेन्द्रिय के वशीभूत होने से कितना अनर्थ होता है?

स्पर्शेन्द्रिय-विजय का मार्गदर्शन

पाँचवीं इन्द्रिय है—स्पर्शेन्द्रिय। त्वचा के द्वारा वस्तु का स्पर्श करते ही कोमलता या कठोरता, चिकनेपन या खुरदरेपन, ठण्डे या गर्म, हल्के या भारी का ज्ञान हो जाता है। जो व्यक्ति स्पर्शेन्द्रिय के वश में हो जाता है, वह विलासी, सुकुमाल, सुखशील हो जाता है। ऐसे व्यक्ति कठोर शय्या पर नहीं सो सकते, उन्हें कोमल एवं गुदगुदी शय्या चाहिए। ऐसे व्यक्ति मोटा या खुरदरा वस्त्र पहन या ओढ़ नहीं सकते। साधक को मनोज्ञ या अमनोज्ञ स्पर्श हो, उस समय मनःस्थिति कैसी रखनी चाहिए? इस सम्बन्ध में अर्हतर्षि मार्गदर्शन देते हैं—

फास तयमुवादाय मणुण्णं वा वि पावगं।
मणुण्णंमि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्जा हि पावए ॥११॥
मणुण्णंम्मि अरज्जंते, अदुट्ठे इयरम्मि य।
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोए पिहिज्जति ॥१२॥

अर्थात्—त्वचा के द्वारा मनोज्ञ (कोमल) या अमनोज्ञ (कठोर) स्पर्श का ग्रहण होता है। साधक मनोज्ञ स्पर्श पर अनुरक्त न हो, और अमनोज्ञ स्पर्श पर द्वेष न करे। इस प्रकार मनोज्ञ स्पर्श पर राग और अमनोज्ञ स्पर्श पर द्वेष न रखता हुआ साधक अविरोधी स्पर्श में सदैव जागृत रहे। यों वह कर्म-स्रोत को रोक सकता है।

निष्कर्ष यह है कि साधक को मनोज्ञ स्पर्श में आसक्त नहीं होना

चाहिए तथा अमनोज्ञ स्पर्श पर घृणा या द्वेष नहीं करना चाहिए। दोनों स्थितियों में समभाव रखना चाहिए।

मतलब यह है कि ये पांचों इन्द्रियाँ इतनी बलवान् हैं कि अगर सावधानी न रखे तो बड़े-बड़े विद्वानों को भी पछाड़ देती है।

इन्द्रियों को वश में रखने, न रखने से लाभ-हानि

इन्द्रियों को वश में न रखने से कितनी बड़ी हानि होती है? इसके लिए अर्हतर्षि कहते हैं—

दुद्दंता इंदिया पंच, संसाराय सरीरिणं।
ते चेव णियमिया सम्मं, णिव्वाणाय भवंति हि ॥१३॥

अर्थात्—दुर्दान्त बनी हुई पांचों इन्द्रियाँ जीव के लिए संसार की हेतु होती हैं। जब वे ही इन्द्रियाँ सम्यक् प्रकार से संयमित होती हैं तो निर्वाण का कारण बनती हैं।

मनुष्य के पास इन्द्रियाँ बहुत बड़ी शक्ति हैं। वे अपने आप में न तो अच्छी हैं न ही बुरी। उनका उपयोग अच्छी दिशा में किया जाए तो उनसे आत्मशक्तियाँ विकसित होती हैं, और जब विपरीत दशा में किया जाए तो वे ही इन्द्रियाँ आत्मा के लिए बाधक एवं संसारपरिभ्रमण की हेतु बन जाती हैं।

दो व्यक्तियों को एक-एक रत्न दिया गया। एक व्यक्ति ने रत्न के प्रकाश में रातभर खटमल पकड़-पकड़ कर मारे। दूसरे व्यक्ति ने रत्न के प्रकाश में एक आध्यात्मिक ग्रन्थ का स्वाध्याय किया। रत्न का इसमें कोई दोष नहीं है, गुण-दोष है तो उपयोग करने वाले का है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ एक दुर्जन को भी मिली हैं, और एक महात्मा को भी मिली हैं, दुर्जन उनका उपयोग गलत ढंग से करता है, वह अपना संसार बढ़ाता है और महात्मा अच्छे ढंग से उपयोग करके संसार घटाता है, मोक्ष की ओर गति करता है।

निष्कर्ष यह है कि इन्द्रियों को अगर विषमपथ की ओर निरंकुश दौड़ने दिया जाए तो वे भववृद्धि का कारण बनती हैं और यदि उन पर ज्ञान का अंकुश रहे और उन्हें सुपथ की ओर गति करने दिया जाए तो वे जीव को निर्वाणगामी बना सकती है।

इन्द्रिय असंयमी एवं इन्द्रियसंयमी की दशा

इन्द्रियसंयम की आवश्यकता पर बल देते हुए अर्हतर्षि एक सुन्दर रूपक द्वारा इसे समझाते हैं—

दुद्दंतेहिंविएहिं अप्पा दुप्पहं हीरए बला ।
दुद्दंतेहिं तुरंगेहिं सारही वा महापहे ।।१४।।
इंदिएहिं सुदंतेहिं ण सचरंति गोयरं ।
विधेयेहिं तुरंगेहिं सारहि व्वा व संजए ।।१५।।

अर्थात्— जैसे, दुर्दान्त घोड़े सारथि को महापथ (विकट पथ) में ले जाते हैं, वैसे ही दुर्दान्त बनी हुई इन्द्रियाँ आत्मा को वलपूर्वक दुष्पथ में ले जाती हैं। मुनि के द्वारा संयमित की हुई इन्द्रियाँ विषय की ओर वैसे ही नहीं जातो, जैसे कि सुशिक्षित अश्व सारथि को उत्पथ मे नहीं ले जाते।

जिस साधक की इन्द्रियाँ संयमित एव सुशिक्षित हैं, तो वे उसे सदैव शान्ति के पथ में ले जाएँगी। यदि साधक इन्द्रियों का गुलाम है तो वे उस पर शासन करेंगी और साधक को अपने इशारों पर चलने के लिए बाध्य कर देंगी। इसके लिए अर्हतर्षि ने अश्व का रूपक देकर समझाया है। अगर अश्व अशिक्षित हैं तो वे सारथि को गलत मार्ग पर ले जाएँगे। घोड़े की लगाम आदमी के हाथ में नही होती, तब आदमो की लगाम घोड़े के हाथ में आ जाती है और फिर उसे घोड़ों के इशारों पर चलने को बाध्य होना पड़ता है। कुशल सारथि के शिक्षित घोड़े उसके इशारों पर चलते है और वह शीघ्र ही अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है। साधक को यदि अपने लक्ष्य पर पहुंचना है तो उसे इन्द्रियरूपी घोड़ो को सुशिक्षित और सयमित बनाने का अभ्यास करना होगा।

इन्द्रियविजय से पूर्व मन के साधो

इन्द्रियों को अपने वश में करने या सुशिक्षित करने के लिए साधक को सर्वप्रथम क्या करना चाहिए ? इसके लिए अर्हतर्षि वर्द्धमान मार्गदर्शन देते हैं—

पुव्वं मणं जिणित्ताण, वारे विसयगोयरं ।
विवेयं गयमारूढो, सूरो वा गहितायुधो ।।१६।।

अर्थात्— साधक (इन्द्रिय-विजय से) पहले मन पर विजय पाए। फिर विवेकरूपी हाथी पर आरूढ़ होकर शस्त्रसज्ज योद्धा की तरह इन्द्रियों को विषय की ओर जाने से रोके।

अभिप्राय यह है कि जो साधक इन्द्रियो पर विजय पाना चाहता है, उसे पहले मन पर विजय पाना होगा। क्योंकि मन ही इन्द्रियो का शासक है, वही शक्ति का केन्द्र है, इन्द्रियों को विषयो की ओर वही प्रेरित करता है, अन्यथा इन्द्रियाँ तो जड़ हैं। वेग से घूमते हुए पखे को रोकना है तो पहले

बटन (स्विच) बन्द करना पड़ता है, अन्यथा घूमते हुए पंखे को पकड़ने जाएंगे तो अंगुलियाँ भले ही कट जाएँ, पंखे की गति कम नहीं हो सकेगी। इन्द्रियों के पंखे को रोकना है तो पहले मन के स्विच को दबाना होगा।

मन को साधने से इन्द्रियाँ स्वतः सध जाएँगी। इन्द्रियों को साधने का सबसे आसान तरीका मन को साधना है। परन्तु एक बात खास महत्वपूर्ण यह है कि मन को जीतना कोई आसान बात नहीं है। मानव का मन एक प्रकार से रणक्षेत्र है। उस पर सदैव शुभ और अशुभ का द्वन्द्वयुद्ध चलता है। मानव के अन्तर् में राम और रावण दोनों हैं। दोनों के युद्ध में विजय उसी की होगी जिसके पास विशाल सेना है। सद्वृत्तियाँ राम की ओर से लड़ती हैं, और असद्वृत्तियाँ रावण की ओर से लड़ती हैं। इस आन्तरिक युद्ध में विजय पाने के लिए विवेकरूपी हाथी पर आरूढ़ होकर होगा। शुभ संकल्प और प्रशस्त अध्यवसायरूपी शस्त्रों को ग्रहण करना होगा और युद्ध में उतरे हुए सैनिकों में अदम्य उत्साह होगा तो विजय हमारे साथ है।

केशी-गौतम-सवाद (उत्तराध्ययन २३।३६) में महामुनि गौतम शत्रु-विजय के लिए सर्वप्रथम एक महान् शत्रु— मन पर विजय पाने का महत्व बताते हुए कहते हैं—

> एगे जिए जिया पच, पच जिए जिया दस।
> दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तु जिणामहं॥

एक (मन) को जीत लेने पर पांच इन्द्रियों को जीत सकते हैं। पांच के जीत लेने पर दस शत्रु पर विजय पा सकते हैं। और दस पर विजय पा लेने के बाद समस्त शत्रुओं पर विजय पा सकते हैं।

कषाय एवं मन पर विजय पाने वाले की तपस्या सफल

इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या तपःसाधना से इन्द्रियविजय नहीं हो सकती? अर्हतर्षि वर्धमान इसके लिए सुन्दर मार्गदर्शन दे रहे हैं—

> **जित्ता मणं कसाए या, जो सम्मं कुरुते तव।**
> **सधिप्पते स सुद्धप्पा, अग्गी वा हविसाहुते॥१७॥**

अर्थात्—मन और कषायों पर विजय पाकर जो साधक सम्यक् तप करता है, वह शुद्धात्मा हविष (होम के योग्य पदार्थों) से आहूत अग्नि की भांति देदीप्यमान होता है।

इन्द्रिय-विजय के लिए साधक तपःसाधना अवश्य करे किन्तु उसकी

तपःसाधना तभी सफल और सम्यक् हो सकती हैं, जब वह मन और कषायों पर पहले विजय पा ले। मन में यदि नामना-कामना, इच्छा-तृष्णा भरी है, इहलोक-परलोकाशंसा भरी है तो वह तपःसाधना दूषित हो जाएगी। इसी प्रकार तपस्या के साथ क्रोध, अभिमान, माया या लोभ, इनमें से किसी भी कषाय ने तपस्या के पावन पथ पर अधिकार जमा रखा है, तो वह तपस्या भी मोक्ष की ओर गति करने के बदले संसार की ओर गति करेगी। कषाय और तपस्या दोनों एक साथ चल नहीं सकते। इन दोनों का कतई मेल नहीं नहीं है। परन्तु आज तो उलटी गंगा बह रही है। तपस्वी साधकों में क्रोध और अभिमान की मात्रा प्रायः बढ़ती देखी जा रही है। आजकल तो प्रलो-भन देकर भी तपस्या कराई जाती है। यह स्थिति तपस्या के साथ अच्छी नहीं है। अतः इन्द्रियविजय की तपस्या करने से पूर्व साधक को मन और कषायों पर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि तप के साथ साधक का मन विषय-लालसा से मुक्त हो, और कषायों से विरत हो, तभी उसकी आत्मा उज्ज्वल-समुज्ज्वल हो सकती है, होमयोग्य पदार्थों से आहूत अग्नि की भाँति वह देदीप्यमान हो उठती है।

इन्द्रियविजेता विश्ववन्द्य और मुक्त होता है

ऐसे जितेन्द्रिय धीर साधक की आत्मा कितनी उच्च और शुद्ध बन जाती है ? इसके विषय में अर्हतर्षि वर्द्धमान इस अध्ययन की अन्तिम दो गाथा और द्वारा कहते हैं—

सम्मत्तणिरतं धीरं दन्तकोहं जितिंदियं।
देवा वि तं णमसंति, मोक्खे चेव परायणं ॥१८॥
सव्वत्थविरए दंते, सव्ववारीहिं वारिए।
सव्वदुक्खप्पहीणे य, सिद्धे भवति णीरए ॥१९॥

अर्थात् - सम्यक्त्व में निरत, धैर्यशील, क्रोधविजेता और जितेन्द्रिय तथा मोक्षपरायण साधक को देवता भी नमस्कार करते हैं ॥१८॥

सर्वार्थों अथवा सर्वथा विरत दमनशील साधक सर्वत्र संचरण करने (घूमने) वाली इन्द्रियों को रोककर समस्त दुःखों से मुक्त और कर्मरज से रहित सिद्ध होता है ॥१९॥

जिस साधक ने सत्य का प्रकाश पा लिया है, और तत्त्व का रहस्य पा चुका है, ऐसा सम्यक्त्वशील साधक क्रोध पर विजय पा सकता है, ऐसे

जितेन्द्रिय साधक की साधना यदि एकमात्र मोक्ष को लक्ष्य में लेकर हो रही है, तो ऐसे साधक के चरणों में सुरेन्द्र, असुरेन्द्र, या नरेन्द्र भी नतमस्तक हो जायें, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

जो दान्त-शान्त, सर्वपदार्थों से अथवा सर्वइन्द्रियविषयों से विरत होकर सभी ओर दौड़ने वाली अपनी मनोभावनाओं को केन्द्रित कर चुका है, और जिसने इन्द्रियों पर विजय पा लिया है। वही साधक वीतकषाय होकर शाश्वत सुख स्थितिरूप सिद्धरूप को प्राप्त करता है।

बन्धुओ !

इन्द्रियों और मन पर विजय पाने से, इनकी शक्तियों को शुद्ध दिशा में लगाने से, इन्हें सुशिक्षित एवं संयमित रखने से कर्मों के स्रोत बद हो सकेंगे। तथा जीवन में उत्क्रांति आएगी तभी तपस्या सफल होगी, वह आत्म-शुद्धि में सहायक हो सकेगी और साधक एक दिन मोक्ष प्राप्त कर सकेगा। चाहिए इस ओर सतत पुरुषार्थ !

आप भी इस ओर बढ़िये। ऐसा मत सोचिए कि हम गृहस्थ इन्द्रिय-संयम कैसे करें ? आप भी पूणिया श्रावक, आनन्द श्रमणोपासक आदि की तरह पुरुषार्थ कीजिए। सफलता आपके साथ है।

□

३३
जैसा बोए, वैसा पाए !

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

हजारों कोसो में फैला हुआ यह विस्तृत भूखण्ड विचित्रताओं और विविधताओं का भण्डार है। प्रश्न होता है, इस विश्व को विचित्रता किसने दी ? कुछ श्रद्धालु जनमानस घड़ाघड़ाया उत्तर कह देगा—'सृष्टि की विचित्रता भरी सुन्दरता उस ईश्वर की देन है, वही जगत् का कर्ता, हर्ता और धर्ता है।' परन्तु श्रद्धावश दिया गया यह उत्तर जितना सरल है, तर्क की तराजू पर तोलने पर उतना ही विसगत और पेचीदा बन जाता है। सर्वप्रथम यह ज्वलन्त प्रश्न उठता है कि कर्ममुक्त देहादिरहित उस ईश्वर को सृष्टि रचना करने और इसमें इतनी विचित्रताएँ भरने की क्या आवश्यकता थी ? करुणामय ईश्वर को सृष्टि बनानी ही थी तो वह सृष्टि मे सुन्दर, स्वस्थ, बुद्धिमान् एवं सद्गुणवान् धार्मिक प्राणी ही बनाता. पापी कुरूप, रोगी, दुर्बुद्धि और दुर्गुणी व्यक्ति बनाने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रकार जगत्कर्तृत्व के विषय में अनेकानेक आपत्तियो आती हैं, जिनका कोई सही और युक्तियुक्त समाधान नहीं है। प्रस्तुत तीसवें अध्ययन में अर्हतर्षि वायु इन प्रश्नों का समुचित समाधान दे रहे हैं—

'अधासच्च इण सत्व. वायुणा सच्चसंजुत्तेणं अरहता इसिणा बुइयं।'

अर्थात्—'यह विराट् विश्व सत्य है।' सत्यसंयुक्त अर्हतर्षि वायु ने इस प्रकार कहा।

कुछ दर्शन इस विराट् सृष्टि को माया या कल्पना और कुछ लोग स्वप्न बताते हैं। यदि सृष्टि माया हो ह तो यह माया क्या है ? कोई तत्त्व है या नहीं ? यदि माया कोई तत्व नही है तो दिखाई क्यों देती है ? यदि तत्त्व ह तो फिर माया (अवास्तविक कल्पना) कैसो ? यह तो वैसा ही हुआ, किसी स्त्री को माता भी कहना वन्ध्या भी।

अत: वायु-अर्हतर्षि इस मान्यता का निराकरण करते हेतु कहते हैं कि यह विराट् विश्व स्वप्न नहीं, सत्य है।

यदि विश्वव्यवस्था सत्य है तो सृष्टि में यह विचित्रता क्यों है ? विश्व की विचित्रता का रहस्य जानने के लिए हमें इसे दो रूपों में बांटना होगा -(१)—प्राकृतिक विचित्रता और (२) प्राणिजन्य विचित्रता। प्राकृतिक विचित्रता स्वाभाविक है। प्रकृति का विचित्रता भरा सौन्दर्य स्वाभाविक है। सूर्य दिन को ही क्यों आता है, रात को क्यों नहीं ? पूर्व में ही उसका उदय होता है, पश्चिम आदि दिशाओं में क्यों नहीं ? आम गर्मियों में ही क्यों आता है, शीतकाल में क्यो नहीं ? गेहूं की फली ही लम्बी और बालवाली क्यों होती है जुआर की क्यों नही ? मयूर के पंख जैसे सुन्दर रंग मे रगे हैं, वैसे मुर्गे के क्यों नही ?, इन सबका समाधान तर्क के पास नहीं है, कहना होगा, यह सब प्रकृतिजन्य विचित्रता स्वाभाविक है।

प्राणिजन्य विचित्रता का समाधान स्वभाव से नहीं हो सकता। सभी मनुष्यो का स्वभाव समान होने पर भी बुद्धिकृत, शरीरगत, इन्द्रियगत अथवा अन्य वस्तुगत जो भेद दिखाई देता है, वह क्यों है ? किस कारण से है ? एक व्यक्ति एक घटे में पच्चीस श्लोक याद कर लेता है, जबकि दूसरा दस घंटे में एक भी श्लोक याद नहीं कर पाता। एक ही सरीखी बीमारी वाले दो रोगियों को वैद्य एक ही प्रकार की दवा देता है, फिर भी एक स्वस्थ हो जाता है, जबकि दूसरे की बीमारी बढ़ गई है। इसका रहस्य क्या ? इसका समाधान अर्हतर्षि वायु देते हैं—

इध ज वीरते कम्मं, तं परतोऽवभुज्झइ।
मूलसेकेसु रुक्खेसु, फल साहासु दिस्सति ॥१॥

अर्थात्—जो कर्म यहाँ किये आते हैं, उनका फल परलोक मे अवश्य भोगना पड़ता है। जिन वृक्षो की जड़े सींची गई हैं, उनके फल शाखाओं पर दिखाई देते है।

इसका आशय यह है कि, ससार को इन विचित्रताओं और विविधताओ का रहस्य 'कर्म' है, स्वभाव नहीं। चेतना शक्ति सब में समान होने पर भी जिस मनुष्य ने यहाँ ज्ञान की या ज्ञानी की अवहेलना की है, ज्ञान के साधनो का तिरस्कार किया है, उसका वह दुष्कृत्य राग-द्वेष के कारण कर्मवर्गणा के सूक्ष्म कर्मपरमाणुओं को आकर्षित करता है और वे कर्मपुद्गल उसकी ज्ञानचेतना को अवरुद्ध कर देते हैं, इसलिए उसको बुद्धि मन्द हुई

और दूसरे ने इस प्रकार से ज्ञानादि की अवहेलना नहीं की, इसलिए उसका बौद्धिक विकास अच्छा हुआ है। यह है—बुद्धिकृत भेद का रहस्य। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने दूसरे को रुलाया है, उसका शोषण एवं उत्पीड़न किया है, वह भी तज्जन्य कर्मों को एकत्रित करता है, जब तक वे कर्म उदय में रहते हैं, तब तक कितने ही उपचार किये जाएँ, उसे स्वास्थ्य लाभ नहीं हो सकता।

आत्मा जो भी शुभ या अशुभ का अनुभव करता है, यह उसके पूर्वबद्ध कर्म का ही प्रतिफल है। वर्तमान में प्राप्त दुःख का कारण भले ही वर्तमान में न दिखाई दे, किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि उसका कारण है ही नहीं। जिस आम को आप लोग आज खाते हैं, उसके बोने वाले का नाम और पता, शायद आप बता न सकें, पर इतना तो सुनिश्चित है कि यह आम किसी न किसी के द्वारा एक दिन अवश्य ही बोया गया था, जो आज फल और पत्तों से समृद्ध हुआ है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा शुभ या शुभ अध्यवसायों द्वारा जो कर्म-बन्ध करता है, उसका प्रतिफल अमुक कालसीमा के बाद उदय में आता है। बांधे हुए कर्म उसी समय उदय में नहीं आते। उन्हें प्रतिफल देने में कुछ काल अवश्य लगता है। इस बीच के काल को कर्मशास्त्र में 'अबाधाकाल' या 'विपाक-काल' कहा जाता है। इसे अबाधाकाल इसलिए कहते हैं कि बाँधा हुआ कर्म अमुक काल तक बाधक नहीं होता। यह कालसीमा कम से कम एक अन्त-मुर्हूर्त की है, और अधिक से अधिक तो उन-उन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है।

जो कर्म जिस क्षण बांधे जाते हैं, उसी क्षण उनका भोग नही हो सकता। बाँधने और भोगने का समय अवश्य ही भिन्न होना चाहिए। इसी-लिए 'अबाधाकाल माना जाता है। किसी-किसी कर्म का विपाक (फल) इतने समय तक क्यों रुका रहता है ? उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जब आत्मा स्वर्गादि में शुभ कर्मो का सुखानुभवरूप शुभ प्रतिफल भोग रहा हो, तब शुभोदय में अशुभोदय नही हो सकता। उतने समय तक अशुभोदय रुका रहता है। यही विपाककाल या अबाधाकाल को मानने का रहस्य है।

कर्म का फल निश्चित है

परन्तु एक बात निश्चित है कि मनुष्य जैसे भी शुभाशुभ कर्म करता है, उसके शुभाशुभ फल उसे भोगने ही पड़ते हैं। कई लोग कहते हैं कि

अमुक व्यक्ति पापकर्म करता है, फिर भी वह बहुत आनन्द में है, खूब अच्छा खाता, पीता और मौज करता है, परन्तु इससे यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि यह उसके पापकर्मों का फल है। यह तो उसके किसी पूर्वकृत शुभकर्म का फल है, अभी वह जो पापकर्म कर रहा है, उसका फल तो उसे भविष्य में भोगना ही पड़ेगा। उसमें देर हो सकती है, अन्धेर नहीं।

जैसा बोएगा, वैसा ही पाएगा

इसी तथ्य को उजागर करते हुए अर्हतर्षि वायु कहते है—

> **जारिसं वुप्पते बीयं, तारिसं भुज्जए फलं।**
> **णाणा-संठाण-सम्बद्धं, णाणा-सण्णाभिसण्णितं ॥२॥**
>
> **जारिसं किज्जते कम्मं, तारिसं भुज्जते फलं।**
> **णाणा-पयोग-णिव्वत्तं, दुक्खं वा जइ वा सुहं ॥३॥**

अर्थात्—'खेत में जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही फल भोगा जाता है, जो कि नानाविध आकृतियों मे होता है और नानाविध संज्ञाओं से पुकारा जाता है। जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल भोगा जाता है। नानाविध प्रयोगों से कर्म निष्पन्न होते है, वे या तो सुखरूप होते है, या दुःखरूप होते हैं।'

कर्मशास्त्र का यह अटल सिद्धान्त है कि जो कर्म जिस रूप में, जिस तीव्र मन्द-मध्यम परिणाम मे बाँधा जाता है, उसका फल उसी रूप में मिलता है। जैसा बीज होगा, वैसा ही प्रतिफल होगा। नीम का बीज बो कर कोई आम का फल चाहे तो उसे कदापि नही मिलेगा।

कर्म बांधने के बाद भोगना निश्चित है

जब तक कर्म न किये जाए, तब तक हम स्वतन्त्र हैं। पर एक बार शुभ या अशुभ अध्यवसाय के द्वारा जो कर्म बांध लिये जाते हैं, उन्हें भोगना तो पड़ता ही है। एक अंग्रेज विचारक ने कहा है—

What is done, cannot be undone.

किये हुए कर्म को मिटाया नहीं जा सकता। रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य आदि से तो चिकित्सा, सांत्वना, सुख और धन-प्राप्ति द्वारा छुटकारा मिल सकता है, परन्तु कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। इसीलिए कहा है "**कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि**'।

कर्म वह दर्पण है, जो मनुष्य को अपना स्वरूप बता देता है।

कल्याण का मधुर और पाप का कटु फल

अर्हतर्षि वायु ने इसी पर विवेचना करते हुए कहा है—

> **कल्लाणा लभति कल्लाणं, पावं पावा तु पावति ।**
> **हिंसं लभति हतारं, जइत्ता य पराजयं ।।४।।**
>
> **सूदणं सूदइत्ताणं णिंदित्ता वि य णिंदणं ।**
> **अक्कोसइत्ता अक्कोस णत्थि कम्म णिरत्थकं ।।५।।**

आत्मा कल्याण से कल्याण प्राप्त करता है और पापशील विचार-धारा के द्वारा वह पाप (कटुफल) को प्राप्त करता है। हिंसक व्यक्ति हिंसा के द्वारा हिंसा को प्राप्त करता है। वह विजय पाकर भी पराजित होता है ।।४।।

पकाने वाले को एक दिन पकना होगा। दूसरे की निन्दा पर मुस्कराने वाले को एक दिन निन्दित होना पड़ेगा। आक्रोश करने वालों पर दूसरे आक्रोश किये बिना नहीं रहेंगे, क्योंकि कोई भी कर्म निरर्थक नही जाता ।।५।।

आत्मा की जैसी भावना होती है, उसके अनुरूप उसका जीवन बनता है। कल्याणमय भावना उसे कल्याणमय बनाती है, और पापशील भावना पापशील ।

कई बार तत्काल पाप का फल मिलता है

हिंसा के द्वारा मनुष्य कुछ देर के लिए जय भी पा लेता है किन्तु अन्याय-अत्याचार एवं छीना-झपटी के द्वारा शस्त्रास्त्रों के बल पर पाई हुई विजय एक दिन पराजय में बदल जाती है। दूसरों के गलो पर छुरी फेरने वालों को भी उनके पापकर्मों का फल मिले बिना नहीं रहता।

ध्वनि के अनुरूप प्रतिध्वनि होती है, क्योंकि सभी कर्म अपने साथ प्रतिफल लिये रहते हैं। दूसरों की बदनामी, आलोचना या निन्दा करने में जिन्हें आनन्द आता है, उन्हें पता नहीं है, हमारी भी उसी तरह से निन्दा या बदनामी, आलोचना में दुनिया रस लेगी। जो आज कहते हैं कि हम ऊँचे (उत्कृष्ट) हैं, दूसरे नीचे (निकृष्ट या शिथिल) हैं, हम अच्छे और दूसरे बुरे हैं। मन का अहंकार आज उनके मुँह से यह बुलवा रहा है; किन्तु कल जब बाहर की सफेद चदरिया उड़ जायगी, और दुनिया के सामने उनका सही रूप आएगा, उस दिन दुनिया देखेगी कि उच्च आचार का दम्भ रखने वाले कितने गहरे पानी में थे।

अंधेरे में छिपकर किये हुए कर्म का फल भी मिलता है

आज कई साधक इस मिथ्या विश्वास को अपनी ढाल बनाते हैं कि हमें कोई देख नहीं रहा है। बाहर से हमारा उजला आचार है, पर्दे के पीछे की लीला को कोई जानता नहीं है। पर एक दिन इस मिथ्या विश्वास के पर्दे को चीरता हुआ कर्मफल दुनिया के सामने तुम्हारा असली रूप प्रकट कर देगा। एक पाश्चात्य विचारक भी कहता है—

Foul deeds will rise, though all the earth overwhelm them to men's eyes.

अर्थात्—बुरे कार्य अवश्य प्रकट होंगे; मनुष्य की आँखों से उन्हें छिपाने के लिए भले ही सारी पृथ्वी उन पर ढक दी जाय, फिर भी प्रकट हुए बिना नहीं रहेंगे।

भगवान् महावीर ने तो स्पष्ट कहा है -

सुचिण्णा कम्मा, सुचिण्णा फला भवंति।
दुचिण्णा कम्मा, दुचिण्णा फला भवंति॥

शुभ कर्मों के प्रतिफल सुन्दर होते हैं, और बुरे कर्मो के प्रतिफल सदैव बुरे होते हैं।

स्थान और समय बदलने से कर्म नहीं बदलते

कुछ लोगों का कहना है कि समय और स्थान बदल जाने से कार्य में परिवर्तन हो जाता है। सुन्दर वस्तु सदैव सुन्दर रहेगी। सोना महल में सोना रहे और श्मशान में पीतल बन जाय, ऐसा नही होता, सोना सर्वत्र सोना ही रहेगा और पीतल पीतल। अर्हतर्षि वायु इसी तथ्य को प्रकट कर हैं—

मण्णंति भद्दका भद्दका इ, मधुर मधुरंति माणति।
कडुयं कडुयं भणियति, फरुस फरुसति माणति ॥६॥

अर्थात्—भद्र कार्यों को दुनिया भद्र मानती है, और मधुर को मधुर स्वीकार करती है। कडुए को कडुआ कहा जाता है और कठोर को कठोर कहा जाता है ॥६॥

कुछ लोगों का विश्वास है कि अमुक स्थान पर चले जाने पर पाप-पुण्य में बदल जायेगा और अमुक स्थान पर पुण्य भी पाप हो जायगा, किन्तु यह बात पूर्ण सत्य नहीं है। माना कि व्यक्ति के मन को स्थान भी प्रभावित करता है, जब तक स्थितप्रज्ञ दशा नहीं आई तब तक समय और स्थान

उसके मन को प्रभावित करते रहते हैं; किन्तु तथ्य यह है कि अमुक समय और अमुक स्थान में पवित्रता की कल्पना मनुष्य स्वयं करता है। यही कारण है कि एक सम्प्रदाय वालों की दृष्टि में जो दिन और जो स्थान पवित्र माना जाता है, दूसरे सम्प्रदाय वालों की दृष्टि से वह समय और स्थान पवित्र नहीं माना जाता। अर्थात्— उस समय और स्थान की पवित्रता सबके दिलों में पवित्रता का संचार नहीं करती। मनुष्य की मनोभावना ही किसी दिन या किसी स्थान को पवित्रता का बाना पहनाती है।

हाँ, तो स्थान और समय की पवित्रता व्यक्ति के मन को कदाचित प्रेरित करदे, किन्तु किसी अपवित्र कार्य को पवित्र और पवित्र कार्य को अपवित्र नहीं बना सकती। यदि एक टी. बी. का रोगी स्वर्णमहल में पहुंच जायेगा, तो भी उसे शान्ति नहीं मिल सकेगी; शान्ति तो उसे तभी मिलेगी, जब वह रोगमुक्त होगा। रोगमुक्ति भी तभी होगी, जब वह व्यक्ति असातावेदनीय कर्म से अमुक अंश में मुक्त होगा।

निष्कर्ष यह है कि मिश्री की डली को कोई गंगा के तट पर खाए, चाहे सूने जंगल में खाए, तब भी मीठी ही लगेगी, स्थान तथा समय बदल जाने से उसकी मिठास नहीं बदल जायेगी। शुभ कर्म सर्वत्र शुभ रहेंगे। देश और काल उन्हें शुभ से अशुभ में या अशुभ से शुभ में परिवर्तन करने में समर्थ नहीं हैं।

ध्वनि की प्रतिध्वनि

विश्व व्यवस्था ध्वनि-प्रतिध्वनि के सिद्धान्त पर आधारित है। इसी सिद्धान्त को अर्हतर्षि कर्म सिद्धान्त पर घटित करते हुए कहते हैं—

> कल्लाणं ति भणंतस्स, कल्लाणाए पडिस्सुया।
> पावकं ति भणंतस्स, पावयाए पडिस्सुया ॥७॥
> पडिस्सुया-सरिसं कम्मं, णच्चा भिक्खू सुभासुभं।
> तं कम्मं न सेवेज्जा, जेण भवति णारए ॥८॥

'कल्याण हो', इस प्रकार बोलने वाला बदले में पुनः 'कल्याण हो' सुनता है, और 'पाप (बुरा) हो', इस प्रकार कहने वाला बदले में 'पाप हो' इसी प्रकार की प्रतिध्वनि सुनता है ॥७॥

अतः साधक कर्म को प्रतिश्रुति (प्रतिध्वनि) के सदृश जाने तथा उन कर्मों का सेवन न करे, जिनसे आत्मा नारकरूप प्राप्त करता है ॥८॥

साधक प्रतिध्वनि के सिद्धान्त को जीवन में स्थान न दे और उन कर्मों का परित्याग करे, जिनसे आत्मा को नरक में जाना पड़ता है। नारक

पर्याय ऐसी है, जहाँ जाने पर आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों पर गाढ़ा काला पर्दा पड़ जाता है। घोर यातना के समय, घोर दुःख और कष्ट के समय न तो धर्माचरण की सूझती है; न क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सिवाय किसी को शुद्ध विचार ही सूझता है, तत्त्वज्ञान तो बहुत आगे की बात है।

नारक पर्याय अशुभ कर्मों की प्रतिध्वनि है। प्रतिध्वनि को सुन्दर बनाने के लिए मनुष्य को पहले ध्वनि को सुन्दर बनाना होगा। यदि नारक पर्याय से बचना है तो उसके हेतुभूत कर्मों से बचना होगा। कार्य को समाप्त करने के लिए कारण को मिटाना होगा।

अपने जीवन के निर्माता आप स्वयं हैं

बन्धुओ !

आप सबको यह सोचना है कि हमें कैसा बनना है ? अपने जीवन के निर्माता-त्राता आप स्वयं ही हैं। आपके अच्छे और बुरे कार्य ही आपको अच्छा और बुरा बनाते है। एक अंग्रेज विचारक ने ठीक ही कहा था—

'Good actions enable us and we are the sons of our deeds.'

हमारे अच्छे कार्य हमको अच्छा बनाते है, क्योंकि हम अपने कार्यों के पुत्र हैं।

वस्तुत आपके जीवन का मूल्यांकन आपके कार्य ही करते हैं। जिंदगी की लम्बाई, जिंदगी की अच्छाई का मापदण्ड नहीं हो सकती। मानव की अपेक्षा बाघ, चीतो, सर्पों तथा नारकों की जिंदगी बहुत लम्बी होती है, किन्तु उससे क्या उनकी जिंदगी अच्छी थोड़े ही मानी जायगी। एक अन्य अंग्रेज दार्शनिक के शब्दों में—

'A life spent worthily should be measured by deeds and not by years.'

जिंदगी कितनी कीमती रही है, यह वर्षों से नही कार्यों से नापी जाती है।

आप भी अपनी जिंदगी विचारपूर्वक अच्छे ढंग से बिताइए, उसका प्रतिफल आपको अच्छा ही मिलेगा।

□□

३४

लोक का आलोकन

मानव मन की जिज्ञासा और समाधान

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! मनुष्य ने जबसे इस दुनिया में आँखें खोलीं, तभी से उसके मन में जिज्ञासा पैदा होती है, कि यह जीवन क्या है ? जगत क्या है ? यह विस्तृत भूखण्ड क्या है ? इसका नियामक कौन है ? किन तत्त्वों से इसका निर्माण हुआ है ? यह सान्त है या अनन्त है ? इसके कितने रूप हैं ? मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? जो जन्म लेता है, वह यहां कुछ वर्ष बिताकर फिर कहाँ और क्यो चला जाता है ? वह कौन-सा लोक है, जहाँ आत्मा चिर-शान्ति प्राप्त कर सकता है ? जहाँ से पुनरागमन नहीं होता, वह कौन-सा स्थान है ? ये और इस प्रकार के कई प्रश्न मानव के मन मस्तिष्क में मँडराते रहते है । इन प्रश्नों का समाधान पाने को विचारक मानव उत्सुक रहता है । विभिन्न धर्म और दर्शन इनका समाधान विभिन्न रूप से करते हैं । जैनदृष्टि से इन प्रश्नों का व्यावहारिक और युक्तियुक्त समाधान प्राप्त होता है । इनमें से कुछ प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान अर्हतर्षि पार्श्व इस इकत्तीसवें अध्ययन में करते हैं—

प्रश्न - (१) **केय लोए ?**

(२) **कइविधे लोए ?**

(३) **कस्स वा लोए ?**

(४) **के वा लोएभावे ?**

(५) **केण वा अट्ठेण लोए पवुच्चई ?**

(६) **का गती ?**

(७) **कस्स वा गती ?**

(८) **के वा गतिभावे ?**

(९) **केण वा अट्ठेण गती पवुच्चति ?**

उत्तर—पासेण अरहता इसिणा बुइत,

(१) जीवा चेव अजीवा चेव,

(२) चउव्विहे लोए वियाहिते—दव्वतो लोए, खेत्तओ लोए, कालओ लोए, भावओ लोए (अत्तभावे लोए),

(३) सामित्तं पडुच्च जीवाणं लोए, णिव्वत्तिं पडुच्च जीवाणं चेव अजीवाणं चेव।

(४) अणादीए अणिहणे परिणामिए लोयभावे,

(५) लोकतीति लोको,

(६) जीवाण पुग्गलाण य गतीति आहिता,

(७) जीवाणं चेव पुग्गलाणं चेव गती, दव्वतो गती, खेत्तओ गती, कालओ गती, भावओ गती,

(८) अणादीए अणिहणे गतिभावे,

(९) गमंतीति गति, उड्ढगामी जीवा अहगामी पोग्गला। कम्मप्पभवा जीवा, परिणामप्पभवा पोग्गला। कम्म पप्प फलविवाको जीवाणं, परिणामं पप्प फल विवागो पुग्गलाणं।

अर्थात्—प्रश्न—(१) लोक क्या है ?

(२) लोक कितने प्रकार का है ?

(३) लोक किसका है ?

(४) लोक भाव क्या है ?

(५) किस मतलब से इसे लोक कहा जाता है ?

(६) गति क्या है ?

(७) किसकी गति होती है ?

(८) गतिभाव क्या है ? और

(९) किस अर्थ में गति कही जाती है ?

उत्तर—अर्हतर्षि पार्श्व ने (इनके उत्तर में क्रमशः इस प्रकार) कहा है—

(१) लोक जीव-अजीव रूप है।

(२) वह लोक चार प्रकार का बताया गया है—(क) द्रव्यलोक, (ख) क्षेत्रलोक, (ग) काललोक और (घ) भाव-लोक; यों तो लोक अपने आप (आत्म भाव) में है।

(३) स्वामित्व की दृष्टि से यह जीवों का लोक है, और निर्वृत्ति, अर्थात्—रचना की दृष्टि से यह लोक जीवों का भी है और अजीवों का भी है।

(४) यह लोक अनादि अनन्त है और पारिणामिक भाव में स्थित है; दूसरी अपेक्षा से—यह लोक अपने स्वभाव में स्थित है।

(५) जो आलोकित होता है, उसे लोक कहते हैं।

(६) गति, जीव और पुद्गलों की बताई गई है।

(७) जीव और पुद्गलो की गति चार प्रकार की है—द्रव्य से गति, क्षेत्र से गति, काल से गति और भाव से गति।

(८) यह गति भाव आदि रहित तथा अन्तरहित है।

(९) जिससे गमन किया जाता है, उसे गति कहते हैं। जीव ऊर्ध्वगामी होते हैं और पुद्गल होते है—अधोगामी। जीवों की गति कर्म-प्रभावित है और पुद्गलो की गति परिणाम-प्रभावित है। जीवो की गति कर्म-फल के विपाक से होती है, जबकि पुद्गलो की गति परिणाम के विपाक से होती है।

लोक और गति से सम्बन्धित समाधान

इस अध्ययन में अर्हतर्षि ने लोक और गति के सम्बन्ध में प्रश्न उठा कर मानव की जिज्ञासा का समाधान किया है। पाच प्रश्न लोक, उसके स्वरूप और उसकी विराट्ता के सम्बन्ध मे और शेष चार है गति के सम्बन्ध मे।

पहले प्रश्न का उत्तर है—जड़ (अजीव) और चैतन्य (जीव) की यह विराट् सृष्टि ही लोक है। यो तो लोक पंचास्तिकायात्मक है। अर्थात्—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। इन पाँच अस्तिकायों की अर्थसृष्टि लोक है। एक अपेक्षा से इन पाँच द्रव्यों सहित काल द्रव्य को मिलाकर षड्द्रव्यात्मक भी लोक कहलाता है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर है—लोक के चार प्रकार है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक। भगवती सूत्र (शतक १, उ १०) में इस सम्बन्ध में काफी विस्तार से चर्चा की गई है। सक्षेप में—द्रव्यलोक एक और सान्त है। क्षेत्रलोक (क्षेत्र की दृष्टि से लोक) की लम्बाई और चौड़ाई असख्य कोटाकोटी योजनो की है। इसकी परिधि भी असख्य कोटाकोटी योजनों की है, फिर भी सान्त है, अनन्त नहीं। काल (काल की दृष्टि से) लोक अनादि-अनन्त है। अर्थात्—काल की अपेक्षा से यह लोक कभी नहीं था, या कभी नही रहेगा, ऐसी बात नही है। लोक था, है और रहेगा। कालकृत लोक ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अक्षय, अव्यय और नित्य है। इसी प्रकार भावलोक अनन्त वर्णपर्याय, अनन्त-गन्ध-रस-स्पर्श-पर्याय रूप है। तथा अंनत

संस्थान-पर्याय, अनन्तगुरु-लघु पर्याय, अनन्त-अगुरुलघु-पर्यायरूप है। इस प्रकार द्रव्यलोक और क्षेत्रलोक सान्त हैं, और काललोक तथा भावलोक अनन्त हैं।

तीसरा प्रश्न—लोक के स्वामित्व से सम्बन्धित है। इसके उत्तर तीन रूप में दिये गये हैं—(१) पहला उत्तर है—लोक आत्मभाव में स्थित है। उसका कोई स्वामी नहीं है, क्योंकि चतुर्दशरज्ज्वात्मक इस विराट् लोक का कोई एक स्वामी नहीं हो सकता। अपने तत्त्व का नियंता स्वयं है। (२) दूसरा उत्तर है—लोक का स्वामी आत्मा है, क्योंकि वही एक ऐसा तत्त्व है, जो चेतना सम्पन्न है और वही स्वामित्व प्राप्त कर सकता है। अतः स्वामित्व की अपेक्षा से जीवों का यह लोक है। (३) किन्तु निर्वृत्ति अर्थात्—रचना की अपेक्षा यह लोक जड़ और चेतन दोनों का है, क्योंकि दोनों के द्वारा ही यह लोक-व्यवस्था है।

(४) **चौथे प्रश्न का उत्तर है**—स्थिति की अपेक्षा लोक अनादि-अनन्त है और भाव की अपेक्षा से यह लोक पारिणामिक भाव में स्थित है। वस्तु का अनौपाधिक शुद्ध भाव पारिमाणिक है। द्रव्य मात्र निज भाव में लीन है।

पाँचवा प्रश्न—लोक के लोकभाव के सम्बन्ध में है। उत्तर है—'लोक्यते इति लोकः'—जो आलोकित होता है, देखा जाता है, वही लोक है।

गति के सम्बन्ध में किये गये चार प्रश्नो का समाधान इस प्रकार है—

छठे प्रश्न का उत्तर है—षड्द्रव्यों में गतिधर्मी दो द्रव्य है—जीव और पुद्गल। अतः गति जीव और पुद्गलों की है।

सातवें प्रश्न का उत्तर है—जीव और पुद्गलो की वह गति चार प्रकार से होती है—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से।

आठवें प्रश्न का उत्तर है—गतिभाव अनादि और अपर्यवसित (अनन्त) है, क्योंकि जीव और पुद्गल दोनों अनादि और गतिशील हैं।

नौवें गति सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर है—जीव और पुद्गलों का अपने आकाशप्रदेशों से दूसरे आकाशप्रदेशों में जाना ही गति है। कहा भी है—

ऊर्ध्वगतिधर्माणो जीवाः, अधोगतिधर्माणो पुद्गलाश्च।'

जीवों का स्वभाव ऊर्ध्वगति करने का है, और पुद्गलों का स्वभाव अधोगति करने का है। इसीलिए यहाँ कहा गया है—'जीव ऊर्ध्वगामी होते हैं, और पुद्गल अधोगामी होते हैं।' जीवों की जो ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्-गति होती है, वह कर्मजन्य सोपाधिक है जबकि पुद्गलों की गति परिणाम-प्रभावित है।

निरुपाधिक और सोपाधिक गति और परिणाम

पूर्वपाठ के नौवें प्रश्न के उत्तर में जीव (आत्मा) की स्वाभाविक या निरुपाधिक गति ऊर्ध्वगामी बताई है, परन्तु साथ ही जीव की कर्मजन्य सोपाधिक गति अधोगामी भी बताई हैं। अतः इस सम्बन्ध में प्रश्न होता है कि ऊर्ध्वगामी गति किन जीवों की और किस कारण से होती है, और अधोगामी गति किन जीवों की और किस कारण से होती है? तथा ऊर्ध्वगति वाले जीवों को ऊर्ध्वगमन करने के बाद सुख-दुःख का वेदन होता है या नहीं? एवं अधोगतिवाले जीवों को अधोगमन करने के बाद किस प्रकार के सुख-दुःख का वेदन होता है? इन्हीं कुछ प्रश्नों का समाधान अर्हतर्षि पार्श्व अगले पाठ में करते हैं—

णेव इमा पया कयाइ अव्वाबाहसुहमेसिया कसं कसाविता।

जीवा दुविहं वेदणं वेदेंति, पाणातिवातविरमणेणं जाव मिच्छादंसणविरमणेणं किन्तु जीवा सातणं वेदणं वेदेंति। जस्सट्ठाए विहेति, समुच्छिज्जिस्सति अट्ठा समुच्छिट्ठिस्सति णिट्ठितकरणिज्जे संति ससारभंगा मडाई नियठे णिरुद्धपवंचे वोच्छिण्णसंसारे वोच्छिण्ण संसार-वेदणिज्जे पहीणससारवेयणिज्जे णो पुणरवि इच्छत्थ हव्वमागच्छति।'

'कोई भी (सांसारिक) जीव कष अर्थात् कषाय अथवा हिंसा को करके कदापि (मुक्ति का) अव्याबाध सुख प्राप्त नहीं कर सकता।

(कर्मोपाधिक ऊर्ध्व-अधस्तिर्यग्गतिगामी) सांसारिक जीव भी दो प्रकार की वेदना का अनुभव (वेदन) करते हैं—(एक सुखरूप वेदना और दूसरी दुःखरूप वेदना)। जो जीव प्राणातिपात आदि से लेकर मिथ्या दर्शन-शल्य तक (अठारह पापस्थानों से विरत होते हैं, वे साता वेदनीय का अनुभव करते हैं। (जो प्राणातिपातादि से विरत नहीं होते, वे असातावेदनीय–दुःख-रूप वेदन करते है।) किन्तु जो साधक जिस उद्देश्य से दीक्षित हुआ है। उस प्रयोजन से (कर्ममुक्ति की साधना के लिए) उद्यत हो जाता है, जो (मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करके) अपने कार्य को सम्पन्न कर चुका है, ऐसा प्रासुक (अचित्त) भोजी निर्ग्रन्थ संसार को भग्न करके प्रपचों को रोक देता है। संसार को विच्छिन्न कर देता है, ससार की वेदनीय वेदना को भी विच्छिन्न कर देता है, फिर वह संसार रहित और संसार की वेदना से रहित होकर पुनः संसार (लोकभाव) में नहीं आता है।

यहाँ गति के सन्दर्भ में अर्हतर्षि निरुपाधिक और सोपाधिक गति के कारणों का निरूपण करते हैं।

वैसे तो आत्मा स्वाभाविक रूप से ऊर्ध्वगतिशील है। परन्तु कर्मों की या कषायों की उपाधि होने से, वह उर्ध्वगतिशील नहीं हो सकता। मुक्त आत्मा की लोकान्त तक की ऊर्ध्वगति ही निरुपाधिक है, शेष सभी उर्ध्व, अधःतिर्यग्गतियां सोपाधिक हैं। जब तक कषाय मौजूद है, तब तक सोपाधिक गति बन्द नहीं हो सकती। तब तक उसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य या देवगति में परिभ्रमण (गति) करना पड़ता है। इस प्रकार की सोपाधिक गतिवाली सांसारिक आत्मा की वेदनानुभूति दो रूप में होती है। कभी वह सुखरूप होती है, कभी दुःखरूप। जब आत्मा प्राणातिपातादि अठारह अशुभवृत्तियों से विरत होता है, तब वह सुखानुभूति करता है, किन्तु अशुभवृत्तियों से विरत न होने की स्थिति में असातावेदनीय (दुःख) की अनुभूति करता है, उसे अनिष्ट स्थानों और अनिच्छनीय परिस्थितियों में उत्पन्न होना पड़ता है।

इन दोनों ही सोपाधिक शुभाशुभकर्मजन्य स्थितियों से ऊपर उठकर जिसने सम्पूर्ण कर्मक्षयरूप मोक्ष का लक्ष्य निश्चित कर लिया है, पहचान लिया है, तथा जो अपने लक्ष्य की ओर अविचलरूप से दृढ़तापूर्वक गति करता है, वह संसार और उसकी वेदनाओं से मुक्त होकर अपनी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त शाश्वत स्थिति में पहुंच जाता है, उसकी गति निरुपाधिक होती है फिर उसे संसार में आवागमन नहीं करना पड़ता।

प्रकारान्तर से जीव और पुद्गल की गति

अब दूसरे प्रकार से जीव और पुद्गल की गति के विषय में पार्श्व अर्हतर्षि कहते हैं। जिसका भावार्थ इस प्रकार है—

'गति दो प्रकार की है—प्रयोगगति और विस्रसागति;' जोकि जीव और पुद्गल दोनों की होती है। औदयिक और पारिणामिकरूप गतिभाव में गति होती है, उसे (प्रायोगिक) गति कहते हैं। जीव (स्वभावतः) ऊर्ध्वगामी होते हैं और पुद्गल अधोगामी होते है। पापकर्म करने वाले जीवों के परिणाम में जीवों की और पापकर्मकृत आत्मा, पुद्गलों की गति में भी प्रेरक होता है। जो प्रजा (जनता) स्वाधीन अवस्था में कर्मों को करके भी स्वकृत कर्मों को भोगता है। यथा—प्राणातिपात यावत् परिग्रहपर्यन्त; ऐसी प्रजा (जनता) कदापि अदुःख-अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाती। वह असंबुद्ध, असंवृत कर्मान्ति तथा चातुर्याम से रहित अष्टविधकर्मग्रन्थि को बांधता है। यह कर्म चार प्रकार से विपाक रूप प्राप्त करता है। यथा—नरक के द्वारा, तिर्यंचयोनियों के द्वारा, मनुष्यों के द्वारा और देवों के द्वारा।'

निष्कर्ष यह है कि गति के दो प्रकार हैं—विस्रसा (स्वाभाविक) गति और प्रायोगिक गति। दूसरे के द्वारा जब जीव और पुद्गल गति करते हैं, तब वह प्रायोगिक गति होती है; और जब वे किसी अन्य द्रव्य की प्रेरणा के बिना स्वयं ही गति-परिणत होते हैं, तब वह गति विस्रसागति कहलाती है।

कर्मबद्ध आत्मा जो भी गति करता है, वह प्रायोगिक होती है, क्योंकि उसमें कर्म की प्रेरणा रहती है। मुक्तात्मा की गति वैस्रसिक होती है, क्योंकि वह कर्म से सर्वथा मुक्त होकर जब ऊर्ध्वगति करता है, तब किसी की प्रेरणा नहीं होती। कर्मबद्ध आत्मा का गतिभाव औदयिक होता है, क्योंकि कर्मोदय के कारण ही उसे चारो गतियों में परिभ्रमण करना पड़ता है। पापकर्मशील आत्मा परप्रेरित होकर गति करता है, किन्तु वह पुद्गलों को गति के लिए स्वयं प्रेरित करता है।

अब एक प्रश्न गति से सम्बन्धित और शेष रह गया, वह यह कि जीव स्वयंकृत कर्मों को भोगता है या परकृत कर्मों को भी भोग सकता है ? इसके उत्तर में अर्हतर्षि कहते हैं। जिसका भावार्थ यह है—

"जीव (स्वाधीनरूप से) स्वकृत (आत्मकृत अशुभ कर्मों) को करके भोगते हैं अर्थात् प्रतिफल वेदन करते हैं, किन्तु परकृत कर्मों का वेदन (भोग) नहीं करते। किन्तु जो प्राणातिपात यावत् परिग्रह से विरत है, वह संवृत, कर्मों का अन्त करने वाला, चातुर्याम धर्म का आराधक निर्ग्रन्थ अष्टविध-कर्मग्रन्थि को नही बांधता। अतः यह कर्म चाररूप में विपाक को भी प्राप्त नहीं होता। जैसे कि नारकों से, तिर्यचों से, मनुष्यो से और देवों से।'

पूर्वसूत्र में असंवृत साधक का रूप बताया गया था कि जिस साधक ने कपड़े त्यागे हैं, किन्तु वासना, ममता, मूर्च्छा और कामना नहीं त्यागी, वह अपनी वृत्तियों पर स्वयं नियन्त्रण नही कर सकता तथा वह यथार्थरूप से व्रतों की मर्यादा में भी नहीं रह सकता। फलतः वह कर्मों का सर्वथा अन्त करके आत्मा की शुद्ध स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। उसे पुनः नरकादि पर्याय ग्रहण करने पड़ते हैं। प्रस्तुत सूत्र में उस पूर्वसूत्र से विरोधी चित्र है। जो साधक रूप और राग का त्यागी है, जिसने वस्त्रों की भाँति वासना भी त्यागी है, वह इन्द्रियविजेता एवं मनोविजेता हो सकता है। ऐसा साधक ही कर्मों का सर्वथा अन्त करके आत्मा के निज घर में पहुंच सकता है। उसे फिर नारकादि विविध रूप धारण करने और संसार में पुनः आने की आवश्यकता नहीं रहती।

इससे यही प्रेरणा मिलती है कि प्रत्येक साधक को परभाव तथा वैभाविक गुणों को त्याग कर स्वघर में (स्वरूप में) आ जाना चाहिए।

लोक : नित्य या अनित्य ?

अन्त में अर्हतर्षि काल की अपेक्षा से लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं। जिसका भावार्थ इस प्रकार है—

"यह लोक कभी नहीं था, ऐसा नहीं था। 'यह कभी नहीं है, ऐसा भी नहीं है, कभी नहीं रहेगा यह भी सम्भव नहीं है। यह लोक पहले भी था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा, क्योंकि यह लोक ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है अक्षय है, अव्यय है, और नित्य है। जैसे कि पंचास्तिकाय पहले कभी नहीं थे, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार यावत् लोक नित्य है। ....लोक भी कभी नहीं था, ऐसा नहीं है यावत् नित्य है।

बन्धुओ !

प्रस्तुत पाठ में लोक की शाश्वतता बताई गई है। चूंकि लोक पंचास्तिकायात्मक है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव के अतिरिक्त कोई लोक नहीं है। पंचास्तिकाय नित्य है तो लोक भी नित्य है। यहाँ द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से लोक-वक्तव्यता कही गई है। अनन्तकालपूर्व भी लोक लोकभाव में विद्यमान था, वर्तमान में भी वह उपस्थित है और अनन्त अनन्त काल बीत जाने पर भी लोक विद्यमान रहेगा। पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से पर्याय की अपेक्षा लोक प्रतिक्षण विनष्ट हो रहा है और नया उत्पन्न भी हो रहा है। अतः लोक और गति को समझ कर आप भी आत्मा की स्वाभाविक ऊर्ध्वगति प्राप्त करने के लिए अपना जीवन ऊर्ध्वगामी बनावें। धर्म से ही जीवन ऊर्ध्वगामी बन सकता है।

□

३५

ऋषियों की दिव्यकृषि

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

क्या आप जानते हैं, भारतीय संस्कृति का मूलाधार क्या है ? भगवान् ऋषभदेव ने कर्मभूमि का युग प्रारम्भ होते ही समस्त जनता को बोध देते हुए कहा था—गृहस्थ हो तो 'कृषि' करो और उच्च साधना करना चाहो तो 'ऋषि' बनो। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति के दो ही आधार हैं 'कृषि' एवं 'ऋषि'।

कोई कह सकता है कि कृषि नहीं होती तो क्या हानि थी ? भगवान ऋषभदेव के युग की ओर झाँके तो मालूम होगा कि जब अकर्मभूमि युग समाप्त हो गया तो कल्पवृक्ष सूखने लग गये। जनसख्या बढ़ती जा रही थी। परन्तु उनके पेट भरने के लिए अब बहुत ही कम साधन रह गये थे। युगलियों में भोजन और सामग्री के लिए आपस में तू-तू-मैं-मैं और छीना-झपटी होने लगी थी। ऐसे समय में अगर भगवान् ऋषभदेव उस यौगलिक जनता को कृषि का मार्ग न दिखाते तो जनता अवश्य ही मांसाहार की ओर बढ़ जाती, परिणामतः अत्यन्त बर्बर हो जाती। उनमें दयाभाव, संतान के पालन-पोषण का वात्सल्यभाव, करुणाभाव, समाज में परस्पर सहयोग और स्नेहभाव स्थापित न होता। खेती में पशुओ तथा अन्य मनुष्यों के सहयोग की आवश्यकता रहती है। इस रूप में खेती परस्पर सहयोग की प्रेरणा देती है। टुण्ड्रा जैसे देश में खेती नहीं होती, वहाँ के निवासी आज भी मांसाहार पर निर्भर हैं। पशुवध के द्वारा प्राप्य माँस-भोजन मानव-मन की सहज कोमलता को, करुणा के अंकुरों को समाप्त कर देता है। पशुओं की गर्दन पर चलने वाला छुरा कभी आवेश में मानव की गर्दन काटते भी नहीं हिचकेगा। यही कारण है कि भगवान् महावीर के उस युग के आदर्श श्रमणोपासक आनन्द, कामदेव आदि के जीवन निर्वाह का प्रथम आधार

कृषि, दूसरा गोरक्षण और तीसरा वाणिज्य रहा है। भगवान् ने श्रमणोपासकों की कृषि को अल्पारंभ बताया है, महारम्भ नहीं।

शरीर और आत्मा अनादि से सहयात्री रहे हैं। शरीर के लिए भोजन आवश्यक है, इसी प्रकार आत्मा के लिए भी भोजन आवश्यक है। किन्तु आत्मा का भोजन शरीर के भोजन से भिन्न होगा। किसी विचारक ने ठीक कहा है—

'शरीर का भोजन अन्न है. तो आत्मा का भोजन करुणा है।'

शरीरकी खुराकके लिए पार्थिवकृषिआवश्यक है, तो आत्मा के भोजन के लिए अपार्थिव कृषि आवश्यक है। गृहस्थ हो चाहे ऋषि, दोनों को शरीर की सुरक्षा के लिए भोजन देना आवश्यक है, परन्तु शरीर को खुराक देते समय दोनों अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हुए आत्मा को खुराक देना भूल न जाएँ। पृथ्वी पर रहकर भी अपार्थिव से प्रेम करना सीखना है। आत्मा की खुराक के लिए जो खेती होगी, वह पार्थिव नहीं, अपार्थिव होगी।

प्रस्तुत बत्तीसवें अध्ययन में ब्राह्मण परिव्राजक पिंग अर्हतर्षि ऋषियों के लिए इसी दिव्यकृषि का सन्देश दे रहे हैं—

दिव्वं भो ! किसिं किसेज्जा णो अप्पिणेज्जा।

पिंगेण माहण परिव्वायएण अरहता इसिणा बुइत।

'हे साधक ! तू दिव्य कृषि कर, उसका परित्याग मत कर, इस प्रकार माहन (ब्राह्मण) परिव्राजक पिग अर्हतर्षि बोले।'

पिंग अर्हतर्षि स्वयं ब्राह्मण-परिवार में जन्मे थे और बाद में वे परिव्राजक बने थे। परिव्राजक के रूप में साधना कर उन्होंने अर्हतत्त्व प्राप्त किया था। जिसे सत्यदृष्टि प्राप्त हो चुकी है, उसके विकास में बाहरी वेष, लिंग, जाति, वर्ण आदि बाधक नहीं हो सकते। जैन धर्म का स्पष्ट आघोष है यदि तुम्हें सत्यदृष्टि मिल चुकी है तो तुम किसी भी देश, वेष, लिंग, जाति, वर्ण, धर्म-सम्प्रदाय आदि में रहो तुम साधना के पथ पर हो। सिद्धि-प्राप्ति के पन्द्रह मार्गों में 'अन्यलिंग सिद्धा' को स्वीकार कर जैनधर्म ने बहुत बड़ी विचार क्रान्ति का परिचय दिया है।

श्रमण भगवान् महावीर के युग मे बहुत-से ऐसे साधक थे, जिनका वेश और क्रियाकाण्ड दूसरे तीर्थ (धर्म सम्प्रदाय) का था, किन्तु वे अन्तर् से प्रभु महावीर के भक्त थे। अन्तर्द्रष्टा भ महावीर ने उन्हें उत्कृष्ट श्रावक के रूप में स्थान भी दिया। अम्बड परिव्राजक भी ऐसा ही साधक था,

जिसने परिव्राजक वेष में रहकर भगवान् की उपासना की थी । भ. महावीर के उपदेश ने इन्हें काफी प्रभावित किया था। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा—'मुझे मिलने में वेश दीवार नहीं बन सकता।'

अर्हतर्षि पिंग भी ब्राह्मण परिव्राजक थे। उन्होंने उसी रूप में सत्य-दृष्टि पाई थी। इसीलिए ऋषिभाषित-सूत्रकार ने इनका विशेष रूप से परिचय दिया है। अर्हतर्षि पिंग ऋषियों के लिए दिव्यकृषि की प्रेरणा दे रहे हैं। दिव्यकृषि आध्यात्मिक खेती है। जैन और बौद्ध परम्पराओं ने इस आध्यात्मिक खेती पर प्रकाश डाला है। छब्बीसवें अध्ययन में मातंग अर्हतर्षि ने भी दिव्यकृषि का उपदेश दिया है। उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्ययन में भी श्वपाककुलोत्पन्न हरिकेश मुनि ने ब्राह्मण कुमारों को आत्मिक कृषि की प्रेरणा दी है।

आपकी कृषि कैसी है

यहाँ भी अर्हतर्षि पिंग ने जब दिव्यकृषि का निर्देश किया तो एक कृषक ने इस प्रकार प्रश्न किया—

> कतो छेत्तं, कतो बीयं, कतो ते जुग-णंगलं।
> गोणा वि ते ण पस्सामि, अज्जो ! का णाम ते किसी ?

अर्थात्—तुम्हारा क्षेत्र (खेत) कहाँ है ? तुम्हारे पास बोने के लिए 'बीज' कहाँ है ? और कहां है तुम्हारे युग-लांगल (हल) ? तुम्हारे पास जोतने के लिए बैल भी तो नहीं देख रहा हूँ। हे आर्य ! फिर तुम्हारी खेती कैसी है ?

दिव्यकृषि के प्ररूपक पिंग अर्हतर्षि से कृषक ने पूछा—आप कहते हैं—मैं दिव्य खेती करता हूँ, परन्तु खेती के लिए उपयोगी एक भी प्रसाधन आपके पास दिखाई नहीं देता। न आपके पास खेत है, न बैल हैं' न हल है, न बीज हैं, फिर समझ में नहीं आता कि आप कैसी खेती करते हैं।

आध्यात्मिक कृषि के प्रसाधन

आध्यात्मिक खेती के प्रसाधनों का निरूपण करते हुए पिंग अर्हतर्षि ने कहा—

> आता छेत्तं तवो बीयं, संजमो जुगण गलं।
> अहिंसा समिति जोज्जा, एसा धम्मंतरा किसी ॥२॥

अर्थात्—आत्मा क्षेत्र (खेत) है, तप बीज है, संयम युगलांगल है, अहिंसा और समिति, जोतने लायक (दो पुष्ट बैल) हैं, यही मेरी धर्मान्तर कृषि है।

आध्यात्मिक खेती के प्रसाधन भी आध्यात्मिक ही होंगे। भौतिक साधनों से आत्मा की खेती नहीं हो सकती। अर्हतर्षि उसी आध्यात्मिक खेती का निरूपण करते हुए कहते हैं कि आत्मा ही मेरा क्षेत्र है, जिस पर मुझे यह खेती करनी है।

साधना का मूल प्राण है—आत्मा। आत्मा ही नहीं है तो फिर कैसा धर्म और किसकी शुद्धि के लिए या किसके शुद्धस्वरूप को पाने के लिए रत्नत्रय साधना की जाय ? अतएव आत्मा को ही इस दिव्य कृषि का मूल अधिष्ठान—क्षेत्र माना गया।

जब आत्मा है तो प्रश्न होता है, उसका स्वरूप क्या है ? शरीर आत्मा से बिल्कुल भिन्न है। शरीर के गुणधर्मों से आत्मा के गुणधर्म निश्चित ही भिन्न हैं। परमानन्द पंचविंशतिका में कहा है—

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति सर्वदा॥

जिस प्रकार पानी से कमलिनी सदैव पृथक (निर्लिप्त) रहती है, उसी प्रकार यह आत्मा देह में सदैव स्वभाव में स्थित रहता है।

शरीर से भिन्न आत्मा का शुद्ध स्वरूप भिन्न है, किन्तु वर्तमान में आत्मा वासना के कारण संसार के कीचड़ में लिप्त है। वह पुनः शुद्ध स्थिति पा सकता है या नहीं ? यदि पा सकता है तो उसके उपाय क्या हैं ? इन सभी प्रश्नों के समाधान के रूप में इस दिव्य कृषि को प्रमुख उपाय बताया है जिसके द्वारा आत्मा अपनी शुद्ध स्थिति पा सके। उसके प्रमुख साधन हैं—तप, संयम, अहिंसा और पंच समितियाँ। दिव्य कृषि के लिए बारह प्रकार के तपरूपी बीज हैं, जिनसे आत्मा रूपी क्षेत्र की शुद्धि होगी। कहा भी है—'**तवसा परिसुज्झई**'—तप से परिशुद्धि होती है।

सत्रह प्रकार का बाह्य तथा सत्रह प्रकार का आभ्यन्तर संयमरूपी हल हैं, जो आत्मा रूपी क्षेत्र के ऊपर जमे हुए कषायों और विषयों के कंकर-कांटों को उखाड़कर हृदयभूमि को समतल एवं मुलायम बनाते हैं साथ ही अहिंसा और पांच समिति ये दो पुष्ट बैल हैं, जो आत्मा रूपी क्षेत्र में ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप धर्म की साधना को परिपक्व बनाते हैं। यही ऋषियों की धर्ममयी कृषि है।

इस दिव्य कृषिकर्त्ता की योग्यता

प्रश्न होता है, यह दिव्यकृषि केवल वाणी विलासरूप है, या इस कृषि को कोई कर भी सकता है ? यदि इस दिव्य कृषि को कर सकता है तो कौन कर सकता है ? इस दिव्य कृषि का परिणाम क्या है ? इस विषय में अर्हतर्षि पिंग कहते हैं—

एसा किसी सोभतरा, अलुद्धस्स वियाहिता ।
एसा बहुसई होइ, परलोक– सुहावहा ॥ ३॥

यह खेती शुभतर है, किन्तु इसे निर्लोभी व्यक्ति ही कर सकता है। यह खेती अतिसुन्दर है और परलोक में सुखप्रद है।

वस्तुतः यह आध्यात्मिक कृषि प्रशस्त है, शुद्ध है या शुभतर है। किन्तु इस कृषि के योग्य वही साधक हो सकता है, जो निर्लोभी हो। जो साधक स्वयं तो परिग्रह का त्यागी हो, लेकिन उसे परिग्रहधारियों की पीठ थपथपाकर उनसे प्रतिष्ठा, प्रशंसा, प्रसिद्धि पाने का लोभ हो, रस-लोलुपता हो, शिष्य-शिष्या लोलुपता हो, अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिए समकित की अदला-बदली कराने का लोभ हो; लिप्सा हो, वह साधक इस दिव्यकृषि को शुद्ध रूप में नहीं कर पायेगा। किसी भी प्रकार का लोभ हो, लोभ खतरनाक है। वह सूक्ष्म रूप से बहुत दूर— दसवें गुणस्थान तक रहता है। लोभी व्यक्ति प्रायः आन्तरिक बहरा होता है, वह आत्मा की आवाज को अनसुनी कर देता है। एक विचारक ने कहा है—

लोभी का मन रेगिस्तान की उस बंजर भूमि जैसा होता है, जो तमाम बरसात और जोत को सोख लेती है; किन्तु कोई फलद्रुम, जड़ी या बूटी नहीं उगाती। लोभी साधक के मन के रेगिस्तान में शान्ति की लता भी नहीं उग सकती। इस प्रकार का लोलुप मन चैतन्य धन को नहीं पा सकता।

आध्यात्मिक खेती का लक्ष्य चैतन्य लक्ष्मी प्राप्त करना है, अतः इसे संतोषी, निःस्पृह, मुधाजीवी, त्याग-वैराग्य परायण आत्महितैषी साधक ही प्राप्त कर सकता है। पार्थिव खेती शरीर की भूख मिटाती है, जबकि आत्मिक खेती आत्मा की। पहली खेती इस जीवन को सुखप्रद है, जबकि दूसरी अगले जीवन के लिए हितप्रद।

अहिंसा की खेती परलोक में अवश्य सुखप्रद होती है, किन्तु इसका यह फलितार्थ निकालना गलत होगा कि अन्न की खेती पर लोक के लिए दुःखप्रद होगी। आगम साक्षी हैं। भगवान महावीर के उपासक गृहस्थ खेती करते थे, उन्होंने श्रावक के बारहव्रत भी अंगीकार किये थे, उनका इह-लौकिक जीवन भी सुखद था, पारलौकिक जीवन भी।

आगे अर्हतर्षि इसी कृषि को करने वाले में मुख्य सद्गुण का निरूपण करते हुए कहते हैं—

एयं किसिं कसित्ताणं, सव्वसत्तदयावहा।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वा वि य सिज्झति ॥४॥

प्राणिमात्र के प्रति दया का झरना बहाने वाली इस दिव्य कृषि को करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी सिद्ध-मुक्त हो सकता है।

जिसके मन के कोने-कोने में प्राणिमात्र के लिए दया और करुणा का झरना फूट पड़ा है, जिसका करुणा-निर्झर देश, काल, पंथ, जाति और सम्प्रदायों के गड्ढों में कैद नहीं होता, अपितु मानवमात्र ही नहीं, प्राणिमात्र के लिए मुक्तरूप में बहता है, वही इस दिव्यकृषि को कर सकता है और सिद्धि-स्थिति पा सकता है, फिर वह चाहे जिस जाति में जन्मा हो, किसी भी पंथ में पला हो, जिसने आत्मा के क्षेत्र में करुणा के बीज डाले हैं, वह बन्धनातीत है। एक अंग्रेज विचारक ने कहा था—

'Paradise is open to all kind hearts'

दयाशील हृदय के लिए स्वर्ग के द्वार सदैव खुले रहते हैं। जिसके दिल में दया है, उसका दिल अमीर है। उसका हृदय सदा प्रसन्नता से छलकता रहता है। दया ही एक ऐसा तत्त्व है, जो मानव में मानवता की प्रतिष्ठा कर सकता है। हाथी के भव में दया के कारण ही मेघकुमार के जीव ने मनुष्य जन्म पाया, मगध-सम्राट् श्रेणिक के यहाँ राजकुमार के रूप में पैदा हुआ और युवावस्था में ही भागवती दीक्षा प्राप्त करके अपना कल्याण कर सका।

धर्मरुचि अनगार के अग अग में प्राणिमात्र के प्रति करुणा का निर्झर फूट रहा था, उसके कारण वे अपने आत्म क्षेत्र में करुणा के बीज बोकर कृतार्थ हो गए।

अतः मानव के लिए सभी प्राणियों से अतिरिक्त कोई विशेषता या गौरव की वस्तु है तो वह है दिल में दया का कलकल-छलछल बहता झरना। उसी करुणाशील हृदय का जीवन सार्थक है, समाज उसकी दयालुता से संगठित है। कहा भी है -

Kindness is the golden chain by which society is bound together.

वास्तव में विश्व आज एक दूसरे के इतना निकट है, एक दूसरे के प्रति विश्वास और आशा है, सहयोगभाव है, सहानुभूति है, वह सब दया की देन है। क्योंकि दया ही वह सुनहरी चैन (जंजीर) है, जो समाज को परस्पर बाँधती है।

बन्धुओ !

आप भी इस दिव्यकृषि को समझकर यथाशक्ति जीवन में क्रियान्वित करें। □□

३६

पहचान : बाल और पण्डित को

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

मानव के पास दो प्रकट शक्तियाँ हैं, एक है जीभ और दूसरी है काया। जीभ के द्वारा वह (वाणी) बोलता है और काया के द्वारा वह विभिन्न चेष्टाएँ, क्रियाएँ या प्रवृत्तियाँ करता है। ये उसकी दोनों ही शक्तियाँ प्रत्यक्ष हैं। मन की शक्ति भी मनुष्य को मिली है, पर वह प्रत्यक्ष-- प्रकट नहीं है। यद्यपि जिह्वा तो पशुओं को भी मिली है, परन्तु उनकी जिह्वा उनके भावों को स्पष्टत: अभिव्यक्त करने में असमर्थ है; जबकि मानव को वाणी की यह कुदरती देन मिली है कि वह इसके द्वारा अपने विचारों को व्यक्त कर सके। मनुष्य के पास दूसरी व्यक्त शक्ति है काया। वाणी की अपेक्षा काया के द्वारा किये जाने वाले व्यवहार या आचरण की शक्ति बढ़कर है, शीघ्र प्रभाव डालती है।

मानव इन दोनों प्रकार की व्यक्त शक्तियों से परखा जा सकता है। किस प्रकार और कैसे ? इसके लिए तेतीसवें अध्ययन में महाशालपुत्र अरुण अर्हतर्षि कहते है—

'दोहिं ठाणेहिं बालं जाणेज्जा, दोहिं ठाणेहिं पंडितं जाणेज्जा।

—सम्मापओएणं मिच्छा-पओतेणं, कम्मुणा भासणेण य।'

दो स्थानों (कारणों) से मानव का बालरूप जाना जाता है और दो ही स्थानों से पण्डित रूप जाना जाता है। यथा—सम्यक्प्रयोग से और मिथ्या-प्रयोग से तथा कर्म (कार्य) से और भाषण से।

ज्ञानी (पण्डित) और अज्ञानी (बाल) की पहचान क्या है ? इसके समाधान के लिए अर्हतर्षि अरुण कहते हैं—हर आत्मा में अनन्त शक्ति निहित है। उस शक्ति का उपयोग वह अच्छे रूप में करता है या बुरे रूप में ? इसी आधार से बताया जा सकता है कि वह ज्ञानी है अथवा अज्ञानी।

शास्त्रीय परिभाषा में कहें तो—वह पण्डित है या बाल ? शक्ति रावण को भी मिली थी, और हनुमान् को भी; परन्तु रावण ने अपनी शक्ति का उपयोग असदाचार में किया तो हनुमान् ने अपनी शक्ति मर्यादा पुरुषोत्तम राम की सेवा में समर्पित कर दी। इसीलिए एक ने विश्व से घृणा प्राप्त की, जबकि दूसरे को विश्व ने पूजा। हनुमान लोकप्रिय और वन्दनीय बने तथा रावण घृणा का पात्र बना। शक्ति का सम्यक् प्रयोग करने पर मानव का पण्डितरूप व्यक्त होता है, जबकि उसी आत्मशक्ति के मिथ्या-प्रयोग से मनुष्य का बालरूप व्यक्त होता है। वह सम्यक् और मिथ्या प्रयोग वाणी (जीभ) और कर्म (काया) दोनों से होता है और दोनों से ही पण्डित और बाल की परख हो जाती है।

जीभ के द्वारा व्यक्ति की आन्तरिक अच्छाई और बुराई का पता लग सकता है। दुर्योधन से जब कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में कहा कि 'दुर्योधन ! पाण्डवों को सिर्फ पांच गांव ही दे दो और सन्धि करो। युद्ध करना अच्छा नहीं है।' तब दुर्योधन ने उफनते हुए कहा—

'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव !'

हे कृष्ण ! मैं सूई की नोक पर आए, उतनी जमीन भी बिना युद्ध के नहीं दे सकता।

दुर्योधन की इस तुच्छ स्वार्थभरी वाणी से उसके मलिन और दुष्ट हृदय का चित्र सामने आ गया।

संस्कृत भाषा में एक उक्ति प्रसिद्ध है—

न जारजातस्य ललाट - शृंगम्।
कुले प्रसूतस्य न पाणि - पद्मम्॥
यदा-यदा मुञ्चति वाक्य - बाणम्।
तदा-तदा जातिकुल - प्रमाणम्॥

अर्थात्—जार से उत्पन्न (मूर्ख) के ललाट पर सींग नहीं होते, और न ही कुलीन (विद्वान्) के हाथों में कमल खिलते हैं, किन्तु जब-जब वे मुख से वचनबाण छोड़ते हैं, तब तब उनके जाति और कुल का सबूत मिल जाता है।

वैद्य जीभ को देखकर शारीरिक स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य का हाल बता सकता है। देखना यह है कि वाणी का वरदान पाकर मनुष्य उसका उप-

योग किस ढंग से करता है ? यदि वह अपनी वाणी के द्वारा दूसरे के हृदय के घावों को भरता है तो वह ज्ञानी है —पण्डित है और यदि वह जीभ के द्वारा दूसरे के दिल पर घाव करता है तो वह बाल है—अज्ञानी है। यह कभी मत भूलिये कि जीभ के द्वारा दिया हुआ घाव तलवार से भी गहरा होता है। महान् विचारक पाइथागोरस ने ठीक ही कहा था—

A wound from a tongue is worse than a wound from a sword, for the latter affects only the body, the former the spirits.

जीभ का घाव तलवार के घाव से खराब होता है, क्योंकि तलवार शरीर पर चोट पहुंचाती है, जबकि जीभ आत्मा पर आघात पहुंचाती है। एक जापानी कहावत है—

'जीभ केवल तीन इंच लम्बी है, लेकिन वह छह फीट ऊंचे आदमी को धराशायी कर सकती है।'

दूसरी शक्ति मानव के पास काया या कर्म की है। काया की चेष्टा से भी मानव की असलियत परखी जा सकती है। वक्तृत्व कला में जादू है, लेकिन जीवन कला उससे भी अनन्तगुणी चमत्कारिणी है। कहने का आशय यही है कि वक्तृत्व शक्ति की अपेक्षा कर्तृत्वशक्ति अधिक प्रभावशाली होती है। कुछ लोगों की वाणी अधिक प्रभावशाली होती है और कुछ लोगों की क्रिया। उत्तम साधक वह है जिसकी वाणी और कर्म दोनों ही संयत एवं प्रभावशाली है।

> दुभासियाए भासाए दुक्कडेणं य कम्मुणा।
> बालमेतं वियाणेज्जा, कज्जाकज्ज-विणिच्छए ॥१॥
> सुभासियाए भासाए, सुकडेण य कम्मुणा।
> पंडितं तं वियाणेज्जा धम्माधम्म-विणिच्छए ॥२॥

अर्थात्—दुर्वचन (खराब भाषा) बोलने से और दुष्कृत—कर्म करने एवं कार्याकार्य के द्वारा यह बाल (अज्ञानी) है, ऐसा समझा जाता है ॥१॥

सुभाषित वाणी, सुन्दर कृत्य और धर्माधर्म के निश्चय के द्वारा पण्डित की पहचान हो जाती है ॥२॥

व्यक्ति की अच्छाई बुराई की पहचान उसकी वाणी एवं कार्यों से होती है। स्थूल मापदण्डों से यानी शरीर की ऊँचाई-नीचाई आदि से व्यक्ति नहीं नापा जा सकता। परन्तु अफसोस है, आज व्यक्ति पैसे के गज से नापा जाता है, सोने के बांटों से तोला जाता है। जिसके पास अधिक संपत्ति और भोग-विलास के प्रचुर साधन हों, वही व्यक्ति श्रेष्ठ, कुलीन और बड़ा माना जाता है। किन्तु इस रूप में व्यक्ति का गलत नाप-तौल करके आप अप्रत्यक्ष

रूप से सोने का शासन स्वीकार लेते हैं, जो सर्वथा अनुचित है।

व्यक्ति की अच्छाई का मापदण्ड पैसा, सत्ता, पद या बल नहीं, किन्तु उसकी मधुर और दूसरों के घाव भरने वाली वाणी है तथा उसके दान-धर्मादि अच्छे कार्य हैं।

वाणी मन की प्रतिच्छाया है। जीभ के द्वारा जब कटुशब्द निकलें तो समझ लेना कि उसके भीतर कटुता भरी है, और मधुर-शब्द निकलें तो हृदय में सरसता भरी है। जैसे किसी शीशी में इत्र भरा है या गटर का पानी इसका निर्णय उसके मुँह का ढक्कन खोलते ही हो जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति के भी मुँह का ढक्कन खुलते ही पता लग जाता है कि वह विद्वान् है या मूर्ख है ? ऐसी मजाक भी न करे तथा व्यंग के बाण भी नहीं छोड़े क्योंकि इनसे मैत्री समाप्त हो जाती है। विनोद में भी असभ्य भाषा और आक्षेप-जनक भाषा से बचना चाहिए क्योंकि किसी भी मनुष्य पर किये गई शाब्दिक घाव का भरना तलवार के घाव से भी अधिक कठिन होता है।

अतः वाणी का माधुर्य, विवेकदृष्टि, कार्य का सौन्दर्य, ये तीनों ही प्राज्ञ मनुष्य की निशानी हैं।

अर्हतर्षि दोनों के परिणामों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

> दुभासियाए भासाए, दुक्कडेण य कम्मुणा।
> जोगक्खेमं वहंतं तु उसु वायो व सिंचति ॥३॥
>
> सुभासियाए भासाए सुकडेण य कम्मुणा।
> पज्जण्णे कालवासी वा, जसं तु अभिगच्छति ॥४॥

दुर्भाषित (खराब) वाणी और बुरे कार्यों के द्वारा जो योगक्षेम का वहन करता है, वह मानो ईख को वायु से सींचता है ॥३॥

सुभाषित वाणी और सुन्दर कृत्यों के द्वारा मानव समय पर आए हुए मेघराज की तरह सर्वत्र यश प्राप्त करता है ॥४।

मधुर वाणी में शक्ति और सुन्दर आचरण में पवित्रता रहती है, परन्तु जिसके पास दोनों का अभाव है, वह मन का दरिद्र है। उसके पास योग और क्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त का रक्षण) दोनों ही नहीं आ सकते। असभ्य वाणी और बुरे कार्यों के द्वारा जो व्यक्ति योगक्षेम चाहता है, उसका कार्य हवा से ईख के सिंचन-का-सा निष्फल है।

जिसकी वाणी में अमृत बरसता है, तथा जिसके जीवन में सदाचार

की सौरभ है, उसका जीवन समय पर बरसने वाले मेघ के सदृश यशस्वी बनता है।

अज्ञानियों के संसर्ग से दूर रहो

ऐसे अज्ञानी लोगों के संसर्ग का निषेध करते हुए अर्हतर्षि कहते हैं—

णेव बालेहिं संसग्गिं, णेव बालेहि संथवं ।
धम्माधम्मं च बालेहिं, णेव कुज्जा कदाइ वि ॥५॥

इहेवाकित्ति पावेहिं पेच्चा गच्छेइ दोग्गति ।
तम्हा बालेहि संसग्गि णेव कुज्जा कदावि वि ॥६॥

साधक अज्ञानियों का संसर्ग न करे और न ही उनसे (वास्ता) परिचय रखे। उनके साथ धर्माधर्म की चर्चा भी कदापि न करे ॥५॥

पापियों के संसर्ग से यहाँ भी अपयश मिलता है और आगे भी आत्मा दुर्गति प्राप्त करता है। अतः साधक अज्ञानियों का संसर्ग कदापि न करे ॥६॥

प्रस्तुत दोनों गाथाओं में अज्ञानियों के संसर्ग से दूर रहने की प्रेरणा दी गई है। अज्ञजनों का परिचय भी कष्टप्रद होता है। कोयले का व्यापार करने वाले के हाथ कोयले के संग से काले हुए बिना नहीं रहते। इसी प्रकार अज्ञानियों से अतिपरिचय रखने वालों का जीवन भी उज्ज्वलता को खो बैठता है। यह कहावत है—'जैसा संग, वैसा रंग' मनुष्य जिसके साथ रहता है, वैसा ही बन जाता है।

कहने का मतलब यह है कि 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' दोष और गुण प्रायः बुरे या अच्छे संसर्ग से प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार मानव-शिशु भेड़ियों के साथ रह कर भेड़ियों की तरह गुर्राना सीख जाता है, उसी प्रकार कई बकरी चराने वाले अजापाल भी बकरी के साथ अधिक संसर्ग के कारण बकरी की तरह व नीचे झुक कर पानी पीना भी सीख जाते हैं। नीतिकार कहते हैं—

हीयते हि्यतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥

नीच पुरुषों के साथ समागम करने से बुद्धि का ह्रास होता है। समान विचार-आचार वाले के साथ रहने से समानता आती है और विशिष्ट व्यक्तियों के साथ रहने से विशेषता प्राप्त होती है।

प्याज जिस थैली में रखा हो, उससे प्याज की बदबू आयगी और गुलाब के फूल जिस थैली में रखे गये हैं, उससे गुलाब की महक आयगी।

चेतना पूर्ण जागृत न हो तब तक दूषित वातावरण से बचना आवश्यक

यद्यपि निश्चयदृष्टि से कोई भी आत्मा किसी दूसरे को न तो सुधार सकती है, और न बिगाड़ सकती है। यदि उसमें बिगड़ने का गुण है तो बाहरी निमित्त उसे बिगाड़ (विकृत कर) सकता है। लकड़ी में जलने का स्वभाव है, तभी तो आग उसे जला देती है, किन्तु पत्थर में वैसा स्वभाव नहीं है, इसीलिए पत्थर को दुनियाँ की कोई भी आग जला नहीं सकती। इसी प्रका जिसमें विकृत होने का स्वभाव है, उसे ही बाह्य संयोग बिगाड़ सकते हैं। जिसके पतन का समय है, उसे ही वैसा सयोग मिलता है परन्तु जिसके उत्थान का समय है, उसे वैसे ही उत्थान के सुन्दर निमित्त मिलते हैं।

अतः जिनकी चेतना जागृत है, जो विशिष्ट स्थिति तक पहुंच चुके हैं, उन्हें बाह्य निमित्त प्रभावित नहीं कर सकते। गोशालक का प्रबल निमित्त पाकर भी भगवान् महावीर की आत्मा विकृत न हो सकी; क्योंकि वे निम्न-भूमिकाओं को पार कर चुके थे; और विकारों पर विजय पाने की उनमें अद्‌भुत क्षमता भी थी। इसीलिए गोशालक के तथा अनार्य देश आदि के अशुभ वातावरण भी उनकी शुभवृत्ति को अशुभ की ओर नहीं मोड़ सके। फिर भी जन साधारण या सामान्य साधक को चाहिए कि जब तक उच्च स्थिति पर न पहुंच जाएँ, तब तक अच्छे वातावरण और सुन्दर निमित्तों के बीच रहे, ताकि सुन्दर संस्कार, सद्‌बुद्धि और सदाचार का वातावरण मिलता रहे। प्राय. देखा जाता है कि जिसका शरीर स्वस्थ और सबल होता है, उस पर बाहर के कीटाणु आक्रमण नही कर सकते, क्योंकि उसके शरीर के कीटाणु रोग के कीटाणुओं से लड़ सकते हैं। किन्तु यदि शरीर दुर्बल है, और हार्ट कमजोर है तो रोग के कीटाणु बहुत ही शीघ्र उस पर असर कर सकते हैं। यही कारण है कि डाक्टर रोगी को स्वच्छ वातावरण में रहने की खास हिदायत देते हैं। अतः जब तक चेतना पूर्ण विकसित न हो, तब तक चाहे कोई भी निमित्त क्यों न हो, दूषित वातावरण से अपने आपको अवश्य बचाता रहे।

साधु पुरुषों के साथ संसर्ग, संस्तव और धर्मचर्चा करो

साधु पुरुषों का परिचय या संगति ही मनुष्य के जीवन का उत्तम निर्माण करती है। बबूल की छाया में कांटे मिलते हैं और नीम की छाया में जाने पर शुद्ध वायु मिलती है। इसीलिए अर्हतर्षि साधु पुरुषों के परिचय एवं सत्संग तथा उससे महाफल का निर्देश करते हुए कहते हैं—

साहूहिं संगमं कुज्जा, साहूहि चेव संथवं।
धम्माधम्मं च साहूहिं, सया कुव्विज्ज पंडिए ॥७॥
इहेव कित्ति पाउणति पेच्चा गच्छइ सोग्गति।
तम्हा साहूहि संसग्गिं सदा कुव्विज्ज पंडिए ॥८॥

साधक साधु पुरुषों का संगम करे और साधु पुरुषों का ही संस्तव करे। प्रज्ञाशील पुरुष धर्म और अधर्म की चर्चा भी साधु पुरुषों के साथ ही करे ॥७॥

साधु पुरुषों के सग से आत्मा यहाँ पर यश प्राप्त करता है और परलोक में भी शुभगति प्राप्त होती है ॥८॥

जीवन के कलाकार साधकों के साथ सम्पर्क करने से जीवन निर्माण की प्रेरणा मिलती है; जबकि अनाड़ी लोगों के संसर्ग से जीवन को पतन की दिशा मिलती है। जीवन का सुन्दर साथी मानव को ऊर्ध्वमुखी बनाता है। पानी नीम की जड़ों में पहुंचता है तो कटुरूप लेता है, किन्तु गन्ने के खेत में पहुंचता है तो मधुररस बन जाता है। स्वाति नक्षत्र की बूँदे सीप के मुख में पड़कर मोती बन जाती हैं, किन्तु वे ही बूँदे सांप के मुँह में पड़कर विष बनती हैं। साथी की अच्छाई और बुराई जीवन में भी अच्छाई और बुराई लाती है।

यद्यपि व्यक्ति के उत्थान और पतन का दायित्व उसी पर ही है। उसका उपादान शुद्ध होगा तो पतन का निमित्त मिलने पर भी पतन नहीं होगा। परन्तु जब तक वह छद्मस्थ—अपूर्ण है, जीवनधारा का उसे सार्वभौम ज्ञान नहीं, उपादान की परिपक्वता में अभी सन्देह है, तब तक अशुभ निमित्तों से बचना आवश्यक हो जाता है। कहा भी है—

परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति न सदुपदेशम्।
यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि ॥

साधक सदैव कुत्सित पुरुषों के संग से बचकर सज्जनों का ही साहचर्य करे, भले ही वे उपदेश न दें क्योंकि सज्जनों का सग ही एवं उनके मुंह से अनायास निकलती हुई बातें ही शास्त्र होती हैं। अतः धर्माधर्म की चर्चा भी साधु पुरुषों के साथ ही करना चाहिए, क्योंकि अज्ञजनों के साथ की गई चर्चा में कभी तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि उनसे वितण्डावाद, अपशब्द एवं गालियों का प्रवाह ही प्रायः मिलता है। अतः इनसे दूर

रहना ही श्रेयस्कर है। विचारकों के साथ तत्त्वचर्चा में उनके द्वारा अनुभूत सिद्धान्तों और तथ्यों का नया चिन्तन-मनन मिलता है। धर्मचर्चा में धर्म के साथ-साथ अधर्म का स्वरूप भी नहीं समझा जाएगा, तब तक उससे बचना भी कठिन होता है।

दुर्मित्र को पहचानो, कल्याणमित्रों का साहचर्य करो

अब अर्हतर्षि अरुण सन्मित्र (कल्याणमित्र) और दुर्मित्र का स्वरूप एवं कल्याणमित्र के सम्पर्क का महत्त्व बताते हुए कहते हैं—

सब्भाव - वक्क-विवसं सावज्जारंभ - कारकं।
दुम्मित्तं तं विजाणेज्जा, उभयो लोग-विणासणं ॥११॥

सम्मत्तणिरयं धीरं, सावज्जारंभ-वज्जकं।
तं मित्तं सुट्ठु सेवेज्जा उभओ लोक-सुहावहं ॥१२॥

संसग्गितो पसूयंति दोसा वा जइ वा गुणा।
वाततो मारुतस्सेव ते ते गंधा सुहावहा ॥१३॥

संपुण्ण-वाहिणीओ वि, आवन्ना लवणोदधिं।
पप्पा खिप्पं तु सव्वावि पावंति लवणत्तणं ॥१४॥

समस्सिता गिरिं मेरुं, णाणावण्णा वि पक्खिणो।
सव्वे हेमप्पभा होंति, तस्स सेलस्स सो गुणो ॥१५॥

कल्लाणमित्त-संसग्गिं संजओ मिहिलाहिवो।
फीतं महितलं भोच्चा तं मूलाक दिवंगतो ॥१६॥

अरुणेण महासालपुत्तेण अरहता इसिणा बुइतं—

सम्मत्तं च अहिंसं च सम्मं णच्चा जितिंदिए।
कल्लाणमित्त-संसग्गि, सदा कुव्वेज्ज पंडिए ॥१७॥

अर्थात्—अपने वक्र स्वभाव से विवश होकर जो सावद्य आरम्भ करता है, उसे दुर्मित्र समझना चाहिए, क्योंकि वह दोनों लोकों का विनाश करता है ॥११॥

सम्यक्त्व में निरत, सावद्य आरम्भ से दूर एवं धैर्यशील मित्र (सन्मित्र) का अच्छी तरह साथ करना चाहिए, क्योंकि ऐसे कल्याणमित्र का साथ दोनों लोकों में हितावह है ॥१२॥

संसर्ग से दोष या गुण पैदा होते हैं। हवा जिस ओर बहती है, उस ओर की सुगन्ध दुर्गन्ध को ग्रहण कर लेती है ॥१३॥

मीठे जल से परिपूर्ण सभी नदियाँ लवणसमुद्र (खारे समुद्र) में मिलती हैं, उससे मिलते ही वे तत्काल अपनी स्वाभाविक मधुरता को छोड़कर (समुद्र का) खारापन प्राप्त कर लेती हैं ।।१४।।

रंग-बिरंगे (विविध वर्ण वाले) पक्षिगण जब सुमेरुपर्वत पर पहुँचते हैं तो वे सबके सब स्वर्णप्रभा से युक्त हो जाते हैं। यह उस पर्वत का ही विशिष्ट गुण है ।।१५।।

कल्याणमित्र के संसर्ग से मिथिलाधिपति संजय सपूर्ण पृथ्वीतल को भोग कर उगते सूर्य की प्रभा वाले दिव्यलोक में पहुंचा ।।१६।।

महाशाल-पुत्र अर्हतर्षि अरुण इस प्रकार बोले—जितेन्द्रिय और प्रज्ञाशील साधक सम्यक्त्व और अहिंसा को सम्यक् प्रकार से जानकर सदैव कल्याणमित्र का ही साहचर्य प्राप्त करे ।।१७।।

अर्हतर्षि अरुण सर्वप्रथम दुर्मित्र की पहचान बताते हैं कि जिसके जीवन में कुटिलता है। जो ऊपर-ऊपर से मीठा-मीठा बोलता है, किन्तु हृदय में हलाहल कपट का जहर भरा है। अथवा जिसके विचारों में कुछ और ही बात है, वाणी दूसरी बात बोलती है और आचरण इन दोनों से भिन्न है ऐसा कुमित्र अपने साथी के दोनों लोक बिगाड़ता है। ऐसा व्यक्ति अपने साथी को जीवन के गभीर क्षणों में धोखा देता है। वह सदैव अपने साथी को सावद्य कर्मों की ही प्रेरणा देता है। फलत: उसका साथी हर समय संकल्प-विकल्पों में डूबता-उतराता रहता है। परलोक को सुधारने के लिए तो ऐसे कुमित्र से प्रेरणा ही कब मिल सकती है। जिसका स्वयं का इहलोक सुन्दर नहीं है, वह परलोक को सुन्दर बनाने की प्रेरणा दे, यह असम्भव है। जो आत्मा को भूला हुआ है, वह साथी को आत्मा और परमात्मा का स्मरण क्या खाक करायेगा ? अत: ऐसे कुमित्रों से सदैव दूर रहो, उसकी चिकनी-चुपड़ी बातों में मत आओ। सावधान रहो ऐसे मित्रों से जो पक्षी के समान तुम्हारे फलों से लदे जीवनवृक्ष के चारों ओर मडराते हैं। तुम्हारी प्रसिद्धि, श्रेष्ठता और सरलता का लाभ उठाकर तुम्हें बदनाम कर देगा। उस दिन वह पास भी नहीं फटकेगा, जिस दिन तुम्हारे जीवनवृक्ष के फल समाप्त हो जाएँगे। एक अंग्रेज विचारक कहता है—

'Friends are plenty when your purse is full. जब तुम्हारा बटुआ तर होगा, तब तुम्हारे बहुत-से मित्र हो जाएँगे।'

परन्तु ऐसे मित्र संख्या में हजार हों तो भी वे कल्याणमित्र नहीं, स्वार्थी मित्र होंगे, जो संकट के समय साथ नहीं देंगे।

अतः याद रखो, सन्मित्र जीवन का अमूल्य खजाना है, जबकि कुमित्र धनहरण करने वाले चोर के समान है। जो तुम्हारे अवगुणों पर पर्दा डाल कर तुम्हारी चापलूसी करता है। ऐसे मित्र से दूर रहो।

जिसके पास सम्यक्त्व का प्रकाश है, ऐसा धीर एवं निरवद्य-कार्य करने वाला पवित्र व्यक्ति ही सच्चा मित्र है, उसी का साथ करना चाहिए। वही सच्चे माने में साधक का कल्याणपथ-दर्शक मित्र एवं साथी है। अंग्रेजी कहावत है—

Life has no blessing like a prudent friend.

ज्ञानी मित्र के समान जीवन में दूसरा कोई वरदान नहीं है। ऐसा ज्ञानी मित्र जीवन के उन कटु प्रसंगों में जबकि तुम्हारा धैर्य जवाब देने लगेगा, तुम अपने धर्म, कर्तव्य या दायित्व से गिरने-फिसलने लगोगे, तब तुम्हें सच्ची राह दिखायेगा, सच्ची सलाह देगा, क्योंकि उसके मन में स्वार्थ की गन्ध नहीं है। अतः ऐसे साथी से तुम्हें प्रकाश की प्रेरणा ही मिलेगी। ऐसे सच्चे मित्र में एक माता की-सी कोमलता और धीरता होती है, एक हितैषी कुशल वैद्य की-सी निपुणता और परख होती है। वह साथी के संकट को भलीभाँति समझकर उसमें से उबरने का सही रास्ता बता देता है। ऐसा मित्र अपने साथी को अपने पास से देकर भूल जाता है और साथी से जो लेता है, उसे सदैव कृतज्ञतापूर्वक याद करता है।

अच्छे संसर्ग से गुण और बुरे संसर्ग से दोष पैदा होते हैं। हवा अगर सुरभित स्थान से होकर गुजरती है तो वहाँ की सौरभ लेकर आगे बढ़ती है और यदि वह गंदगी से होकर गुजरती है तो स्वय भी दूषित हो जाती है, दूसरों को भी दुर्गन्धित कर देती है। इसी प्रकार जीवन भी एक वायु है। जो साधक सज्जन पुरुषों के साहचर्य में रहता है, वह सद्गुणों की सुवास प्राप्त करता है और बुरे व्यक्ति के पास पहुँचता है तो वहाँ से बुराई ग्रहण करता है।

बुरे के संसर्ग से कैसे दोष आ जाता है. इसे अर्हतर्षि उदाहरण देकर बता रहे हैं कि नदियाँ मधुर जल राशि लेकर समुद्र में पहुंचती हैं, किन्तु मिलन के प्रथम क्षण में समुद्र के खारे जल के संसर्ग से अपनी सारी मधुरिमा खो बैठती हैं। उसकी सारी जलराशि क्षार-मिश्रित हो जाती है। इत्र की शीशी में दो बूँद मिट्टी का तेल गिर जाता है तो उसमें सुगन्ध के स्थान पर मिट्टी के तेल की दुर्गन्ध आने लगेगी। प्रकृति की तरह मानव का भी यही स्वभाव है। वह दूसरों के सद्गुण तो देर से ग्रहण करता है, किन्तु

दुर्गुण - दोष तो बहुत शीघ्र ग्रहण कर लेता है। यह हुआ संसर्गजन्य दोष का निरूपण। अब लीजिए संसर्गजन्य गुण का निरूपण - सुमेरु पर्वत सारा का सारा सोने का है। उसके निकट किसी भी रंग का पक्षी पहुंचता है तो उसकी प्रभा से वह पक्षी भी स्वर्ण-प्रभ (सुनहरे रंग) का हो जाता है।

कल्याण-मित्र की आवश्यकता पर बल देते हुए अर्हतर्षि कहते हैं कि आत्म-विकास तक पहुंचने के दो साधन हैं—एक बाह्य है, दूसरा है—आभ्यन्तर। बाह्य साधन में प्रबल निमित्त है—कल्याणमित्र। और आभ्यन्तर साधन हैं—सम्यक्त्व एवं अहिंसा-सत्यादि का सम्यक् अवबोध। कुशल और योग्य साथी जीवन की नैया को तीर पर ले जाने में सहायक होता है। सम्यक् विचार-आचार धारा का अनुभवी कल्याणमित्र अपने साथी को वस्तु तत्त्व का बोध भी करा देता है और पर्याप्त साहस, धैर्य एवं बल भी देता है। वह कल्याणमित्र ही था, जिसके संसर्ग से मिथिलानगरी के राजा संजय ने विजय प्राप्त की थी, फिर चिरकाल तक राज्य-सुख भोगा बाद में उसी कल्याणमित्र की सत्प्रेरणा से सर्वविरति मार्ग में प्रविष्ट होकर देवलोक में पहुंचा। अतः शरीर के लिए जैसे भोजन आवश्यक एवं कल्याणप्रद है, वैसे ही आत्मा के लिए कल्याणमित्र भी आवश्यक एवं कल्याणप्रद है।

जीवन के दो बहुमूल्य भाव मित्र

अब अर्हतर्षि अरुण जीवन को उत्तम गुणरूपी धन से सुसज्जित करने के लिए दो गाथाओं में निर्देश दे रहे हैं—

> खइणं पमाणं वत्तं च देज्जा अज्जति जो धणं।
> सद्धम्म-वक्क-दाणं तु अक्खयं अमतं मतं ॥९॥
>
> पुण्ण तित्थं उवागम्म, पेच्चा भोच्चा हित फलं।
> सद्धम्म-व रि-दाणेणं खिप्पं सुज्झति माणसं ॥१०॥

अर्थात्—जो मनुष्य धन एकत्रित करता है, काल उसके लिए संदेश देता है कि यह मर्यादित है और एक दिन नष्ट होने वाला है, जबकि सद्धर्म वचन का दान तो अक्षय (कभी क्षय नहीं होने वाला) है और अमृततुल्य माना गया है।

जिस पुण्य तीर्थ को पाकर परलोक में तुम जिस फल को भोगोगे, उस फल की प्रसव भूमि हृदय है जो सद्धर्म का जल देने से शीघ्र शुद्ध होता है ॥१०॥

अज्ञानीजन बहिर्दृष्टि—बहिरात्मा होते हैं। वे धन इसलिए एकत्रित करते हैं कि यह हमारी रक्षा करेगा, सुख देगा, जीवन पर्यन्त हमारे साथ

रहेगा परन्तु यह निश्चित समझ लो कि धन मानव के लिए छाया के समान चंचल है। किस क्षण उसके पुण्यरूपी सूर्य पर अशुभोदय बादल आ जाएँगे, कहा नहीं जा सकता। अशुभोदय के बादल आते ही सम्पत्ति की छाया सर्वप्रथम साथ छोड़ देगी। उलटे उसमे हुए कर्मबन्ध से मनुष्य को यहाँ और आगे भी दुःख भोगना पड़ेगा। यह एक मिथ्या धारणा है कि सम्पत्ति के द्वारा हम सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं।

Money will not buy everything.

पैसा प्रत्येक चीज नहीं खरीद सकता। पैसे से आप फाउण्टेन पेन खरीद सकते हैं, लेकिन लेखनकला नहीं मिल सकती, पैसे से रोटी खरीदी जा सकती है, लेकिन दया, करुणा, सहानुभूति, भूखे को कुछ देने की भावना नहीं खरीदी जा सकती। पैसा आपको चश्मा दे सकता है, परन्तु अनेकान्त दृष्टि या दिव्यदृष्टि पैसे से नहीं मिल सकती। यह भौतिक सम्पत्ति ढलते सूर्य की छाया-सी सीमित और क्षणिक है। आपको अगर कोई सारी सम्पत्ति दे दे तो उसने नाशवान् वस्तु ही दी न ? वह भी आपका पुण्य प्रबल होगा तो टिकेगी। भले ही वह दुनिया की नजरों में वह दानी प्रतीत होगा, मगर तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में उसने नाशवान् तथा दुर्गुणप्रेरक वस्तु ही दी न ? दूसरी ओर एक विचारक साधु या कल्याणमित्र तुम्हें शाश्वत सद्धर्म-वचन या सुन्दर विचार देता है, जिससे तुम्हारा इहलोक और परलोक दोनों ही सुधर जाता है, तुम्हारा आचार-विचार पवित्र हो जाता है, तुम्हारी आत्मा मोक्ष मार्ग की दिशा में प्रयाण करती है, तो वह विश्व की शाश्वत महा सम्पत्ति तुम्हें देता है। तुम भी किसी को दो तो ऐसी शाश्वत सर्वश्रेष्ठ विचार सम्पत्ति दो, सद्धर्म वचन दो, जिससे उसका जीवन कल्याणमय हो।

दूसरी ओर सद्धर्मरूपी जल से अपने जीवन को सींचो। मानव जीवन में हृदय वह भूमि है, जहाँ पुण्य की लता सींची जाने से फैलती रहती है। सद्धर्मरूप जल देने से हृदय शुद्धि होती है और पुण्यलता मजबूत होती है।

साधना के क्षेत्र में आँख न हो तो काम चल सकता है, क्योंकि आँख के अभाव में भी साधक साधना कर सकता है। इसी प्रकार जीभ के बिना भी काम चल सकता हैं, मौन रहकर भी मानव साधना कर सकता है। वहाँ हाथ और पैर की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि लूले-लंगड़े व्यक्ति भी साधना कर सकते हैं। किन्तु सर्वाधिक आवश्यकता है—हृदय की। वह भी शुद्ध पवित्र हृदय की। पवित्र हृदय ही रत्नत्रय की साधना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। हृदय की पवित्रता समस्त पवित्रताओं में श्रेष्ठ है—

वेदव्यासजी ने कहा है—

'तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीना हृदयं शुचिः'

तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ हृदय है और पवित्र वस्तुओं में पवित्रतम है—हृदय।

भगवान् महावीर ने भी साधकों को यही सन्देश दिया है—

'सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।'

सरल आत्मा ही शुद्ध होता है, और शुद्ध हृदय में ही धर्म ठहरता है, निवास करता है।

अतः सद्धर्मवचन का प्रदान एवं शुद्ध हृदय, ये दो ही साधक के परम कल्याणमित्र हैं, साथी हैं, जो मोक्ष की मंजिल के निकट ले जाते हैं।

बन्धुओ !

आप भी अर्हतर्षि अरुण द्वारा प्रतिपादित इन दो साथियों को, भाव-मित्रों को अपने जीवन में अपनाएँ। बालरूप (अज्ञानी) जनों को परख कर उन्हें छोड़े और ज्ञानीजनों, सच्चे कल्याणमित्रों एवं साधु-पुरुषों का सम्पर्क व परिचय करें। इसी से आपका जीवन लक्ष्य बिन्दु की ओर शीघ्र गति करेगा।

□□

३७

अज्ञ का विरोध : प्राज्ञ का विनोद

शूलों से प्यार, वहीं फूलों की बहार

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! मनुष्य का साधनामय जीवन उतार-चढ़ाव का जीवन है। उतार-चढ़ाव के बिना साधना में गति-प्रगति हो नहीं सकती। एक सरीखा जीवन या तो आलसियों का होता है या फिर स्थितिस्थापकों का होता है। जिसे अपनी साधना में गति-प्रगति करनी होती है, समाज में क्रान्ति करनी होती है, उसे जीवन के हर क्षेत्र में कड़वे-मीठे घूँट मिलते हैं। बल्कि दुनिया के हर विचारक, क्रान्तिकारक अथवा साधक को पहले शूल मिलते हैं जब वह शूलों को प्यार से अपनाता है तो दुनिया उस पर फूल बरसाती है। किन्तु जो शूलों को देखकर घबरा जाता है, दुनिया की आलोचनाओं से जिसका धैर्य समाप्त हो जाता है और जिसकी अपने निर्धारित कार्य से आस्था हिल जाती है, वह कभी सफलता के दर्शन नहीं कर सकता। सफलता कायरों का कभी साथ नहीं करती। दुनिया की आलोचना से घबराकर साधक को अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा से अलग नहीं होना चाहिए। दुनिया की आँखों से अपना नाप-तौल नहीं करना चाहिए, अपितु विवेक की आँखों से प्रत्येक कार्य में निहित सत्य को ढूँढ़ना चाहिए। शास्त्र में कहा गया है—**सच्चम्मि धीइं कुव्वहा**' 'सत्य में बुद्धि या धृति करना चाहिए।' मेकियावेली नामक पाश्चात्य विचारक ने ठीक ही कहा है—

Men in general judge more from appearances than from reality. All men have eyes, but few have the gift of penetration.

साधारणत: मनुष्य सत्य की अपेक्षा बाहरी आकार से ही अनुमान लगाते हैं। आँखें तो सभी के पास होती हैं, किन्तु विवेक की आँखों का वरदान किसी-किसी को मिलता है।

अतः साधक के कार्यों का जनसाधारण विरोध और आलोचना करता है, उससे उसे घबराना नहीं चाहिए। बल्कि अपने कार्यों के विरोध को विनोद समझकर उसका उत्साहपूर्वक स्वागत करना चाहिए। अज्ञ (अज्ञानी) जो विरोध करते हैं प्राज्ञजन उसे मात्र विनोद समझकर अपनी समाधि बनाये रखते हैं। तब समझना चाहिए कि हमारे कार्य में निखार आ रहा है। प्रसिद्ध इतिहासकार 'बर्क' ने लिखा है—

'जो हमसे कुश्ती लड़ता है, वह हमारे अंगों को मजबूत करता है। हमारे गुणों को तेज करता है। विरोधी एक प्रकार से हमारी मदद ही करता है।'

पांच प्रकार के विरोधों को समभाव से सहे

अतः साधक को चाहिए कि विरोध को सह लेने की कला सीखे। जैसे सैनिक का शिक्षित घोड़ा तोप के गोलों से नहीं चौंकता, जबकि गधा पटाखे की आवाज से ही बिदककर बेकाबू हो जाता है, इसी प्रकार साधक का मन श्रुत और शील की धारा से प्रशिक्षित हो तो वह बड़े से बड़े विरोध को प्रसन्नता से सह लेता है। विरोध को सहने के लिए मन को किस प्रकार की साधना की आवश्यकता है, उसी प्रशिक्षण के विषय में प्रस्तुत चौंतीसवें अध्ययन में ऋषिगिरि अर्हतर्षि अपना अनुभवयुक्त मार्गदर्शन देते हुए कहते हैं—

पंचहिं ठाणेहिं पंडिते बालेण परीसहोवसग्गे उदीरिज्जमाणे सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अधियासेज्जा।

अर्थात्—पांच स्थानों से पण्डित बालजनों (अज्ञानियों) द्वारा उदीर्ण किये जाने वाले परीषहों (दुःखों) और उपसर्गों (त्रास या कष्टों) को सम्यक् प्रकार (समभाव) से सहन करे, धैर्य धारण करे, तितिक्षापूर्वक समभाव रखे और इस प्रकार उन पर विजय प्राप्त करे।

तात्पर्य यह है कि जब कभी किसी विद्वान् विचारक साधक पर अज्ञानियों द्वारा विरोध के रूप में पांच प्रकार में से किसी भी प्रकार विरोध परीषह या उपसर्ग के रूप में उपस्थित हो तो उस समय आगे कहे जाने वाले पांच प्रकार के विचारों से उन कष्टों का स्वागत करे, उन्हें समभावपूर्वक सहन करे, धैर्य रखे, क्षमाभाव धारण करे, मन को बिल्कुल चंचल न होने दे।

विरोध का प्रथम प्रकार और उसे सहने का विचार

अभी-अभी मैंने आपके समक्ष अज्ञजनों द्वारा पण्डित के कार्यों का पांच प्रकार से विरोध का जिक्र किया था, उनमें से प्रथम प्रकार इस प्रकार है—

(१) **बाले खलु पंडितं परोक्खं फरुसं वदेज्जा, तं पंडिते बहुमण्णेज्जा—**
'दिट्ठा मे एस बाले परोक्खं फरुसं वदति, णो पच्चक्खं।
मुक्ख-सभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति।
तं पंडिते सम्मं सहेज्जा तितिक्खेज्जा अधियासेज्जा॥

अर्थात्—यदि कोई अज्ञानी प्राणी किसी पण्डित साधक को परोक्ष में कठोर वचन बोले तो पण्डित उस को बहुत माने और यह सोचे कि—

'यह तो अच्छा है कि यह व्यक्ति परोक्ष में ही कठोर शब्द कह रहा है, प्रत्यक्ष में तो कुछ नहीं कह रहा है। ये अज्ञानी व्यक्ति तो मूर्ख स्वभाव के होते हैं। अज्ञानियों से कुछ भी अछूता नहीं है।' यह सोचकर विद्वान् साधक (उनके निन्दात्मक कठोर वचनों को) सम्यक् प्रकार से सहन करे, उनके प्रति क्षमाभाव रखे, तितिक्षा (सहनशीलता) बढ़ाए, और मन के समाधिभाव को नष्ट न होने दे।

जिस समय अज्ञानियों द्वारा विद्वान् साधक की परोक्ष में कठोर शब्दों में कटु-आलोचना हो रही हो, उस समय वह विवेकी साधक उत्तेजित न होकर वस्तुस्थिति पर विचार करके मन से ही उस विरोध का शमन करे। ऐसे परोक्ष विरोध के प्रसंग पर साधक विचार करे कि समाज में हर विचारक के सामने ऐसा होता ही आया है। जब समाज की सड़ी-गली परम्परा को तोड़कर कोई नया विशुद्ध समाज-हितकर मार्ग प्रस्तुत करता है तो समाज के अज्ञ लोग बौखलाते हैं, चीखते-चिल्लाते हैं। वे विचारविहीन लोग उसकी अप्रत्यक्ष आलोचना का आश्रय लेते हैं। उनमें इतना साहस नहीं होता कि वे प्रत्यक्ष में आकर कुछ कह सकें। ऐसे प्रसंगों में प्रज्ञाशील साधक अपने सुविचार का प्रदीप बुझने न दे और न ही उन पर आक्रोश करे। वह सोचे कि खुशी है कि ये बेचारे परोक्ष में ही मेरी आलोचना करके ही रह गए हैं, ये प्रत्यक्ष में आकर बोलने का साहस नहीं कर रहे हैं। ये बेचारे अज्ञानता से ग्रस्त हैं। इनकी आत्मा अज्ञानान्धकार में भटक रही है। ज्ञान की किरण का इन्हें स्पर्श नहीं हुआ है। साथ ही ये मूर्ख स्वभाव के हैं। यदि इनकी बातों का जवाब दिया जाएगा तो इनकी आलोचना को बल मिलेगा। साथ ही हर मूर्ख अपने आपको सबसे बड़ा बुद्धिमान् मानता है। उसकी आलोचना से तो भगवान् भी नहीं बचे हैं, फिर हम जैसों की तो बात ही क्या? ये विचार साधक की मनःस्थिति को सम रखने में सहायक होते हैं और निंदा एवं अपमान के कड़वे घूंट को पी जाने का साहस भी देते हैं, इस प्रकार साधक दृढ़तापूर्वक अपने मार्ग पर आगे बढ़ जाता है।

विरोध का द्वितीय प्रकार : प्रत्यक्ष में कटु आलोचना का शमन

इससे आगे बढ़कर प्रत्यक्ष विरोध हो तो क्या करना चाहिए ? अर्हतर्षि मार्गदर्शन देते हुए कहते हैं—

(२) **बाले खलु पडितं पच्चक्खमेव फरुसं वदेज्जा, तं पंडिए बहु मण्णेज्जा—**

'दिट्ठा मे एस बाले पच्चक्खं फरुसं वदति, णो दंडेण वा लट्ठिणा वा लेट्ठुणा वा मुट्ठिणा वा बाले कवालेण वा अभिहणति, तज्जेति, तालेति, परितावेति, उद्दवेति, मुक्खसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति', तं पडिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अधियासेज्जा।

अर्थात्—"यदि अज्ञानी व्यक्ति किसी प्रज्ञाशील साधक को प्रत्यक्ष में कठोर वचन कहे, तब भी विद्वान् उसे बहुत माने और यह सोचे कि खुशकिस्मती है, यह अज्ञानी व्यक्ति प्रत्यक्ष में कठोर वचन ही कह रहा है, यह डन्डे से, लाठी से, ढेले से, मुक्के से या ठोकर आदि से तो नहीं मारता, तर्जना नहीं करता, न ही ताड़ना-प्रताड़ना करता है, न ही परिताप पहुंचाता है, या उपद्रव करता है। ये अज्ञानी मूर्ख स्वभाव के होते हैं। ये जो न करे वही कम है। अतः विद्वान् साधक उन कष्टों को सम्यक् प्रकार से सहन करे; क्षमाभाव रखे, धैर्य से सहे और मन को समाधिभाव से चलित न होने दे।'

यदि मूर्ख जनता विचारक साधक का प्रत्यक्ष में कठोर वचन कहकर अपमान करती है तो विचारक के लिए वह दया की पात्र है। जब बालक की आँखों का जाला दूर करने के लिए डॉक्टर ऑपरेशन करता है; तो बालक दर्द के मारे चीखता-चिल्लाता है, डॉक्टर को गालियाँ देता है, किन्तु हितैषी डॉक्टर के मन में बालक के प्रति रोष नहीं उमड़ता। ठीक इसी प्रकार जब परम्परा और रूढ़ियों के घातक जाले समाज की आँखों में बढ़ जाते हैं, सत्य देखने की शक्ति लुप्त हो जाती है, तब कोई विचारक साधक तीखे नश्तर से उसका ऑपरेशन करता है तो अज्ञानीजन चीखता-चिल्लाता है, उसे गालियाँ भी देता है। परोक्ष में ही नहीं, कभी-कभी प्रत्यक्ष में भी उस पर ईर्ष्या और घृणा से आक्षेप करता है।

उस अवसर पर निन्दा और अपमान के कड़वे घूँट पीता हुआ विचारक साधक सोचे—'ये बेचारे अज्ञानान्धकार में भटक रहे हैं। इनकी आत्मा पर अज्ञान का आवरण है, ये जो न करें वही थोड़ा है। खुशकिस्मती है कि यह प्रत्यक्ष में गालियाँ देकर ही सन्तोष मान रहे हैं, लाठी और डंडे आदि से तो मुझे नहीं पीट रहे हैं।

विरोध का तृतीय प्रकार : सहनशक्ति बढ़ाएं

यदि इससे भी आगे बढ़कर अज्ञानी लोग लाठियाँ आदि से मारने-पीटने पर उतारू हो जाएँ तो विचारक साधक क्या करे ? इसके लिए ऋषिगिरि अर्हतर्षि का मार्गदर्शन इस प्रकार है -

(३) **बाले य पंडितं दंडेण वा लट्ठिणा वा लेट्ठुणा वा मुट्ठिणा वा कवालेणं वा अभिहणेज्जा....एवं चेव णवरं अण्णतरेण सत्थजातेणं अण्णयर सरीरजायं अच्छिदइ वा, विच्छिदइ वा, मुक्खसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति, तं पंडिते सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा, तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा।**

अर्थात्—यदि अज्ञानी किसी प्रज्ञाशील पण्डित साधक पर डंडे, लाठी ढेले, मुक्के या ठोकर आदि से प्रहार करता है, तब भी पण्डित साधक यह सोचे कि खुशकिस्मती से ये केवल दण्ड आदि से ही प्रहार कर रहे हैं, किन्हीं शस्त्र आदि से तो मेरे शरीर का छेदन-भेदन नहीं करते। वह यही सोचे कि अज्ञानीजन मूर्ख स्वभाव के होते हैं। इन अज्ञानीजनों द्वारा जो न किया जाए, वही थोड़ा है। पडित साधक उनके प्रहारों को सम्यक् प्रकार से सहे, क्षमाभाव धारण करे, तितिक्षा (धैर्य) पूर्वक सहे और मनःसमाधि न खोते हुए सहन करे।

जब क्रान्ति आगे बढ़ती है और परम्परा की घातक दीवारें ढहने लगती हैं, तब स्थितिस्थापक परम्परा-पुजारी बौखला उठते हैं। वे चिल्लाते हैं, क्योंकि उनकी दुकानदारी और प्रतिष्ठा उठने लगती है। परम्परा की नीव डगमगाती है, तो बड़ी-बड़ी शक्तियाँ भी क्षुब्ध हो उठती है और उनके सम्प्रदायवाद की मदिरा पीये हुए मतान्ध अनुगामी साम्प्रदायिकता, कट्टरता और अन्धविश्वास पर जमी हुई गद्दी की रक्षा के लिए लाठियाँ, डंडे आदि लेकर उन विचारक और क्रान्तिकारियो को मारने-पीटने लगते हैं।

भगवान् महावीर को भी उस समय अनार्य कहे जाने वाले लाढ़ देश में विचरण करते समय जनता में गहरी जमी हुई नास्तिकता की जड़ें उखाड़ने और देव-गुरु-धर्म के प्रति आस्था की जड़ें जमाने के लिए जनता से भारी लोहा लेना पड़ा। आचारांग सूत्र में अनार्य देश में भगवान् के विहार का वर्णन पढ़ते समय रौंगटे खड़े हो जाते है। लाठी, डंडा, मुक्के, गाली, निन्दा और तिरस्कार के भयंकर प्रहार भगवान् को उस अनार्य देश में सहने पड़े हैं। अतः विचारक साधक अपने पर प्रहार करने वालों के प्रति मन में जरा भी रोष, द्वेष, कटुता न आने दे, अपनी मानसिक शान्ति भंग न होने दे, न ही उनके समक्ष दीनता-चापलूसी करे। बल्कि यही सोचे कि, ये बेचारे अज्ञानतावश ऐसा कर रहे हैं। इनकी रूढ़ परम्परा का सिंहासन हिलने लगा है,

बेचारों की रोटी-रोजी छिन रही है, इसलिए इस तुच्छ स्वार्थभंग के कारण इनका विरोध करना स्वाभाविक है। फिर भी ये बेचारे केवल डंडे आदि से ही प्रहार करके रह जाते हैं, शस्त्र प्रहार तो नहीं करते, यही गनीमत है। ये ही उदात्त विचार प्रज्ञावान साधक आत्मा को लाठी बरसाने वाले पर भी क्षमा बरसाने के लिए प्रेरित करते हैं।

विरोध का चतुर्थ प्रकार और साधक की सहिष्णुता

इससे भी आगे बढ़कर अज्ञानीजनों का टोला यदि विचारक साधक पर शस्त्रास्त्र आदि के प्रहार करने लगे तो उस समय वह क्या करे ? इसके लिए अर्हतर्षि ऋषिगिरि का मार्गदर्शन इस प्रकार है —

(४) "**बाले य पंडितं अण्णतरेण सत्थजालेणं अण्णतरं सरीरजायं अच्छिवेज्जा वा विच्छिवेज्जा वा, तं पडिए बहुमण्णेज्जा—**

'बिट्ठा मे एस बाले अण्णतरेणं सत्थजालेणं अच्छिवति वा विच्छिदति वा, णो जीविता लो ववरोवेति, मुक्खसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति।' तं पंडिए सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा, तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा।

अर्थात्—यदि कोई अज्ञानी व्यक्ति किसी पण्डित साधक के किसी शारीरिक अवयव का किसी शस्त्रादि से छेदन करता है, भेदन करता है, तब भी पण्डित उसे बहुत माने। वह सोचे कि यह खुशी है कि यह बाल जीव मेरा किसी शस्त्रादि से ही छेदन-भेदन करता है, मेरे जीवन को तो समाप्त नहीं करता। अज्ञानी की प्रकृति में मूर्खता भरी रहती है। अज्ञानी जो न करे वही कम है। अतः साधक उस शस्त्रादि-प्रहार को समभाव से सहे, क्षमाभाव रखे, धैर्य से सहन करे और मन को समाधिभाव मे रखे।

विचारक सन्त की सीधी और सच्ची बात भी कभी-कभी निहित स्वार्थी सत्ताधीशों की दुनिया में खलबली मचा देती है, धनिकों का आसन कम्पायमान हो जाता है। वे विरोध करने-कराने पर तुल जाते हैं।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था—'सत्य अपने विरुद्ध एक आंधी पैदा कर देता है और वही उसके बीजों को दूर-दूर तक फैला देती है।'

ऐसे विरोध के अवसर पर विचारक साधक यह सोचे कि हर विचारक को अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ता है। सर्वप्रथम अज्ञ लोग उपहास करते हैं और गालियां देते हैं, जो सुधारक के लिए सर्वप्रथम उपहार है। जब इनसे वे कामयाब नही होते तो स्वार्थ और सत्ता के आक्रोश के बल पर वे तलवारें हाथ में लेकर निकल पड़ते हैं। किन्तु शस्त्र प्रहार के समय

भी साधक अपनी समस्थिति को भंग न होने दे। वह सोचे कि ये बेचारे अज्ञान की अंधेरी गलियों में भूलने-भटकने वाले राही हैं, ये तो मेरे शरीर पर ही आघात करके रह जाते हैं, मैंने तो इनके विचारों पर प्रहार किया है। ये मेरा जीवन तो समाप्त नहीं करते। यह निश्चित है कि शरीर के प्रहार की अपेक्षा वैचारिक शरीर का आघात अधिक मार्मिक होता है।

चिन्तन की यह धारा साधक की मनःस्थिति को द्वेष से विकृत होने से बचाती है। साथ ही शान्ति के ये शीतल छींटे उसकी आत्मा में कषाय की आग को भड़कने नहीं देते और इस प्रकार वह अपने प्रहारकर्त्ता को भी क्षमा कर सकता है।

इन्हीं पवित्र विचारों ने अर्जुनमुनि को अपने पर राजगृह के विविध रूप से प्रहार करने वालों के प्रति क्षमाभाव एवं साम्यभाव धारण करने को प्रेरित किया था। इन्हीं पवित्र विचारों ने तेजोलेश्या के द्वारा मर्मान्तक वेदना देने वाले गोशालक को भगवान महावीर से क्षमा प्रदान कराया था।

विरोध का पंचम प्रकार : साधक की सहन शक्ति

अब इससे भी आगे बढ़कर प्रज्ञाशील साधक पर विरोधियों द्वारा प्राणान्तक प्रहार होने लगे, तब क्या करना चाहिए ? इसके लिए अर्हतर्षि का मार्गदर्शन इस प्रकार है—

(५) "**बाले य पंडितं जीवियाओ ववरोवेज्जा, त पंडितं बहुमण्णेज्जा— दिट्ठा मे एस बाले जीविताओ ववरोवेति, णो धम्माओ भंसेति। मुक्खसभावा हि बाला। किंचि बालेहिंतो ण विज्जति। तं पंडिते सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा, तितिक्खेज्जा, अहियासेज्जा।**"

अर्थात् —"यदि कोई अज्ञानी व्यक्ति किसी पण्डित का जीवन समाप्त करता है, तब भी पण्डित साधक उसे बहुत माने और सोचे—'खुशकिस्मती से यह अज्ञानी तो मेरा जीवन ही समाप्त कर रहा है, यह मुझे अपने धर्म से तो भ्रष्ट नहीं करता। अज्ञानीजन मूर्ख स्वभाव के होते हैं। वे जो न करें, वही कम है।' अतः पण्डित साधक उसे सम्यक् प्रकार से सहन करे, क्षमा-भाव रखे, शान्ति रखे तथा मन को समाधिभाव में रखे।"

जब अज्ञान का आवेग तूफान पर होता है तो कभी-कभी नग्न सत्य के वक्ता को जीवन से हाथ धोना पड़ता है। और आश्चर्य नहीं, अज्ञानीजन विश्व के उस महा प्रकाश को अपने ही हाथों से बुझा दे। इतिहास साक्षी है कि मानव के विकास के लिए जिन्होंने नया प्रकाश दिया, क्रान्ति की नई लहर दी, जनजीवन को नया मोड़ दिया, उसे जनता ने क्या दिया ? किसी

युगद्रष्टा महापुरुष या विचारक को उसने फांसी पर चढ़ाया तो किसी सत्य के प्रखर वक्ता को जहर का प्याला पिलाकर दुनिया के प्लेटफॉर्म से हट जाने को विवश कर दिया तो किसी को गोली से बींध दिया।

जिस महापुरुष ने दुनिया को करुणा और प्रेम का अमृत दिया, दुनिया ने उसे घृणा और तिरस्कार दिया। दुनिया का विष पीकर बदले में अमृत दिया पर उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के बदले अज्ञानीजन तिरस्कार ही बरसाते हैं। परन्तु सत्यद्रष्टा विचारक मौत की घड़ियों में भी अपने मारने वाले के प्रति आशीर्वाद बरसाता है। इसी से तो मानव महामानव बनता है।

वास्तव में जनता के आक्रोश और प्राणान्तक विरोध को क्षमा से जीतने का आनन्द महापुरुष ही जानते हैं। ऐसा युगद्रष्टा पुरुष अपने प्राण-घातक को भी इसलिए क्षमा कर देता है, कि वह सोचता है—इसने तो मेरे प्राणों के दीप को ही बुझाया है, मेरे सत्य के विचार-प्रदीप को तो नहीं बुझाया।

भगवान महावीर को जब संगम देव भयंकर कष्ट देकर थक चुका था। छह महीने तक निरंतर उनके पीछे लगा रहा फिर भी प्रभु महावीर को अपने धैर्य से चलित नहीं कर सका तो जब वह हारकर जाने लगा तो भगवान के पास आया, बोला—"अब मैं जा रहा हूँ।" तब प्रभु की आँखें कुछ भीग गई। संगम को कुछ आश्चर्य हुआ कि छह महीने तक प्राणघातक कष्ट देने पर भी जिनका एक रोम भी कम्पित नहीं हुआ, वे महावीर अब गद्गद क्यों हो गये ?

संगम की इस शंका का समाधान देते हुए प्रभु महावीर बोले—मुझे सिर्फ एक ही बात की पीड़ा है कि मेरे कारण से जहाँ दुनियां अपना कल्याण कर सकती है वहाँ तुमने मुझे निमित्त बनाकर भारी पापकर्मों का बंध कर लिया। बस मुझे यही पीड़ा है…… ।

प्रभु की करुणापूरित वाणी सुनकर संगम जैसा क्रूर कठोर हृदय भी पानी-पानी हो गया।

इसी विचार सृष्टि ने क्रूस पर लटके हुए ईसा के मुँह से कहलवाया था—'प्रभो ! इन्हें क्षमा करना, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं ?' इसी विचारज्योति को पाकर गजसुकुमार मुनि की महान् आत्मा ने सोमिल ब्राह्मण को क्षमा कर दिया था। और स्कन्धक ने अपनी चमड़ी उतारने वाले से कहा था—'भाई ! तुझे कष्ट तो नहीं हो रहा है ?' इसी प्रकाश को पाकर राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने गोडसे को क्षमा-प्रदान कर दिया था।

विरोधियों के प्राणान्तक प्रहार को समभाव से, धैर्य और शान्ति से उनके प्रति द्वेष, रोष और दुर्भावना से रहित होकर सहने की यह साधना ही साधक को परमात्मपद तक पहुँचा देती है।

बौद्ध साहित्य में एक 'श्रमण' की कथा मिलती है। तथागत् बुद्ध का एक शिष्य था। उसका नाम था 'पूर्णश्रमण'। जब वह सुमेरूपरांत नामक अनार्य देश में धर्मप्रचार के लिए जाने लगा तो करुणावतार बुद्ध ने पूछा—'वहाँ अनार्य लोग तुम्हें गाली देंगे और तुम्हारा अपमान करेंगे तो क्या करोगे?'

पूर्ण—'मैं समझूंगा कि ये तो केवल गालियाँ ही देते हैं, दण्ड आदि से प्रहार तो नहीं करते।'

बुद्ध—'अगर उन्होंने डंडों से मारा-पीटा तो?'

पूर्ण—"मैं समझूँगा, इन्होंने डंडों से ही पीटा है, शस्त्र से शरीर पर आघात तो नहीं किया।

बुद्ध—'यदि किसी ने तुम्हारे शरीर पर शस्त्र से प्रहार किया तो?'

पूर्ण—'मैं समझूँगा कि इन्होंने मेरे प्राण तो नहीं लिये, केवल शस्त्र से प्रहार किया है।'

बुद्ध—'यदि वे प्राण लेने पर उतारू हो गये तो?'

पूर्ण—'मैं समझूँगा कि यह शरीर नाशवान् था, एक न एक दिन तो नष्ट होना ही था। मेरी आत्मा तो अजर-अमर अविनाशी है, उसको तो इन्होंने कोई क्षति नहीं पहुँचाई। मेरा आत्मधर्म तो नष्ट नहीं किया।'

दुर्जनों पर सज्जनता की विजय की यह कितनी प्रेरणात्मक बोध-कथा है।

प्रतिक्षण साधक आनन्दित रहे

ऋषिगिरि अर्हतर्षि समभावी साधक को लक्ष्य करके विरोधों और अवरोधों के बीच में आनन्दित रहने की कला सिखाते हुए कहते हैं—

इसिगिरिणा माहण-परिव्वायएणं अरहता इसिणा बुइतं—

जेण केणई उवाएणं पंडिओ मोइज्ज अप्पकं।
बालेण उदीरिता दोसा, तं पि तस्स हिअं भवे ॥१॥

अप्पडिण्णभावाओ उत्तरं तु ण विज्जति।
सइं कुव्वइ वेसे णो, अपडिण्णे इह माहणे ॥२॥

अर्थात्—ऋषिगिरि नामक माहन (ब्राह्मण) परिव्राजक अर्हतर्षि बोले—(ऐसे विरोधों के अवसर पर) पण्डित साधक जिस किसी भी उपाय

से स्वयं को प्रमुदित (आनन्दित) रखे। अज्ञजनों द्वारा किये गये द्वेषयुक्त प्रयत्न भी उसके लिए हितकर होते हैं ॥१॥

साधक का अप्रतिज्ञभाव से कोई भी उत्तर नहीं होता। साधक स्वयं किसी से द्वेष नहीं करता। जो अप्रतिज्ञ (प्रतिशोध की भावना से मुक्त) होता है, वही यथार्थ ब्राह्मण होता है ॥२॥

ऋषिगिरि एक ब्राह्मण-परिव्राजक हैं, वे अर्हतभाव में लीन ऋषि हैं। वे साधक को लक्ष्य करके कह रहे हैं—यदि तेरे भीतर आनन्द का स्रोत बह रहा है तो दुनिया का हर कण तुझे आनन्दित करेगा। अज्ञानियों के द्वेष भरे विरोध क्या तेरी आन्तरिक शान्तिधारा को लुप्त कर सकेंगे? क्या वे तेरे भीतर द्वेषाग्नि प्रज्वलित कर सकेंगे? यदि हाँ तो तेरे भीतर अपना तो कुछ नहीं रहा। क्या तेरी शान्ति का तू नियामक नहीं रहा? वास्तव में, तेरी शान्ति का स्रोत तेरे भीतर ही है। एक अंग्रेज विचारक ने कहा था—

'If you can rest yourself in this ocean of peace,

all the usual noises of the world can hardly affect you.'

"यदि तुम अपने भीतर की शान्ति के महासागर में विश्राम कर सकोगे तो दुनिया के तमाम शोर तुम पर मुश्किल से ही असर डाल सकेंगे।"

यदि तुम्हारे भीतर शान्ति का महासागर ठाठें मार रहा है, तो तुम्हें अज्ञानियों के द्वेषजन्य प्रयत्न भी उसी प्रकार आनन्द देने वाले होंगे, जिस प्रकार माता को बालक के कार्य आनन्द देते हैं। साथ ही उन विरोध-प्रयत्नों के सह लेने से तुम्हारा तेज भी कम न हो सकेगा। गोशालक ने भगवान् महावीर की अवमानना के लिए जितने भी प्रयत्न किये, सभी भ० महावीर के जीवन को अधिकाधिक उज्ज्वल बनाते गए। विचारकों के लिए विरोध तो विनोद है। विरोध के बिना व्यक्ति चमक नहीं सकता। आवश्यकता है, उस विरोध को समभाव से सह लेने की। जिसने विरोध को समभाव से, शान्ति से सहने की कला सीख ली है, वह जीवन के मैदान में विजय प्राप्त करके ही लौटता है।

वास्तव में कठिनाई और विरोध वह देशी मिट्टी है, जिसमें मनुष्य के पौरुष और आत्मविश्वास का पौधा पनपता है। आगे अर्हतर्षि ने साधक को विरोध के समय शान्ति से अपने आप में टिके रहने की सलाह देते हुए कहा है—साधक अप्रतिज्ञात भाव में रहे। इसका आशय यह है, जो लोग उसका विरोध, तिरस्कार, खण्डन या उस पर प्रहार करते हैं, उनके प्रति मन में

द्वेषभाव लाकर प्रतिशोध करने या बदला लेने की भावना न रखे। अर्थात् वह ईंट का जवाब पत्थर से देने की भावना कतई न रखे। प्रहारकर्त्ता को मिटा देने, उसे मजा चखाने या उसको किसी प्रकार की क्षति पहुंचाने या उस प्रकार का कोई शाप देने या बदला लेने का निदान करने की गलत विचारणा से दूर रहे। अज्ञानीजन उस पर कितने ही प्रहार क्यों न करें, वह उत्तर नहीं देगा, वह प्रहारकर्त्ता पर भी आशीर्वाद बरसावेगा। यद्यपि यह साधना कठिन है। फिर भी बदला लेने की प्रतिहिंसा की भावना हृदय के ओछेपन का प्रतीक है। जो सच्चा ब्राह्मण होता है, वह अप्रतिज्ञ होता है, अर्थात्—बदला लेने की भावना से विरत होता है। प्रसिद्ध निबन्ध लेखक बेकन कहता है—

He that studieth revenge keepeth his own wounds green, which otherwise would heal and do well.

'जो बदला लेने की सोचता है, वह अपने ही घाव को हरा रखता है, जो कि अब तक कभी का अच्छा हो जाता।'

साधक न जीविताकांक्षा करे, न मरणाकांक्षा

किन्तु मरणान्त कष्ट, रोग या विपत्ति आ पड़ने पर साधक क्या करे? इसके लिए अर्हतर्षि दो गाथाओं द्वारा मार्गदर्शन दे रहे हैं—

किं कज्जते उ दीणस्स, णण्णऽत्थ देहकंखणं।
कालस्स कंखणं वा वि, णण्णत्थं वा वि हायति ॥३॥

णच्चाण आतुरं लोकं णाणावाहीहि पीलितं।
णिम्ममे णिरहंकारे भवे भिक्खु जितिंदिए ॥४॥

अर्थात्—जो दीन व्यक्ति होता है, वह देहाकांक्षा के सिवाय क्या करता है? अथवा कभी वह मृत्यु की आकांक्षा करता है, किन्तु इसके अतिरिक्त वह दूसरे तत्वों को नष्ट करता है ॥३॥

लोक को आतुर और नानाविध व्याधियों से पीड़ित जान कर भिक्षु ममत्व और अहंकार से रहित होकर जितेन्द्रिय बने ॥४॥

सामान्य मानव जब तक आराम में होता है, अर्थात्—उसका किसी किसी भी प्रकार से विरोध नहीं होता, तब तक जीने की आकांक्षा लिये हुए रहता है, और जब विरोध एवं संकट के क्षणों से गुजरता है, तब मृत्यु की आकांक्षा करने लगता। अर्थात् जीवन की कला से अनभिज्ञ अज्ञानी एवं कायर पुरुषों की ये ही दो निशानियां हैं—जीने का मोह या कष्ट से घबराकर मौत की याचना। सचमुच ऐसा व्यक्ति जीवन की कला से अनभिज्ञ है,

इसलिए वह मौत की मधुरता से अपरिचित होने के कारण मुसीबत से घबराकर मौत चाहता है। आराम में जीवन की चाह और संकट में मौत की चाह, यह कायर की दीन की भाषा है। जीवन की बहुत बड़ी हार है यह। सच्चा साधक न सुख में जीने का लोभ करता है और न दुःख में मौत मांगता है। यदि उसे मृत्यु में लक्ष्य की सिद्धि दिखाई देती है तो वह हंसते हंसते मृत्यु का भी वरण कर लेगा। इस प्रकार से मृत्यु का यथार्थ वरण ही जीवन का चरम विकास है। मृत्यु विचारक मनुष्य की विवशता नहीं, एक कला भी है। यह ठीक है कि जब तक बन सके मृत्यु से बचे रहना और शरीर रखकर धर्मपालन करना जीवन का सत्पुरुषार्थ है, किन्तु समय आने पर लक्ष्यसिद्धि के लिए पूर्ण समाधिपूर्वक मृत्यु की गोद में सो जाना भी साधक का महान् पराक्रम है।

जिस समय अज्ञानतावश लोक का विरोध हो, प्रहार हो, उस समय भिक्षु उस जनता को भावरोग से ग्रस्त समझकर उसका प्रतीकार न करे। वह शरीर और शरीर से सम्बन्धित सभी सजीव-निर्जीव वस्तुओं के प्रति ममत्वरहित, तथा अपनी कठोर साधना के अहकार से रहित होकर रहे, वह स्वार्थी जनता द्वारा दिये गये इन्द्रियों के विषयभोगों के प्रति भी अनासक्त एवं निःस्पृह रहे। संसार आतुर है, नाना प्रकार की स्वार्थ आदि की व्याधियों से ग्रस्त है। वह अपने स्वार्थ के पीछे भाग रहा है। इन्द्रियों के भोग, शरीर के रोग एवं मानसिक आधि-व्याधियां ये सब उसी आतुरता के कारण हैं। अतः साधक सुख-सुविधाओं एवं विषयभोगों से निःस्पृह रहे। क्षणिक तुष्टि के पीछे आने वाली संकटों की बाढ़ कितनी अशान्ति लाती है? इस बात का गम्भीरता से विचार करे और जनमानस की उस अशान्ति में भी साधक प्रेरणा के बीज खोजे तथा आतुरता का परित्याग कर अहंकार-ममकार से रहित हो, जितेन्द्रिय बने।

सुख की नींद सोने वाले साधक की योग्यता

ऐसे स्थितप्रज्ञ जितेन्द्रिय साधक का जीवन कैसा होता है? इसे अन्तिम दो गाथाओं द्वारा अर्हतर्षि कहते हैं—

पंच - महव्वय - जुत्ते अकसाये जिंतिदिये।
से हु दंते सुहं सुयति, णिरुवसग्गे य जीवति ॥५॥

जे ण लुब्भति कामेहिं, छिण्णसोले अणासवे।
सव्व-दुक्ख-पहीणो उ सिद्धे भवति णीरए ॥६॥

अर्थात्—जो पंचमहाव्रतों से युक्त है, कषायरहित और जितेन्द्रिय है,

वही दमनशील साधक सुख से सोता है और उपसर्गरहित जीवन जीता है ॥५॥

जो कामभोगों में लुब्ध नहीं होता, जो छिन्नस्रोत और आस्रवरहित है, वह समस्त दुःखों से मुक्त एवं कर्मरज से रहित होकर सिद्ध (मुक्त) होता है ॥६॥

आत्मशान्ति कौन पा सकता है ? किसका जीवन कष्टों और पीड़ाओं से मुक्त रहता है, तथा दुःखपरम्परा को रोककर समस्त कर्ममुक्त सिद्ध कौन हो सकता है ? इसके उत्तर में प्रस्तुत दोनों गाथाएँ हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच महाव्रत जिसकी आत्मशान्ति की सुरक्षा कर रहे हैं, जिसने इच्छाओं की रस्सी को तोड़ डाला है, जिसकी कषायों की ज्वाला शान्त हो चुकी है, वही आत्मदमनशील साधक सही अर्थों में सुख की नींद सोता है। वासनाजन्य कष्ट उसके जीवन में प्रवेश नहीं पा सकते। जिसे वासना और कामना लुभा नहीं सकती, वही उनके स्रोत को सुखा सकता है और कर्मास्रव को रोक सकता है। जो आस्रवों से रहित है, वही दुःखपरम्परा को सदा के लिए रोक सकता है और वही आत्मा कर्मरज से रहित होकर शाश्वत सिद्ध-स्थिति पा सकता है।

बन्धुओ !

विरोधों और प्रहारों के बीच में साधक की समत्वसाधना तथा उसके ध्येयलक्षी जीवन के विषय में मैं विस्तार से कह चुका हूं। आप सब इस पर मनन करके जीवन बिताएँगे तो आत्मशान्ति को अवश्य ही प्राप्त कर सकेंगे।

□□

३८

कषायों के घेरे में जाग्रत आत्मा

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

अनन्त-अनन्त काल से आत्मा शान्ति की खोज में भटक रहा है, किन्तु शान्ति के लिए किए गये वे सभी प्रयत्न ठंडी हवा पाने के लिए ज्वालामुखी पर्वत पर चढ़ने जैसे हो रहे हैं। हिमालय के बदले ज्वालामुखी को चुनकर शान्ति की आशा कितनी बड़ी मूर्खता है ! दूध को उफनते समय थोड़े-थोड़े पानी के छींटे दे देने और नीचे जलती हुई आग में ईंधन को झोंकते रहने से जैसे दूध का उफान शान्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार आज शान्ति का प्रयत्न हो रहा है। शान्ति के लिए प्रयत्न करने वाला मानव केवल 'ॐ शान्ति' का उच्चारण कर ले किन्तु कषायों को दूर न करे, तब तक शान्ति दूर ही रहेगी।

प्रस्तुत पैंतीसवें अध्ययन में 'अद्दालक अर्हतर्षि' ने शान्ति और मुक्ति के के लिए कषाय-विजय की प्रेरणा देते हुए कहा है—

चउहिं ठाणेहिं खलु भो जीवा कुप्पंता मज्जंता गूहंता लुब्भंता वज्जं समाविधंति।

वज्जं समादित्ता चाउरंत-संसारकतारे पुणो-पुणो अत्ताणं परिविद्धंसंति, तंजहा—कोहेणं, माणेणं, मायाए, लोभेण।

अर्थात्—हे साधक ! इन चार स्थानों से जीव पाप को ग्रहण करते हैं—क्रोध करते हुए, मद करते हुए, छिपाते (माया करते) हुए और लोभ करते हुए।

इन चारों स्थानों (कषायों) से पाप को ग्रहण करते हुए वे जीव चातुर्गतिक संसाररूपी अरण्य में अपनी आत्मा (आत्म गुणों) को बार-बार नष्ट करते हैं। वे चार (पाँच संचयिता) इस प्रकार हैं—क्रोध के द्वारा, मान के द्वारा, माया के द्वारा और लोभ के द्वारा।

वास्तव में क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चारों आत्मा की विभाव परिणतियाँ हैं। आत्मा स्वभाव से हटकर जब इन विभाव परिणतियों में जाता है, तब वह सावद्य (पाप) को ग्रहण करता है। वह सावद्य (पाप) आत्मा को पुन: विभाव की ओर ले जाता है। इस रूप में आत्मा की भव-परम्परा की लता सदैव पल्लवित-पुष्पित रहती है। दशवैकालिक सूत्र (अ. ८ गा. ४०) में कहा गया है—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

'यदि क्रोध और मान निगृहीत नहीं हैं, तथा माया और लोभ बढ़ रहे हैं, तो ये चारों कषाय भवपरम्परा की जड़ों को सींचते रहेंगे।'

चूँकि जन्म-मरण की परम्परा के मूल कर्म हैं और कर्म राग-द्वेष-प्रेरित होते हैं। राग और द्वेष कषाय के अन्तर्गत हैं। स्थूलदृष्टि से क्रोध और मान द्वेष-प्रेरित हैं, जबकि माया और लोभ राग-प्रेरित हैं।

निष्कर्ष यह है कि कषाय चाहे रागरूप हो या द्वेषरूप, अन्ततः ये सभी भव परम्परा की वृद्धि करते हैं।

कषायमुक्ति का राजमार्ग

आत्मिक शान्ति का राजमार्ग कषायों को पराजित करना है। यही कारण है कि अद्दालक अर्हतर्षि स्वयं कषायमुक्ति के मार्ग को ग्रहण करते हुए कहते हैं—

"तेसिं च णं अहं परिघातहेउं अकुप्पंते अमज्जंते अगूहते अलुब्भंते, तिगुत्ते, तिदंड-विरते, णिस्सल्ले, अगारवे, चउविकहविवज्जिए पंचसमिते समिए पंचेन्दिय-संवुडे, सरीर-सधारणट्ठा जोग-सधाणट्ठा, णवकोडि-परिसुद्धं, दस-दोस-विप्पमुक्कं, उग्गमुप्पायण-सुद्धं तत्थ-तत्थ इतरा इतरा कुलेहिं परकडं परणिट्ठितं विगतिंगालं विगतधूमं सत्थातीतं सत्थ-परिणतं, पिंडं सेज्जं उवहिं च एसे भावेमित्ति अद्दालेणं अरहता इसिणा बुइतं।"

अर्थात्—'अब मैं (अद्दालक ऋषि) उन कषायों के प्रतिघात के लिए क्रोध नहीं करता, मद नहीं करता, छल से दूर रहता हूँ और लोभ नहीं करता। तथा त्रिगुप्तियों से गुप्त, त्रिदण्ड से विरत, त्रिशल्य-रहित, त्रिगौरव-रहित, चार विकथाओं से विवर्जित, पाँच समितियों से समित तथा पाँच

इन्द्रियों से संवृत होकर केवल शरीर धारण के लिए, योगों के संधान के लिए नवकोटि परिशुद्ध, दस एषणा दोषों से विप्रमुक्त, सोलह उद्गम और सोलह उत्पाद के दोषों से शुद्ध, यहाँ-वहाँ अन्यान्य कुलों (घरों) से दूसरों के लिए बनाया हुआ, दूसरों के लिए तैयार किया हुआ, अंगार और धूम दोषों से रहित, शस्त्रातीत और शस्त्रपरिणत आहार (पिण्ड), शय्या और उपधि को ग्रहण करता हूं और अपनी आत्मा को भावित करता हूं। इस प्रकार अद्दालक अर्हतर्षि ने कहा।'

कषाय की जड़ों को उखाड़ने के लिये साधक को उन-उन बातों से दूर रहना आवश्यक है, जो उसके कषायों की जड़ों को सींचने वाले हैं। यहाँ अर्हतर्षि ने स्वयं ने उन्हीं बातों को अपनाया है, जो कषायमुक्ति में सहायक हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ को नष्टकरने के लिएक्षमा, विनय, सरलता और निर्लोभता में रत रहना चाहिए।

कषायों को भड़काने वाले मन-वचन-काया योग की आत्मविघाती प्रवृत्तिरूप त्रिदण्ड से माया-निदान-मिथ्यादर्शनरूप तीन शल्यों से, स्त्री-भक्त-राज-देश चार विकथाओं से दूर रहना भी अनिवार्य है। इन्द्रियों पर भी संवर (नियन्त्रण) रखना जरूरी है। अशुभ में प्रवृत्ति एवं शुभ से निवृत्ति न हो, इसलिए तीन गुप्तियों एवं पांच समितियों से युक्त रहना आवश्यक है। देह-धारण करने तथा त्रियोगों से सम्यक् प्रवृत्ति करने हेतु नवकोटि परिशुद्ध तथा ४७ दोषों से रहित शुद्ध निर्दोष आहार ग्रहण करना आवश्यक है जिससे कषायों का उपशमन हो सके। इस प्रकार आहार, शय्या, उपधि आदि दोष रहित ग्रहण करने से भी कषायों की उपशान्ति होती है।

क्रोध-विजय क्यों और कैसे ?

हाँ, तो अर्हतर्षि अद्दालक का कहना है कि जिस प्रकार कषायमुक्ति के लिए मैंने यह मार्ग ग्रहण किया है, उसी मार्ग को दूसरे साधक भी ग्रहण करें। अतः इसी सन्दर्भ में क्रोधविजय के बारे में वे कहते हैं—

> अण्णाण - विप्पमूढप्पा पच्चुप्पण्णाभिधारए।
> कोवं किच्चा महाबाणं अप्पा विंधइ अप्पकं ॥१॥
> मण्णे बाणेण विद्धे तु भवमेक्कं विणिज्जति।
> कोध-बाणेण विद्धे तु णिज्जती भवसंतति ॥२॥

अर्थात्—अज्ञान से घिरा हुआ मूढ़ आत्मा केवल वर्तमान को ही देखता है। वह क्रोध को महाबाण बनाकर उसके द्वारा अपने आपको बींध डालता है ॥१॥

मैं मानता हूं कि बाण से बींधे जाने पर तो एक भव बिगड़ता है, किन्तु क्रोधरूपी बाण से बींधे जाने पर भवपरम्परा ही बिगड़ जाती है ॥२॥

अज्ञानी आत्मा की दृष्टि केवल वर्तमान तक ही सीमित रहती है, वह दूरदर्शी नहीं होता। इसलिए उसके वर्तमान सुख में जरा-सी कमी आते ही या स्वार्थ को ठेस पहुंचते ही उसका क्रोध उबल पड़ता है। जब क्रोध की आंधी आती है तो विवेक का दीपक बुझ जाता है। क्रोध का राक्षस जब प्रवेश करता है, तो विवेक देवता वहाँ उठकर चला जाता है। क्रोध के प्रारम्भ में मूर्खता है और अन्त में पश्चात्ताप।

क्रोधी मानव क्रोधरूपी बाण से दूसरों को तो कदाचित् न बींध सके, पर स्वयं को तो बींध ही लेता है। यदि कोई मनुष्य बाण से बिंधता है तो उसका एक भव बिगड़ता है, क्योंकि वह केवल शरीर को लगता है, शरीर धराशायी हो जाता है और एक जीवन की यात्रा समाप्त हो जाती है। लेकिन क्रोध रूपी बाण तो हजारों भवों को बिगाड़ डालता है। यह क्रोध का ही परिणाम था कि गोशालक ने भगवान् महावीर जैसे पवित्र श्रमण पर तेजोलेश्या फेंककर अपनी भवपरम्परा बढ़ाई। विश्व के महायुद्ध और उनमें होने वाले नरसंहार का इतिहास भी क्रोध की कलम से लिखा गया है। विपाकसूत्र की कथाएँ भी कषाय के कटु परिणामों के स्पष्ट चित्र बता रही हैं। अतः क्रोध पर विजय पाने के लिए क्रोधविजेताओं का—अर्जुनमुनि, गज सुकुमाल मुनि आदि क्षमा के देवताओं को याद करना चाहिए। क्रोध की उपशान्ति के लिए क्रोध के कारण और दुष्परिणाम पर विचार करना भी आवश्यक है।

मानविजय क्यों और कैसे ?

अब मानविजय के विषय में अर्हतर्षि कहते हैं—

अण्णाण - विप्पमूढप्पा पच्चुप्पण्णाभिधारए।
माण किच्चा महाबाणं, अप्पा बिंधइ अप्पकं ॥३॥
मण्णे बाणेण विद्धे तु भवमेकं विणिज्जति।
माणबाणे विद्धे तु, णिज्जती भवसंतति ॥४॥

अज्ञान से घिरा हुआ मूढ आत्मा केवल वर्तमान को ही पकड़कर रखता है। मान को महाबाण बनाकर आत्मा अपने आपको बींध लेता है ॥३॥

बाण से बींधा हुआ व्यक्ति एक ही भव को नष्ट करता है, किन्तु

मान के बाण से बींधा हुआ व्यक्ति अनेक भवों को बिगाड़ता है, ऐसा मैं मानता हूं ॥४॥

अहंकार मानव-मन का नागपाश है, बन्धन है। अहंकार की हवा उसे फुला अवश्य देती है, मगर चैन से नहीं बैठने देती। वह अपने अहंकार के पोषण के लिए लाखों रुपये फूंक देता है, गरीब और निम्न जातियों से वैर बाँध लेता है। अहंकार ज्ञान का सबसे बड़ा अवरोधक है। बाहुबली मुनि के मन में आया हुआ अल्प अहंकार भी उनकी मुक्ति-साधना में सबसे बड़ा बाधक बन गया था।

माया विजय क्यों और कैसे ?

माया विजय क्यों अनिवार्य है ? तथा वह कैसे हो सकती है ? इस विषय में अर्हतर्षि के विचार इस प्रकार हैं—

> **अण्णाण - विप्पमूढप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए।**
> **मायं किच्चा महाबाणं, अप्पा बिंधइ अप्पकं ॥५॥**
> **मण्णे बाणेण विद्धे तु भवमेकं विणिज्जति।**
> **मायाबाणेण विद्धे तु णिज्जती भवसंतति ॥६॥**

अज्ञान के आवरण में रहा हुआ मूढ़ आत्मा वर्तमान को ही पकड़ता है। वह आत्मा माया को महाबाण बनाकर अपने आपको बींध डालता है ॥५॥

दूसरे बाण से बींधे जाने पर एक ही भव नष्ट होता है, किन्तु माया के बाण से बींधा गया व्यक्ति भवपरम्परा को बिगाड़ता है, ऐसा मैं मानता हूं ॥६॥

माया वह दोष है, जो आत्मा को कई कुगतियों और कुयोनियों में भटकाता है। माया करने से तिर्यञ्चयोनि का बन्ध होता है। जीवन की वक्रता शरीर को भी वक्र बना देती है। कुटिलता और दुराव-छिपाव से आत्मालोचना, निन्दना, गर्हणा शुद्ध नहीं होती। आलोचना जैसी पवित्र क्रिया भी माया से दूषित हो जाती है। आगम में बताया है—

'मायी मिच्छादिट्ठी, अमायी सम्मदिट्ठी'

मायाशील आत्मा मिथ्यादृष्टि और माया रहित आत्मा सम्यग्दृष्टि होता है। जैसे डॉक्टर से कपट रखकर कोई भी रोगी स्वस्थ नहीं हो सकता, अध्यापक से छल करके कोई भी विद्यार्थी शिक्षा नहीं पा सकता। वकील से दुराव-छिपाव रखकर कोई भी मुवक्किल मुकदमा जीत नहीं सकता। इसी

प्रकार आलोचना करने में माया कपट रखने से वह अशुद्ध आलोचना निर्जरा (कर्मक्षय) का कारण नहीं बन सकती।

अतः मायाविजय के लिए हृदय में सरलता—निष्कपटता धारण करनी चाहिए। क्योंकि सरल हृदय भूमि में ही धर्म का पौधा लगता है।

लोभ-विजय क्यों और कैसे ?

अब लोभविजय के विषय में अर्हतर्षि अद्दालक कहते हैं—

> **अण्णाण - विप्पमूढप्पा पच्चुप्पण्णाभिधारए।**
> **लोभं किच्चा महाबाणं, अप्पा विंधइ अप्पकं ॥७॥**
> **अण्णे बाणेण विद्धे तु भवमेक विणिज्जति।**
> **लोभ-बाणेण विद्धे तु णिज्जती भवसंतति ॥८॥**

अज्ञान से घिरा हुआ मूढआत्मा केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है। लोभ को महाबाण बनाकर उसके द्वारा आत्मा स्वयं को बींध लेता है ॥७॥

अन्य बाण से बींधा हुआ आत्मा एक भव को ही खोता है, परन्तु लोभ-बाण से बिद्ध व्यक्ति अनेक भवों को खो बैठता है ॥८॥

आगम में कहा गया है—'लोभो सव्वविणासणो'—लोभ समस्त विनाश का हेतु है। वह पाप का बाप है। अतः आत्मार्थी साधक को लोभ का सर्वथा त्याग करना अनिवार्य है। चेडाराजा और कोणिक के बीच हुए महायुद्ध और भीषण नरसहार के पीछे हृदय का लोभ ही तो था। विभिन्न राष्ट्रों में होने वाले खूंखार जंग के पीछे लोभ ही तो बोलता है। संग्रहवृत्ति, तस्करी, कालाबजारी, जमाखोरी, और शोषणवृत्ति के पीछे लोभरूपी महापाप ही काम करता है। अतः लोभवृत्ति को नष्ट करने के लिए सन्तोषवृत्ति धारण करनी चाहिए।

कषायों के विनाश के लिए कतिपय उपाय

· अब अर्हतर्षि कषायों के विनाश के लिए कुछ उपायों का निर्देश करते हुए कहते हैं—

> **तम्हा तेसि विणासाय, सम्ममागम्म-सम्मति।**
> **अप्पं परं च जाणित्ता, चरेऽविसय-गोयरं ॥९॥**
> **जेसु जायते कोधातो, कम्मबंधा महाभया।**
> **ते वत्थू सव्वभावेण, सव्वहा परिवज्जए ॥१०॥**

सत्थं सल्लं विसं जंतं मज्जं वालं दुभासणं ।
वज्जेतो तं निमित्तेणं, दोसेणं ण वि लुप्पति ॥११॥
आत परं च जाणेज्जा सव्वभावेण सव्वधा ।
आयट्ठं च परट्ठं च, पियं जाणे तहेव य ॥१२॥

अर्थात्—अतः साधक कषायों के विनाश के लिए सम्यक् रूप से सन्मति प्राप्त करे तथा स्व-पर का ज्ञान करके अविषयगोचर वातावरण में रहे ॥६॥

जिन वस्तुओं अथवा व्यक्तियों के निमित्त से महाभयकर तथा कर्म-बन्ध के हेतु क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं, उन समस्त वस्तुओं को सर्वतो-भावेन सर्वथा छोड़ दे ॥१०॥

शस्त्र, शल्य, विष, यंत्र, मद्य, सर्प और कटुभाषण से दूर रहने वाला व्यक्ति इनके निमित्त से होने (क्रोधादि) दोषों से लिप्त नहीं होता ॥११॥

साधक 'स्व' और 'पर' का सर्वतोभाव से सर्वथा परिज्ञान करे। साथ ही आत्मार्थ (आत्महित) और परार्थ (परहित) को जाने तथा प्रिय और अप्रिय को भी समझे ॥१२॥

अर्हतर्षि ने इन चार गाथाओं में कषायविजय के उपाय बताये हैं। इनमें **सर्वप्रथम उपाय है**—कषाय के स्वरूप का परिज्ञान। जब साधक कषाय की विघातक शक्ति का ठीक-ठीक बोध प्राप्त कर लेगा, तभी वह उसके विनाश के लिए प्रवृत्त होगा। वह सोचेगा—कषाय मेरी स्वभाव-परिणति नहीं है। वह मेरे निज आत्म-गुणो का विनाशक है। इतना दृढ़ निश्चय होने के बाद साधक कषायरूप विभाव-परिणति को दूर कर सकता है।

दूसरा उपाय है— स्व-पर भेदविज्ञान। किसी वस्तु को पाने और उसके संरक्षण के लिए मनुष्य क्रोधादि करता है। उसके लिए दो प्रकार का चिंतन आवश्यक है—(१) जिस वस्तु को पाने के लिए मैं क्रोधादि कर रहा हूँ, वह स्वद्रव्य है या परद्रव्य ? यह निश्चित है कि आत्मा के अतिरिक्त सभी वस्तुएँ परद्रव्य हैं, फिर पर के लिए इतना आक्रोशादि क्यों ? दूसरी बात है—क्रोधादि के द्वारा हम किसी वस्तु की सुरक्षा कर सकें, यह भी असम्भव है, क्योंकि वस्तु स्वयं विनाशधर्मी है। अशाश्वत को शाश्वत बना देने की शक्ति किसमें है ? अतः इस प्रकार स्व-पर का भेदविज्ञान साधक को कषाय-विजय में बहुत सहायक होगा।

तीसरा उपाय है—स्वपर भेदविज्ञान के साथ आत्म-निरीक्षण करना।

क्रोध आदि का उफान आता है, तब तो विवेकबुद्धि लुप्त हो जाती है, किन्तु उनके उतार के समय साधक आत्म-निरीक्षण करे। प्रायः मानव दूसरे की गलती देखता है, अपनी भूल को नहीं ढूँढ़ता। यदि वह क्रोधादि के क्षणों में अपनी भूल का निरीक्षण जारी रखे तो उसके क्रोध आदि का स्थान पश्चात्ताप और वैराग्य ले लेगा।

कषायों की उपशान्ति का चौथा उपाय यह भी है कि विषयों से साधक विरत हो। विषयों की प्राप्ति एवं रक्षा में घूमने वाला मन प्रिय पदार्थों की प्राप्ति में बाधक के प्रति क्रोधादि करता है। किन्तु विषयो से विरक्ति हो जायगी, तो उसे क्रोधादि आएँगे ही नहीं।

पाँचवा उपाय है—कषायोत्पत्ति में निमित्तों से दूर रहना। यद्यपि पुद्गल जड़ है, उसमें कषायभाव नही है, फिर भी वे पदार्थ कषायोत्पत्ति में निमित्त हो सकते हैं, बशर्ते कि आत्मा में कषायभाव हो। अतः साधक कषाय के उन तमाम निमित्तों से बचता रहे। यद्यपि निमित्तों से बचना बाहरी दवा है, अन्तर् की औषधि तो आत्मा मे कषाय-परिणति का क्षय कर देना है। फिर भी जब तक मोहकर्म क्षय नहीं हो जाता, तब तक कषाय के निमित्तों मे बचते रहना आवश्यक है।

ग्यारहवी गाथा में कषायोत्पादन के निमित्तों का निर्देश किया गया है। उदाहरण के तौर पर—शस्त्र हिंसा का बहुत बड़ा साधन है। क्रोध आदि कषाय आया और पास में शस्त्र है, तो वह शीघ्र ही हिंसा के लिए तैयार हो जायगा। परन्तु यदि आवेश के क्षणों में शस्त्र पास में नहीं है तो वह प्राणघात से बच जायेगा। फिर तो उसका क्रोधादि का तूफान शान्त हो जायगा। इसी प्रकार शल्य, विष, यंत्र, मद्य, सर्प और दुर्वचन आदि कषाय के प्रमुख निमित्त है। आत्म-शान्ति के गवेषक को इनसे सदा बचते रहना चाहिए।

छठा उपाय है—स्वपर-भेदविज्ञान का दृढ़ अभ्यास करना। जब तक इस भेद विज्ञान का दृढ़ विश्वास नहीं होगा, तब तक संघर्षों और उनके कारण उत्पन्न होने वाले कषायों का अन्त नहीं आ सकता। क्योंकि 'पर' में 'स्व' की बुद्धि ही संघर्षों की जड़ है।

सातवां उपाय है—स्वहित और परहित का विवेक। स्वपरहित का अविवेक ही कषायों को भड़काता है। केवल स्वहित को आगे रखकर चलने वाला दूसरों के हितों को कुचलता है, इस प्रकार वह परोक्ष रूप से कषायों की ज्वाला भड़काने का काम करता है। दूसरे का अधिकार छीनकर शान्ति

की बात करना भी अशान्ति की आग को अन्तर् में दबाये रखना है। अतः आत्मार्थ-परार्थ विवेक भी कषायविजय के लिए आवश्यक है।

कषायविजय के अन्य उपाय

कषाय की उत्पत्ति का प्रमुख कारण है – परदोषदर्शन, परनिन्दा अथवा दूसरे की आलोचना। ये तीनों दोष एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। साधक का ध्यान कषायविजय के लिए इन दोषों से दूर रहने की ओर खींचते हुए अर्हतर्षि कहते हैं—

सए गेहे पलित्तम्मि, किं धावसि परातकं ?
सयं गेहं णिरित्ताणं, ततो गच्छे परातकं ॥१३॥
आतट्ठे जागरो होही परट्ठाहिधारए।
आतट्ठो हावए तस्स जो परट्ठाहिधारए ॥१४॥
जइ परो पडिसेवेज्ज पावियं पडिसेवणं।
तुज्झ मोणं करेंतस्स के अट्ठे परिहायति ? ॥१५॥
आतट्ठो णिज्जरायंतो परट्ठो कम्मबंधणं।
अत्ता समाहिकरणं अप्पणो य परस्स य ॥१६॥

अर्थात्—जब अपना घर जल रहा है, तब दूसरे के घर की ओर क्यों दौड़ रहे हो ? स्वयं के घर की ओर जाओ ॥१३॥

आत्मार्थ के लिए जाग्रत रहो, परार्थ को धारण न करो। जो दूसरे के अर्थ (कार्य) को साधने में लग जाता है, वह आत्मार्थ (स्वहित) को खो बैठता है ॥१४॥

यदि दूसरा कोई पाप की प्रतिसेवना कर रहा है, तो तुझे मौन रहने में क्या हानि होती है ॥१५॥

आत्मार्थ (स्वहित) का विचार निर्जरा का कारण बनता है, जबकि (केवल) परार्थ (दूसरे की ओर दृष्टि) कर्मबन्धन का हेतु है। आत्मा ही स्व और पर के लिए समाधि-कारक है ॥१६॥

अर्हतर्षि ने इन चार गाथाओं द्वारा साधक को कषायोत्पादन से बचने के लिए उपाय बताये है—परनिन्दा से दूर रहना, परार्थ में न पड़ना, दूसरों के दोष न देखना आदि।

मनुष्य को दूसरे की आलोचना, निन्दा करने में बहुत रस आता है। दूसरे के दोषों को देखने में उसकी आँखें दौड़ जाती हैं, किन्तु साधक का स्वयं का जो घर जल रहा है, उसकी ओर देखने का उसे अवकाश ही नहीं।

महाकवि सूरदास जी ने ठीक ही कहा है—

अचंभो इन लोगन को आवे।
पगतर जरत न जानत मूरख परघर जाय बुझावे ।।

वह यह नहीं देखता है कि मेरे पैर के नीचे आग जल रही है, परन्तु दूसरे की आग बुझाने में नेता बनकर दौड़ पड़ता है। मनुष्य के दिल में दूसरों के उद्धार के लिए बहुत बड़ी बेचैनी है, पर पहले यह तो सोचें कि आपने अपना उद्धार तो कर लिया है न ? आपका अपना घर तो कहीं आग की लपटों में नहीं है। पहले अपने घर का फैसला करके फिर दूसरे के घर की ओर कदम बढ़ाएँ। साधक को चेतावनी देते हुए अर्हतर्षि कहते हैं— साधक ! तुम पहले अपने कल्याण के लिए जाग्रत बनो। दूसरों की चिन्ताओं से दुबले न बनो। यदि दूसरे की चिन्ताओ में डूबे रहोगे तो अपना हित खो बैठोगे।

चौदहवी गाथा का मतलब यह नहीं है कि साधक स्वार्थी बनकर विश्वहित के दायित्व से भागने लगे, अपने उत्तरदायित्व को भूल जाय। परन्तु इस गाथा का हार्द यह है कि जो दूसरों के उद्धार के लिए चल पड़े हैं, पर जिनका अपना कोई ठिकाना नहीं है, ऐसे साधकों पर यह करारा व्यंग है। दूसरों के उद्धार की फिक्र में आज का साधक साधना का तत्त्व खो बैठा है। उसकी शक्ति का मोड़ पर' को सुधारने में है। पर इस 'पर-सुधार' की दौड़ में उसका अपना घर उजड़ा जा रहा है, दूसरे के कल्याण की चिन्ता में अपना स्वत्व खो बैठा है।

जैन दर्शन का मूलस्वर यह है कि प्रत्येक आत्मा अपने उत्थान-पतन के लिए स्वय उत्तरदायी है। अनन्त तीर्थंकर मिलकर भी अन्य आत्मा के एक भी कर्मप्रदेश को कम नहीं कर सकते। निश्चय की इस भाषा में बहुत बड़ा सत्य निहित है। व्यवहारदृष्टि में दूसरे के विकास के आप निमित्त भले ही बन सकें, किन्तु उसके लिए पहले अपने आपको विशुद्ध बनावें, फिर दूसरे की आत्मा का फैसला करने चलें।

अर्हतर्षि उन आलोचको को बड़ी फटकार बता रहे है— एक व्यक्ति पाप या अनाचार की ओर कदम उठा रहा है, आपकी आँखों ने देख लिया है या कानों ने सुन लिया है, फिर आप उसकी कटु आलोचना करके, उसे बदनाम करने हेतु रस ले-लेकर उसके दोष प्रकट करते हैं, क्या उससे उसका सुधार हो जायगा ? कतई नहीं। उसका सुधार होगा या नहीं, यह तो दूर की बात

है. परन्तु आप तो कषायवश होकर कर्मबन्धन मुफ्त में कर लेंगे। इसलिए अर्हतर्षि कहते हैं कि दूसरे को पापाचरण करते देखकर भी आप मौन रह जाएँगे तो इसमें आपकी क्या हानि हो जाएगी ? सारी दुनिया को सुधारने का ठेका आपने नहीं लिया है। इसके अतिरिक्त उसके पुण्य-पाप की जिम्मेदारी आप पर नहीं है। प्रत्येक आत्मा स्वकृत कर्म भोगता है, परकृत नहीं। फिरआप दूसरे के जीवन की आलोचना, निन्दा करके कौन-सा पुण्य उपार्जन कर रहे हैं ? दशवैकालिक सूत्र में तो स्पष्ट कहा है—

पिट्ठीमंसं न खाएज्जा

पीठ का माँस मत खाओ यानी परनिन्दा या चुगली मत करो। परनिन्दा को नीच गोत्रकर्मबन्ध का हेतु भी बताया है।

आज का साधक प्रायः अपने पापों—दोषों पर पर्दा डालने या स्वयं को उत्कृष्ट बताने के लिए दूसरे साधकों की कटु आलोचना करता है। किन्तु पर की आलोचना आत्मा को विनाश के पथ पर ले जाती है जबकि स्व की आलोचना विकास का—निर्जरा का हेतु है। आत्मार्थी व्यक्ति दूसरे के दोषों के प्रति दृष्टि नहीं रखते। छिद्रान्वेषण वा परदोषदर्शन की वृत्ति साधक को कषाय वृद्धि की ओर ले जाती है। अतः पर की आलोचना से बचो, जो कर्मबन्ध का हेतु है जबकि अपनी आलोचना आत्मिक शान्ति का हेतु बनती है।

कषायचोरों से जाग्रत रहो

अब अर्हतर्षि चारों कषायों को चोर बताकर उनसे जाग्रत रहने का सन्देश देते हुए कहते हैं--

अण्णातपम्मि अट्टालकम्मि कि जग्गिएण वीरस्स ?
णियगम्मि जग्गियव्वं, इमो हु बहुचोरतो गामो ॥१७॥

जग्गाहि मा सुवाहि, मा ते धम्मचरणे पमत्तस्स।
काहिंति बहुचोरा, संजमजोगे हिडाकम्म ॥१८॥

पंचेंदियाइ सण्णा दंडं सल्लाइ गारवा तिण्णि।
बावीसं च परीसहा चोरा चत्तारि य कसाया ॥१९॥

जागरह णरा णिच्चं, मा भे धम्मचरणे पमत्ताणं।
काहिंति बहुचोरा दोग्गतिगमणे हिडाकम्मं ॥२०॥

अण्णायकम्मि अट्टालकम्मि, अम्मांत सोयणिज्जोसि।
णाहिसि वणितो संतो ओसहमुल्लं अविदंतो ॥२१॥

जागरह णरा णिच्चं जागरमाणस्स जागरति सुत्तं ।
जे सुवति न से सुहिते, जागरमाणे सुही होति ॥२२।

जागरंतं मुणिवीरं दोसा वज्जेंति दूरओ।
जलंतं जातवेयं वा चक्खुसा दाहभीरुणो ॥२३॥

अर्थात्—अज्ञात अट्टालिका में सैनिक वीर जागता रहे तो उससे क्या होगा ? स्वयं को ही जागना होगा । क्योंकि यह ग्राम चोरों का है । ॥१७॥

जाग्रत रहो, सोओ मत ! ऐसा न हो कि धर्माचरण में प्रमादी रहने पर तुम्हारे संयमयोग में बहुत से चोर घुसकर लूट-पाट कर लें ॥१८॥

पाँच इन्द्रियां, चार संज्ञा, तीन दण्ड, तीन शल्य, तीन गौरव, बाईस परीषह और चारों कषाय, ये सभी चोर हैं। (इनसे साधक को सावधान रहना चाहिए) ॥१९॥

मनुष्य ! सदा जाग्रत रहो । धर्माचरण में प्रमादी मत बनो । (तुम्हारे आसपास छिपे हुए) ये बहुत से भावचोर कहीं दुर्गतिगमन का निकृष्ट कर्म न कर लें ॥२०॥

इस अज्ञात अट्टालिका में जागता हुआ भी तू शोचनीय है । जैसे कोई निर्धन व्यक्ति घाव हो जाने पर दवा की कीमत न समझकर दवा खरीदने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार तुम भी समझो कि भावजागृति के अभाव में तुम भी वस्तु तत्व को पाने में असमर्थ रहोगे ॥२१॥

मनुष्यो ! सदैव जाग्रत रहो ! जाग्रत रहने वाले का सूत्र (शास्त्र ज्ञान) भी जाग्रत रहता है । जो सोता है, उसके लिए सुख नहीं है । जाग्रत रहने वाला ही सदा सुखी होता है ॥२२॥

जाग्रत वीर मुनि को दोष उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जिस प्रकार जलने से डरने वाले जलती हुई अग्नि को आँखों से देखते ही दूर हट जाते हैं ॥२३॥

प्रस्तुत सात गाथाओं में अर्हतर्षि ने कषायों, इन्द्रियों, मन, वचन, काया, दण्ड आदि को चोर बताकर इनसे सावधान और जाग्रत रहने का निर्देश किया है ।

अज्ञात कोट में घिर जाने पर व्यक्ति को स्वयं भी जाग्रत रहना पड़ता है, वह किसी वीर पहरेदार के भरोसे अपने को नहीं छोड़ सकता । उस मौके पर स्वयं को जागना चाहिए, क्योंकि वह चोरों की नगरी है । यही हाल कषायों आदि के घेरे में घिर जाने पर साधक का है । उसे स्वयं

जागना चाहिए, क्योंकि यह आत्मनिधि के अपहरणकर्ता—कषाय, वासना आदि चोरों की नगरी है। भगवन् महावीर की आत्मा जाग्रत है, किन्तु उनकी जागृति साधक की आत्मा को बचा नही सकती। जब तक स्वय आत्मा की जागृति नही होती, सम्यग्दृष्टि की ज्योति प्राप्त नहीं होती, तब तक कषायों और वासना के तस्करों से दुनिया की कोई भी शक्ति नहीं बचा सकती।

धर्मकार्य आत्मिक जागृति के क्षेत्र हैं। इनमें प्रमाद होने पर तुम्हारी पांचों इन्द्रियाँ, चार सज्ञाएँ, तीन दण्ड, तीन शल्य, तीन गौरव, बाईस परीषह और चार कषाय आदि सभी चोर बनकर तुम्हारे सयम, योग, तप, त्याग आदि आत्मनिधि का अपहरण कर लेंगे। तुम्हारी जरा-सी असावधानी चोरों को रास्ता दे सकती है। आत्मिक साधना के लिए प्रमाद भी बहुत बड़ा लुटेरा है। इसलिए प्रतिक्षण जाग्रत रहो। अन्यथा, इन चोरों से घिर जाने पर आत्मा दुष्कर्म करने लगेगा, फिर उसे दुर्गति का मेहमान बनना पड़ेगा।

जागृति का अर्थ यहां आत्म-जागृति-- भावजागरण है, केवल आँखें खुली रहना ही जागृति नहीं है। भावजागृति का एक अर्थ है—वस्तुस्वरूप का दृढ़ निश्चयात्मक ज्ञान; जिसे गीता में व्यवसायात्मिका बुद्धि कहा है। जब तक वस्तुस्वरूप का दृढ़ निश्चयात्मक ज्ञान न हो, तब तक उसे देख लेना कोई महत्व नही रखता। किसी वनस्पति को देख लेने मात्र से वह औषध के रूप में काम नहीं दे सकती, गुण न जाना जाए, तब तक नागदमनी (विषनाशक बेल) भी केवल जड़ी मात्र है। एक पीड़ित व्यक्ति जिसके शरीर में जगह-जगह घाव हो रहे है, औषधिविक्रेता के पास भी पहुँचता है वह औषधि का मूल्य जानने से पहले ही घबरा जाता है कि मैं निर्धन इस औषधि को कहाँ खरीद सकूँगा ? इस प्रकार औषधियों के भण्डार के पास जाकर भी वह स्वास्थ्य लाभ नही कर सकता। अतः साधक भी वस्तुतत्व का दृढ़ निश्चयात्मक ज्ञान करे, यही भाव-जागृति है, वही भावचोरों की अज्ञात अट्टालिका में रक्षण दे सकती है।

भावजागृति से विशेष लाभ

बाईसवीं—तेईसवीं गाथाओं में अर्हतर्षि ने भावजागृति से साधक को विशिष्ट लाभ की बातें कही हैं। वीतराग प्रभु द्वारा उक्त सूत्र भी उसी के लिए जाग्रत रहता है, यानी प्रकाश दे सकता है, जिस साधक की आत्मा जाग्रत है। वैसे सुत्त तो सुप्त (सुत्त) रहता है, उसे जगाने की आवश्यकता

रहती है। सूत्र को वही जगा सकता है, जो स्वयं जाग्रत हो। जिस साधक की आत्मा जाग्रत नहीं है, उसे सम्यक्शास्त्र भी प्रकाश नहीं दे सकते। स्वप्रकाश के अभाव में परप्रकाश का कोई महत्व नहीं है। अंधे के हाथ में रही हुई हजार पावर की बैटरी वाली टॉर्च भी कोई प्रकाश नही दे सकती, न ही वह कांटों और कंकरों से बचा सकती है, क्योंकि उसके पास स्वतः प्रकाश नहीं है। ठीक इसी प्रकार प्रकाशहीन दृष्टि—अजागृति लेकर आप आगम को टटोलेंगे तो उससे कोई प्रकाश नहीं मिलेगा, किन्तु यदि प्रकाशमयी दृष्टि—जागृति को लेकर चलेंगे तो आगम ही नही, आगमेतर साहित्य भी आपको सम्यक् ज्ञान का प्रकाश देगा। स्वप्रकाशयुक्त साधक के लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत बन जाएगा।

अतः धर्माचरण में सदैव जाग्रत रहो। यही यथार्थ जागृति है। भावजागृति के अभाव में जागता हुआ भी साधक सुप्त है। जो सुप्त है, वह सुखी नहीं है; जाग्रत है, वही सुखी है।

जाग्रत आत्मा के निकट दोष और विकार कभी नहीं फटकते, वे उससे उतने ही डरते हैं, जितना कि एक दाहभीरु जलती हुई आग से डरता है। जिसकी आत्मा जाग्रत है, तप, त्याग, और संयम की जिसमें ज्योति जल रही है, उसके निकट वासना, मिथ्याविश्वास और कषायादि विकारों के जुगनू पहुँच नहीं सकते क्योंकि उसके पास सम्यग्ज्ञान की दीपशिखा सतत प्रज्वलित है। विकार और दोष जानते है कि ऐसे तेजस्वी साधक के निकट पहुँचते ही हम उसके तप-तेज की आग में भस्मीभूत हो जाएँगे।

बन्धुओ !

निष्कर्ष यह है कि साधक को सदैव आत्मजागृति—भावजागृति रखनी चाहिए। जागृति ही उसे मोक्ष के अनन्त सुख तक पहुँचा सकती है।

□

३८

क्रोध की अग्नि : क्षमा का जल

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

कई बार हम देखते हैं कि कोई एक साधक शान्त, एकान्त स्थान में रह रहा है। वातावरण भी शान्त है। कहीं कोई कोलाहल या लड़ाई-झगड़ा नहीं हो रहा है, फिर भी उस साधक के मन में तूफान उठ रहा है, उसका मन शान्त नहीं है। क्या आप जानते हैं कि बाह्य वातावरण शान्त होते हुए भी उसके मन में अशान्ति कहाँ से आई ? आध्यात्मिक महापुरुष कहते हैं कि उसके अन्तर् में क्रोध की आग है। उसी की गर्मी के कारण उसका मस्तिष्क तप जाता है, आँखें लाल हो जाती हैं। कभी-कभी आवेश में आकर शरीर की चेष्टाएँ भी दूसरे को मारने पीटने को उतारू हो जाती है। आत्मा में शुद्ध तेज तो आवश्यक है, यह साधना से—क्षमत्व भाव से प्राप्त होता है, इस तेज में ताप नहीं होता। किन्तु क्रोध की गर्मी विकृत गर्मी है, और वह शरीर में, मन में संताप पैदा करती है। वास्तव में देखा जाय तो नरक की आग की अपेक्षा क्रोध की आग अधिक भयावह है। उस आग में परिवार, समाज और राष्ट्र भी झुलसकर तबाह हो जाता है।

क्रोधी के क्रोध को भड़कायें नहीं, शान्त करें

अतः साधक के जीवन में क्रोध पर विजय पाने की प्रेरणा देते हुए अर्हतर्षि तारायण छत्तीसवें अध्ययन में कह रहे है—

उप्पतता उप्पतता उप्पयंतं पितेण वोच्छामि। किं संतं वोच्छामि ? ण संत वोच्छामि कुक्कुसया, वित्तेण तारायणेण अरहता इसिणा बुइत।

अर्थात्—आध्यात्मिक धन से युक्त अर्हतर्षि तारायण ने कहा—"उग्ररूप से उत्पन्न होने वाले क्रोध से उबलते हुए व्यक्ति को मैं क्या प्रिय वचन बोलूँगा, क्या शान्त वचन कहूंगा, अथवा कुत्सा से कुत्सित होकर (क्रोध से जल भुनकर) कुत्सित वचन कहूंगा ?"

किसी के तीखे शब्द की टक्कर लगते ही क्रोध भभक उठता है। क्रोध के क्षणों में मनुष्य सोचता है कि जिसके प्रति क्रोध आ रहा है, उसको अधिक से अधिक पीड़ा पहुंचाई जाय। इसलिए वह मर्मवेधी शब्दों का अधिक से अधिक प्रयोग करता है। किन्तु सोचना यह है कि क्या आत्मार्थी साधक के लिए यह जरूरी है कि दूसरे क्रोधी को देखकर वह भी क्रोध में उबल पड़े। दूसरे को निर्धन देखकर किसी को निर्धन बनने का स्वप्न नहीं आता, दूसरे को धूल धूसरित देखकर कोई अपने पर धूल नहीं डाल लेता, तब दूसरे क्रोधी को देखकर उसे क्रोध क्यों आ जाता है? क्रोध आ जाता है, इसका मतलब है कि क्रोध उसमें भरा हुआ है। यह तो एक बहाना है कि उसे क्रोधित देखकर गुस्सा आ गया।

दरअसल, साधक को चाहिए कि वह अपनी शान्ति क्रोधी व्यक्ति में जगा दे। यदि दीपक अपने सामने फैले अनन्त अन्धकार को देखकर स्वयं भी अन्धकाररूप हो जाए तो उस दीपक की कीमत ही क्या है? दीपक का महत्व है—अन्धकार में भी अपनी ज्योति को कायम रखना। दूसरे को गुस्से में देखकर यदि साधक ने अपनी शान्ति छोड़ दी तो फिर उसकी शान्ति का क्या मूल्य है? यदि साधक के पास शान्ति की सुधा है तो उसका उपयोग उसे क्रोध के क्षणों में करना चाहिए। मधुर एवं शान्त वचनों के द्वारा उसकी क्रोध की आग को शान्त कर सके, तभी वह साधक सच्चा चिकित्सक हो सकेगा। यदि ज्वरग्रस्त रोगी को देखकर डॉक्टर को ज्वर चढ़ जाय तो हो चुकी उसकी डॉक्टरी! साधक आत्म-निरीक्षण करे कि आवेश के क्षणों में मधुर एवं शान्त वचनों द्वारा उस आग को बुझाई है या कठोर शब्दों द्वारा आग को बढ़ाई है? विचारशील साधक को चाहिए कि गर्म वातावरण में अपने दिल-दिमाग को शान्त रखे, ताकि वह दूसरे के गर्म दिमाग को ठंडा कर सके। यही क्रोध विजय की साधना का पहला पाठ है।

क्रोधी के प्रति क्रोध साधक के लिए कितना हानिकारक है? इसे अर्हतर्षि आगे कहते हैं—

परस्स मम य अन्नेसिं मुक्को कोवो दुहावहो।
तम्हा खलु उप्पतंतं सहसा कोवं णिगिण्हितव्वं ॥१॥

अर्थात्—क्रोधपात्र व्यक्ति के प्रति छोड़ा गया क्रोध मेरे और अन्य व्यक्तियों के लिए दुःखावह होता है। अतः उत्पन्न हुए क्रोध पर सहसा (जल्दी ही) नियन्त्रण (निग्रह) करना चाहिए।

आशय यह है कि क्रोधी व्यक्ति क्रोध करके प्रतिपक्षी को दुःख में डालना चाहता है, इसके लिए क्रोधवश वह तीखे शब्दों द्वारा प्रतिपक्षी के हृदय को बींध डालना चाहता है और जब वह तिलमिला उठता है, तब उसके दिल में प्रसन्नता की लहर दौड़ पड़ती है। अपने प्रतिपक्षी के दुःख में उसे आनन्द आता है। किन्तु यह मानना भ्रम होगा कि क्रोध केवल एक पक्ष को ही दुःखी करता है, किन्तु वह दोनों पक्षों को झुलसाता है। जिसके दिल में क्रोध ने प्रवेश किया है, उसे भी वह चैन से नहीं बैठने देता। उसके मन की शान्ति भी लुप्त हो जाती है। अतः साधक यह न समझे कि क्रोध की आंच तुम्हारे प्रतिपक्षी को ही झुलसाकर रह जायेगी, बल्कि उल्टी हवा चली तो वह बच जायेगा और साधक झुलस कर राख का ढेर हो जायेगा। गोशालक का तेजोलेश्या के रूप में प्रकट हुआ क्रोध महावीर प्रभु को हानि नहीं पहुंचा सका, उल्टे वह उसी के सर्वनाश का कारण बना। अतः साधक को उत्पत्ति के क्षणों में ही क्रोध को रोक देना चाहिए, ताकि वह क्रोध की चिनगारी वहीं बुझ जाय और ज्वाला का रूप न ले।

क्रोध क्या है ? : एक विश्लेषण

अर्हतर्षि तारायण क्रोध की भयंकरता का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—

कोवो अग्गी तमो मच्चू, बिसं वाधी अरी रयो।
जरा हाणी भयं सोगो, मोहं सल्लं पराजयो ॥२॥

अर्थात्—'क्रोध अग्नि है, अन्धकार है, मृत्यु है, विष है। वह व्याधि, शत्रु, रज, जरा, हानि, भय, शोक, मोह, शल्य और पराजय है।'

क्रोध को यहाँ १४ उपमाओं से उपमित किया गया है। क्रोध में आग की ज्वाला, अन्धेरे की विडम्बना है, मृत्यु की विभीषिका है। क्रोध अपने आप में विष और व्याधि है। आत्मा का यह सबसे बड़ा शत्रु है। उसमें बुढ़ापे की-सी दुर्बलता है तो उससे बहुत ही हानियाँ हैं। क्रोध में भय, मोह और शोक भी है। क्योंकि क्रोध के प्रारम्भ में मूढ़ता है और अन्त में पश्चात्ताप है। भय और शोक अज्ञान और मोह के ही पुत्र हैं। क्रोध रज और शल्यरूप भी है, क्योंकि क्रोध कर्मरज को लाता है, तथा वैज्ञानिकों की खोज के अनुसार क्रोध के क्षणों में शरीर से तलवार और बर्छी आदि के आकार के शस्त्र निकलते हैं, इसलिए क्रोध शस्त्ररूप भी है। क्रोधवश मनुष्य प्रतिपक्षी के साथ कपट करके उसे दुःखी करता है, तथा परलोक में जाकर भी

प्रतिपक्षी को दुःखी करने का निदान भी क्रोधवश होता है. क्रोध एक प्रकार का मिथ्यात्व भी है। इसलिए क्रोध त्रिशल्यरूप है। क्रोध साधक जीवन की सबसे बड़ी पराजय भी है। जब साधक की आत्मा का सात्त्विक बल समाप्त हो जाता है, तो वह अपनी दुर्बलता को क्रोध के आवरण में छिपाना चाहता है। परन्तु साधक की दुर्बलता और हार स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो जाती है। विश्व की आधे से अधिक समस्या क्रोध ने ही खड़ी है। इसलिए क्रोध, परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र और विश्व के लिए महाहानिकार है।

साधारण अग्नि से भी क्रोधाग्नि बढ़कर

अग्नि से क्रोध की तुलना करते हुए अर्हतर्षि आगे कहते हैं—

वण्हिणो णो बलं छित्तं कोहग्गिस्स परं बलं।
अप्पा गती तु वण्हिस्स, कोवग्गिस्सामिता गती ॥३॥
सक्का वण्ही णिवारेतुं वारिणा जलितो बहिं।
सव्वोदहि-जलेणावि कोवग्गी दुण्णिवारओ ॥४॥
एक्कं भवं दहे वण्ही दड्ढस्स वि सुहं भवे।
इमं परं च कोवग्गी णिस्संकं दहते भवं ॥५॥
अग्गिणा तु इहं दड्ढा सन्तिमिच्छंति माणवा।
कोहग्गिणा तु दड्ढाणं दुक्खं सति पुणो विहि ॥६॥

अर्थात्—अग्नि का बल महान् है, लेकिन क्रोधानि का बल उससे भी अधिक है। अग्नि की गति तो अल्प है, किन्तु क्रोधाग्नि की गति अमर्यादित है ॥३॥

बाहर की जलती हुई आग पानी से बुझाई जा सकती है, लेकिन क्रोध की आग तो सारे समुद्रों के जल से भी नहीं बुझाई जा सकती ॥४॥

अग्नि केवल एक भव को ही जलाती है, और अग्नि से जला हुआ व्यक्ति बाद में ठीक हो जाता है, पर क्रोधाग्नि तो निःशंक होकर लोक और परलोक दोनों को जलाती है ॥५॥

आग से जलने वाला मानव शान्ति चाहता है, पर क्रोधाग्नि से जले हुए मानव पुनः उस दुःख को निमन्त्रण देते हैं ॥६॥

इन चार गाथाओं में अर्हतर्षि ने क्रोध की तुलना अग्नि से की है। मानव आग से डरता है। उसे कहा जाय कि आग में हाथ डाल दे, तुझे चक्रवर्ती का पद मिलेगा, तो भी वह उसके लिए तैयार नहीं होगा, क्योंकि वह जानता है कि आग मुझे भस्म कर देगी।

अतः आग की शक्ति पर जितना विश्वास है, या जितना उससे डर है उतना क्रोध की शक्ति पर विश्वास नहीं है, न ही क्रोधाग्नि का डर है।

अग्नि सर्वभक्षी कहलाती है, फिर भी उसकी शक्ति सीमित है, क्रोधाग्नि की शक्ति तो उससे भी अधिक है।

अग्नि निकटवर्ती को ही जलाती है, किन्तु क्रोधाग्नि तो निकट और दूरवर्ती सबको जला देती है।

अग्नि की गति सीमित है, जबकि क्रोध की गति असीम है। पानी के निकट पहुंचते की आग की गति रुक जाती है, किन्तु क्रोध की आग को संसार के सारे समुद्र भी मिलकर नहीं बुझा सकते। द्रव्य अग्नि को तो एक बाल्टी पानी से बुझाया जा सकता है, परन्तु भावाग्नि रूप क्रोध जिसमें तन-मन दोनों जल रहे हैं, उस आग में सारा परिवार, समाज और राष्ट्र झुलस रहा है, विश्व तक में उसकी ज्वाला भड़क उठती है, उस क्रोधाग्नि पर बाल्टी भर पानी डाल दिया जाय तो क्या परिणाम आता है ? वह आग और अधिक भड़क उठती है।

द्रव्य-अग्नि तो एक ही भव को जलाती है और जलने वाला भी उपचार के द्वारा स्वस्थ होकर शान्ति का अनुभव करता है, परन्तु क्रोधाग्नि तो न यहाँ शान्त होती है, न वहाँ। इस जन्म की क्रोध की ज्वाला जन्म-जन्म तक साथ जाती है।

आग का जला हुआ आदमी मरहम चाहता है, किन्तु क्रोध से जला हुआ मानव पुनः उसी ज्वाला के पास पहुंचता है। कितना अज्ञान है उस आत्मा में ! जिस चीज को उसने सौ-सौ बार जांचा, देखा, उसकी असफलता पर पछताया फिर उसी का विश्वास करता है।

जीवन में सौ-सौ बार उसने क्रोध का उपयोग किया, पर क्षमा का उपयोग करने में लाचारी बताई। क्षमा के गीत गाए, क्षमाश्रमणों के जय-नाद से आकाश गूंजाया, क्षमा पर बड़े-बड़े भाषण दिये, बड़े-बड़े ग्रन्थ रचे, लेकिन समस्या को सुलझाने के लिए जब क्षमा सामने आई तो उसे बाहर धकेल दिया, और क्रोध को ही भीतर बुला लिया। क्षमा उसके इस व्यवहार पर सिसकती है और क्रोध मुस्कराता है कि मुझे लाख दुत्कारा, पर अब तुम पर मेरा ही शासन है। अतः क्रोधाग्नि से जला हुआ मानव क्षमा को न चाहकर क्रोध को ही पुनः अपनाता है, क्योंकि उसके दिल से अभी तक शैतान गया नहीं। क्रोध को छोड़ने को कोई कहेगा तो वह कदापि छोड़ने को तैयार नहीं होगा।

क्रोध को छोड़ना दुष्कर क्यों ?

मनुष्य क्षमा का महत्त्व जानता हुआ क्रोध को क्यों नहीं छोड़ पाता। इसके लिए तारायण अर्हतर्षि कहते हैं—

सक्का तमो णिवारेत्तुं मणिणा जोतिणा वि वा।
कोवं तमं तु दुज्जेयो संसारे सव्वदेहिणं ॥७॥
सत्तं बुद्धि मती मेधा, गंभीरं सरलत्तणं।
कोहग्गहाभिभूतस्स सव्वं भवति णिप्पभं ॥८॥
गम्भीरमेरु-सारे वि पुव्वं होऊण संजमे।
कोउग्गमरयो धूते असारत्तमतिच्छति ॥९॥

अर्थात्—बाह्य अंधकार का निवारण तो मणि या ज्योति के द्वारा किया जा सकता है, मगर क्रोध का अन्धकार संसार के समस्त देहधारियों के लिये अजेय है ॥७॥

क्रोधरूपी ग्रह से ग्रस्त व्यक्ति के सत्व, बुद्धि, मति, मेधा, गाम्भीर्य और सरलता सभी निष्प्रभ हो जाते हैं ॥८॥

पहले (साधक में) सयम, सुमेरु पर्वत के समान गम्भीर और सारशील रहा हो, परन्तु क्रोधोत्पत्ति की रज से आवृत होकर वह नि सार हो जाता है ॥९॥

छोटा-सा दीपक घर के अन्धकार को दूर कर सकता है, लेकिन क्रोध का अन्धकार ऐसा अन्धकार है, जिसे संसार का कोई भी दीपक दूर नहीं कर सकता। क्रोधरूपी अंधकार पर काबू पाना ससार के समस्त प्राणियों के लिए टेढ़ी खीर है।

क्रोध एक राक्षस है। वह आता है, तो आते ही सारे शरीर और मन मे तूफान मचा देता है। क्रोधरूपी राक्षस आते ही अपना भोजन मांगता है। राक्षस जैसे सत्व चूस लेता है, वैसे ही क्रोधरूपी राक्षस क्रोधकर्ता का सत्व चूस लेता है। उसकी सद्-असद्विवेकशालिनी बुद्धि और प्रतिभा को खा जाता है। उसकी तत्वग्राहिणी प्रज्ञा, वाणी की प्रखरता, गम्भीरता, सरलता और शरीर की कार्यक्षमता को वह मिनटों में चट कर जाता है।

कहते हैं– खटमल का खून लगते ही हीरे की चमक समाप्त हो जाती है, वैसे ही क्रोध का दाग लगते ही दिल और दिमाग की सारी चमक फीकी पड़ जाती है।

आज का मानव घर, परिवार, बाजार और ग्राम-नगर में सर्वत्र दूसरे की जरा सी गलती पर क्रोध का प्रयोग करता है। क्रोध की भाषा में समझाने की भ्रान्ति के कारण क्या गृहस्थों और क्या साधुओं, सब में क्रोध की तालीम घर कर गई है। बालकों को क्षमा का पाठ परीक्षा भर के लिए

रटाया जाता है, मगर उसे सिखाया जाता है—क्रोध करना ही। सर्वत्र क्रोध का ही महाशासन है।

मौत तो शरीर को मारती है, लेकिन क्रोध संयम की मृत्यु है। सुमेरु के समान विशाल और सारशील संयम को क्रोध की नन्हीं-सी चिनगारी मिनटों में भस्म कर डालती है। चण्डकौशिक विषधर के पूर्वजन्म की कहानी इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

क्रोध से लाभ नहीं, हानि ही

अब तारायण अर्हतर्षि क्रोध से होने वाली हानियों को उजागर करते हुए कहते हैं—

> महाविसे वाऽही विसे, चरे दसंकुरोदये।
> चिट्ठे-चिट्ठे स रूसन्ते, णिव्विसत्तमुपागते ॥१०॥
>
> एवं तवोबलत्थे वि णिच्च कोहपरायणे।
> अचिरेणावि कालेण तवोरित्तत्तमिच्छति ॥११॥
>
> गंभीरो वि तवोरासी, जीवाण दुक्खसंचिओ।
> अक्खेविण दवग्गि वा कोवग्गो न दहते खणा ॥१२॥
>
> कोहेण अप्पं डहती परं च, अत्थं च धम्मं च तहेव कामं।
> तिव्वं च वेरंपि करेंति कोधा, अधरं गतिं वा उविंति कोहा ॥१३॥
>
> कोहाविद्धा ण याणति मातरं पितरं गुरुं।
> अधिक्खिवंति साधू य रायाणो देवयाणि य ॥१४॥
>
> कोवमूलं णियच्छंति धणहाणिं बंधणाणि य।
> पिय-विप्पओगे य बहू जम्माइं मरणाणि य ॥१५॥

अर्थात्—जैसे भयंकर महाविषधर सर्प अहकार में आकर वृक्ष को भी डस लेता है, तो उसमे अकुर भी फूटने नहीं देता। अथवा यदि किसी महापुरुष को डसता है, तब उन्हें रोमांच भी नहीं होता, तब वह गुस्से से उत्तेजित होकर रह जाता है, क्योंकि उसका विष वृथा चला गया, अब वह निर्विष बन गया है। उसी प्रकार महान् बलशाली तपस्वी भी यदि क्रोध करता है तो उसका तप समाप्त हो जाता है। १०-११ ॥

गम्भीर तपोराशि, जिसे कि साधक महाकष्टकारी साधना के बाद संचित कर पाता है, क्रोधाग्नि तत्क्षण उसे उसी प्रकार भस्म कर डालती है, जिस प्रकार प्रज्वलित दावाग्नि सूखे लकड़ों को जला डालती है ॥१२॥

क्रोध से आत्मा स्व और पर दोनों को जलाता है; अर्थ, धर्म और काम को भी जला डालता है। क्रोध तीव्र वैर भी कराता है। वस्तुतः क्रोध में आत्मा अधोगति प्राप्त करता है ॥१३॥

क्रोधाविष्ट प्राणी माता-पिता और गुरु को भी नहीं मानते। वे साधु, राजा या देवताओं का भी अपमान कर बैठते हैं ॥१४॥

क्रोध धनहानि और बन्धनों का मूल है। प्रिय-वियोग और अनेक जन्म-मरणों का मूल भी यही है ॥१५॥

क्रोध भयंकर जहरीले साँप के समान है। ऐसा सांप अहंकार के आवेश में आकर किसी वृक्ष को डसता है, लेकिन परिणाम उसे शून्य मिलता है, इससे वह और भी क्रोधित हो उठता है। मगर बाद में तो उसकी विषशक्ति भी नष्ट हो जाती है। अब उसे हर कोई सता सकता है। यही हाल उस तपस्वी साधक का होता है जो जब तब कुपित होकर दूसरे को भस्म करने के लिए क्रोध का उपयोग करता है तो उसका तप और तेज, दोनों समाप्त हो जाते हैं।

गोशालक ने भगवान महावीर को भस्म करने के लिए तेजोलेश्या का प्रयोग किया। परिणाम यह आया कि वह वर्षों की साधना से अर्जित तपःशक्ति खो बैठा। इतना ही नहीं, प्रत्युत उस तेजःशक्ति ने उसी पर प्रत्याक्रमण करके भयकर दाह ज्वर से उसे अशान्त कर डाला, वह तप तेज से हीन हो गया।

क्रोध के प्रारम्भ में मनुष्य अपने में शक्ति से दस गुना बल का अनुभव करता है, किन्तु उसके चले जाने पर शिथिलता महसूस करता है, मानो नशा उतर गया हो।

प्रसिद्ध दार्शनिक 'सौना' ने कहा था—'क्रोध में पहले जोश होता है। शक्ति की अधिकता महसूस होती है, परन्तु उसकी खुमारी उतर जाने पर मनुष्य शराबी भाँति कमजोर हो जाता है।' एक वैज्ञानिक ने यह सिद्ध कर बताया है कि पन्द्रह मिनट के क्रोध में शरीर की उतनी शक्ति क्षीण हो जाती है, जितनी कि नौ घंटे कड़ी मेहनत के बाद होती।

वर्षों की महान् कष्टसाधना से अर्जित तपोराशि को क्रोधरूपी आग क्षण भर में भस्म कर डालती है।

एक मजदूर धूप और भूख की मार सहकर महीने के अन्त में तीस रुपये घर लेकर आया। पत्नी के हाथों में नोट थमाये और स्नान करने चला गया। पत्नी भोजन बनाने के काम में व्यस्त थी। नोट उसने पास में ही

रख दिये। चार साल का नन्हा मुन्ना आया और उसने खेल-खेल में ही नोट उठा लिये और जलते चूल्हे मे डाल दिये। उसकी माँ चिल्लाई, झपट कर नोट निकालने को हुई पर नोट राख हो गए। पति ने नोटो की राख देखी तो उसका गुस्सा सातवें आसमान पर पहुंच गया। उसने क्रोधावेश में आकर बालक को उठाया और चूल्हे में झौंक दिया। वह रोया—चिल्लाया। माँ ने उसे बाहर निकाला, तब तक आग ने उसका काम तमाम कर दिया। पिता जेल में गया, मां वियोग मे खूब रोई। परन्तु अब क्या हो सकता था ? पिता के एक क्षण के क्रोधावेश ने कितने मनोरथो के बाद हुए अपने लाड़ले को खो दिया।

एक जलता हुआ कोयला खुद को जलाता है और उसके निकट जो भी आता है, उसे भी जलाता है। वह जहाँ भी पहुँचता है, वहाँ जो भी उसके निकट आता है, उसे जलाता है। क्रोध की आग भी स्व और पर दोनों को जलाती है। क्रोध की आग में जलता हुआ व्यक्ति अपने सम्पर्क में आने वाले सबकी शान्ति भंग कर देता है। क्रोधित व्यक्ति अपने धर्म, अर्थ और काम तीनों की हानि कर बैठता है। वह क्रोधावेश में आकर कीमती चीजों को तोड़-फोड़ देता है, मोटर, बस आदि को फूंक देता है, राष्ट्रीय संपत्ति जला डालता है, तोड़फोड़ और दंगा करता है। क्रोध से भयकर वैरपरम्परा बढ़ती है। आत्मा नरक आदि अधोगति का मेहमान बनता है।

क्रोध का शैतान जब मानव के दिमाग में प्रविष्ट हो जाता है तो उसकी आँखें मुँद जाती हैं और ओठ खुल जाते हैं। उस समय वह न तो माता को देखता है, न पिता को, और न गुरु को। वह साधु को भी अपमानित कर बैठता है। राजा और देवता का भी क्रोधी तिरस्कार कर बैठता है।

क्रोध अनेक प्रकार की विपत्तियो को न्यौता देता है। क्रोध में धन और जन दोनों की हानि है। क्रोधावेश में आकर बहुत-से युवक घर से भाग कर चले जाते हैं, कई महिलाएँ आत्महत्या कर बैठती हैं। वर्षों की जमी-जमाई नौकरी क्रोध के कारण एक दिन में समाप्त हो जाती है और उफान शान्त होने पर फिर वह नौकरी के लिए चक्कर लगाता है। मनुष्य समझता है कि मैं क्रोध से काम निकाल लूंगा, पर क्रोध से काम बनते नहीं, बिगड़ते जरूर हैं। अपने प्रिय स्वजन पर क्रोध करने से वह घर छोड़कर सदा के लिए चला जाता है। इस प्रकार प्रिय-वियोग, धन-जन का नाश, और जन्म-मरण क्रोध के साथ लगे हुए हैं।

क्रोध का निग्रह साधक के लिए अनिवार्य

अब अन्तिम दो गाथाओं में अर्हतर्षि तारायण क्रोध-निग्रह की अनिवार्यता और उपयोगिता बताते हुए कहते है—

> जेणाभिभूतो जहती तु धम्मं, विद्धंसती जेण कतं च पुण्णं ।
> स तिव्वजोती परमप्पमावो, कोधो महाराज ! णिरुज्झियव्वो ॥१६॥
> हट्ठं करेतीह णिरुज्झमाणो, भासं करेतीह विमुच्चमाणो ।
> हट्ठं च भासं च समिक्ख पण्णे, कोवं णिरुम्भेज्ज सदा जितप्पा ।१७॥

अर्थात्—जिसके द्वारा अभिभूत होकर यह आत्मा धर्म को छोड़ देता है, और जिसके द्वारा किया हुआ पुण्य नष्ट हो जाता है, हे महाराज ! उस तीव्र अग्नि और परम प्रमादरूप क्रोध का निग्रह करना चाहिए ॥१६॥

जो निरोधित किये जाने पर मनुष्य को हृष्ट-तुष्ट करता है, और जिसे छोड़े (प्रकट किये) जाने पर प्रकाश (भड़का) करता है, क्रोध की इन दोनों (हृष्ट और प्रकाशित) गतियों को समझ कर प्रज्ञावान् एवं जितात्मा साधक को दोनों प्रकार के क्रोध का निरोध करना चाहिए ॥१७॥

क्रोध से दो बड़ी हानियाँ हैं, एक तो यह आत्मा के स्वधर्म—क्षमा का नाश करता है। क्षमा आत्मा का स्वधर्म है, क्रोध पर-धर्म है। दूसरे वह उपार्जित पुण्य को समाप्त कर देता है। ये दोनों हानियां स्पष्ट हैं।

आग तीव्र हो जाने पर यदि उसका उपयोग ठीक से न किया जाए तो वह भस्म कर डालती है, इसी प्रकार क्रोधरूपी तीव्र आग का अगर शमन न किया जाए तो वह अनेकों को भस्म कर डालती है। पांच प्रमादों में क्रोध प्रमुख प्रमाद है। प्रमाद के वश तो बड़े-बड़े अनर्थ होते देखे गए हैं। क्रोधरूपी महाप्रमाद से भी भयंकर अनर्थ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अतः क्रोध को उत्पन्न होते ही रोक देना चाहिए। क्रोध के प्रसंग में शान्ति, क्षमा और बोधजनक हास्य का प्रयोग करना चाहिए, ताकि क्रोध की आग के बदले शान्ति और क्षमा का जल वहाँ वहने लगे।

परन्तु क्रोधशमन करने से पहले यह देखना चाहिए कि यह क्रोध प्रकट है या अप्रकट। पहला प्रज्वलित आग है, जबकि दूसरा दबी हुई आग के समान है। क्रोध का एक रूप ऐसा है कि उसकी ज्वालाएँ बाहर फूटती दिखाई देती हैं—दूसरा वह क्रोध है, जिसकी ज्वालाएँ बाहर तो नहीं दिखाई देतीं, लेकिन भीतरही भीतर अनबुझे कोयले की तरह सुलगता रहता है। यह भीतर की आग, बाहर की आग से अधिक भयंकर होती है। बाहर की आग तो

प्रायः दो मिनट में जलकर शान्त हो जाती है, मगर भीतर की आग कब, किस क्षण बिस्फोट करेगी, कहा नही जा सकता।

बाहर के क्रोध को हम उष्ण-युद्ध और भीतर के क्रोध को शीतयुद्ध कह सकते हैं। शीतयुद्ध अधिक भयावह होता है। जैसे—दो व्यक्तियों के बीच झगड़ा हो गया। दोनो ने क्रोधावेश में आकर परस्पर बोलना बंद कर दिया। बाहर से तो क्रोध की ज्वाला शान्त हो गई, ऐसा प्रतीत होता है लेकिन ऐसा नहीं समझना चाहिए। इतना ही हुआ है कि बाहर की ज्वाला भीतर पहुँच गई। साधक को दोनों प्रकार की क्रोधाग्नि को शान्त करके क्रोधजयी बनना चाहिए। तभी वह दूसरों को प्रसन्न और प्रकाशित कर सकता है। वैसे निरुध्यमान रोका या दमन किया हुआ क्रोध मनुष्य को तप्त करता है, और विमुच्यमान बाहर प्रकट किया हुआ क्रोध उसे भस्म करता है, परन्तु दोनों ही प्रकार के ये क्रोध आत्मार्थी साधक के लिए त्याज्य है। सतत जाग्रत रहकर उसे क्रोध को जड़मूल से समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। □

४०

सृष्टि का रहस्य ?

सृष्टि की उत्पत्ति कैसे ?

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! प्रत्येक विचारक साधक के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जिस सृष्टि मे हम रहते है, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई ? कोई दर्शन इस सृष्टि की उत्पत्ति अडे से मानता है, तथा कोई इसे वाराह द्वारा समुद्र से बाहर लाई हुई मानता है। कोई इसे अन्य रूप में मानता है। किन्तु ये समाधान तर्क की कसौटी पर यथार्थ नही टिकते ।

डार्विन द्वारा मान्य विकासात्मक सृष्टि

वर्तमान विज्ञान सृष्टि की उत्पत्ति के लिए विकासवाद को मानता है। विकासवाद का प्रणेता 'डार्विन' कहता है—करोड़ों वर्ष पहले यह पृथ्वी इतनी गर्म थी कि उस पर कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता था। फिर उसकी परत कुछ शीतल हुई तो छोटे जन्तुओं ने जन्म लिया। उनके द्वारा कुछ कीड़े आदि पैदा हुए। फिर उन्होने विकास किया तो बड़े रेंगने वाले प्राणी जन्मे। उन्होंने विकास किया तो चौपाये जानवर जन्मे। उनमें से बौद्धिक पटुता लेकर बन्दर जन्मा और बदरों का विकसित रूप मानव है। यह है—विकासवाद का संक्षिप्त रूप। तर्क यह है कि लाखों करोड़ों वर्षों पूर्व कुछ बंदर मानव बने थे। उसके बाद लाखों की संख्या में जो बंदर थे; उन्होंने विकास क्यों नही किया ? माना कि सब बंदर विकास नहीं कर सकते, तो सौ या हजार वर्ष के बाद एक बंदर को तो मनुष्य के रूप में विकसित होना चाहिए था, फिर मनुष्य का भी कुछ विकास होना चाहिए था, ऐसा भी कुछ नहीं हुआ। अतः डार्विन का यह विकासवाद भी तर्क की तुलना पर यथार्थ नहीं बैठता। हाँ, आत्मा विकास करती है और वह शरीर का चोला बदल कर दूसरा शरीर धारण करके दूसरे रूप में आ सकती है, किन्तु

एक ही जन्म में एक वर्ग का प्राणी विकसित होकर अन्य रूप ले, यह सम्भव नहीं है। प्रस्तुत सैंतीसवें अध्ययन में ब्राह्मण परिव्राजक श्रीगिरि अर्हतर्षि ने सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में चर्चा करते हुए पहले पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है—

सव्वामिण पुरा उदगमासीत्ति सिरिगिरिणा माहण-परिव्वायगेण अरहता इसिणा बुइतं ।

"एत्थ अंडे सतत्ते, एत्थ लोए सभूते। एत्थ सासासे। इयं णे वरुणविहाणे। उभओकाल उभओसञ्झं खीरं णवणीयं मधु-समिधासमाहारं खार संखं च पिंडेत्ता अग्गिहोत्तकुण्डं पडिजागरमाणे विहरिस्सामीति, तम्हा एय सव्व, ति बेमि ।"

अर्थात् 'वह अण्डा आया और फूटा। उससे लोक उत्पन्न हुआ और सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। कोई यह कहते है कि वरुणविधान हमें मान्य नहीं है। वह कहता है --उभयकाल दोनों सन्ध्या को क्षीर, नवनीत (मक्खन), मधु (शहद) और समिधा (लकड़ियाँ), इन सबको एकत्रित करके क्षार और शंख को मिलाकर अग्निहोत्र कुण्ड को प्रतिजाग्रत करता रहूंगा। इसलिये मैं यह सब बोलता हूं।'

वैदिक परम्परा में सृष्टि के विषय में कई मत उस युग मे प्रचलित थे, जिनका उल्लेख सूत्रकृतांगसूत्र (अ. १, उ. ३, गा ५-६-७) में है—

(१) यह लोक देवों ने बनाया है।
(२) यह सृष्टि ब्रह्मा ने बनायी है।
(३) यह सृष्टि ईश्वर द्वारा रचित है।
(४) यह विश्व प्रकृति की कृति है।
(५) कोई इसे स्वभाव से निर्मित मानते हैं।

(६) कुछ महर्षि ऐसा मानते है कि ब्रह्माजी ने सृष्टि रचकर सोचा कि यदि इसी प्रकार सृष्टि का निर्माण ही होता गया तो उसका समावेश कहाँ होगा ? अतः उन्होंने (संहार के लिए) यमदेव का निर्माण किया, फिर माया को रचा, जो लोक का सहार करती है।

यहाँ अर्हतर्षि पूर्वपक्ष के रूप में लोक की उत्पत्ति अण्डे से बताते हैं, महासागर में एक अण्डा तैरता हुआ आया। वह फूटा और दो खंडो में विभक्त हो गया। पहले खण्ड से ऊर्ध्वलोक और निम्नखण्ड से अधोलोक बना। उसी से यह चराचर सृष्टि पैदा हुई। कई कहते हैं कि जल के देव वरुण ने अण्डा भेजा, अण्डा फूटा, दुनिया बाहर आई और श्वास लेने लगी।

विश्व की इस प्रकार से उत्पत्ति मानने वाले अग्निहोत्रों की दैनन्दिनी साधना भी यहाँ बताई गई है।

इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैदिक-परम्परा दिखाकर अब जैनपरम्परा का दिग्दर्शन कराते हुए अर्हर्तर्षि कहते हैं—

'ण वि माया ण कयाति णासि, ण भवति, ण कयाति ण भविस्सति य।'

अर्थात्—यह लोक माया नही है। तथा यह लोक कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, कभी नहीं है, ऐसा भी नहीं है और कभी नहीं रहेगा, ऐसा भी नहीं है।''

आशय यह है कि जैनदर्शन के अनुसार विश्व माया नहीं है, इसे माया मानने पर आत्मा जैसा कोई तत्व नहीं रहता। तब पुण्य, पाप, साधना आदि सभी निष्फल हैं। अतः विश्व सत्य है। वह त्रिकालवर्ती है। वह भूत में था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा। किन्तु, द्रव्यरूप से यह लोक शाश्वत होते हुए भी, पर्यायरूप से प्रतिक्षण बदल रहा है। लोक का सम्पूर्ण नाश मानने पर उसकी उत्पत्ति भी माननी होगी, जोकि तर्कसंगत नहीं है। अतः जैनदर्शन की यह स्पष्ट मान्यता है कि यह विश्व सत् है। सत् उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है और तत्वरूप से ध्रुव रहता है। उसका रूप बदलता है, पर स्वरूप नहीं बदलता।

लोक का प्रस्तुत स्वरूप और साधक का कर्तव्य

लोक का उपर्युक्त स्वरूप जानकर साधक क्या करे? इस विषय में अर्हर्तर्षि कहते हैं--

पडुप्पणमिणं सोच्चा सूरसहगतो गच्छे। जत्थ चेव सूरिये अत्थमेज्जा खेत्तसि वा णिण्णंसि वा, तत्थेव ण पाबुप्पभायाए रयणीए जाव तेयसा जलंते। एवं खलु से कप्पति पातीण वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा पुरतो जुगमेत पेहमाणे आहारीय मेव रीतित्तए।

अर्थ प्रत्युत्पन्न अर्थात् (विश्व के सम्बन्ध में) वर्तमान इस तथ्य को सुनकर साधक सूर्य के साथ गमनागमन करे। जहाँ सूर्य अस्त हो, वहीं रुक जाए, चाहे वहाँ खेत हो या ऊँची-नीची भूमि हो। वहां रात्रि के व्यतीत हो जाने पर प्रभातकाल में तेज से जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होने पर साधक को पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण किसी भी दिशा में युगमात्रभूमि को देखते हुए ईर्या समितिपूर्वक गमन करना कल्पनीय है। उस प्रकार चलने वाला साधक कर्मक्षय करता है।'

साधक लोक-विषयक सत्य को पहचाने और फिर सूर्यविहारी बने।

सूर्योदय होने पर उसका गमन प्रारम्भ हो, और सूर्यास्त होने पर जैसा भी क्षेत्र मिले, वहाँ रुक जाए। रात्रि बीत जाने पर तथा सूर्योदय हो जाने पर ही वह आगे ब ं, क्योंकि साधक प्रकाश का पथिक है। वह प्रकाश द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से अपेक्षित है। द्रव्य से सूर्य का प्रकाश और भाव से ज्ञान का प्रकाश ग्राह्य है।

साथ ही गमनागमन की विधि रह है कि साधक युगमात्र भूमि देखता हुआ चले, ताकि वह जीवादि की विराधना से बच सके। उसके मन में करुणा की धारा बहती रहे। वह सबकी रक्षा करने की कामना को लेकर चले। चलते हुए उसे सावधानी रखने की आवश्यकता है।

जाग्रत साधक ही गृहीत को रिक्त करता है। इसके दो रूप हैं—एक ओर द्रव्य से वह लक्ष्य की दूरी को रिक्त करता हुआ काटता है, दूसरी ओर गृहीत कर्मों को क्षय करता चला जाता है।

बन्धुओ ! साधक को विश्व का स्वरूप समझकर अपनी साधना में गति-प्रगति करना ही कर्मक्षय का कारण है। इसी प्रकार वह लोक के उस पार सिद्धिगति में पहुंच सकता है। □

४१

आत्मनिष्ठ सुख की साधना के मूलमंत्र

अक्षय सुख : यह है या वह ?

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आज दुनिया जिस सुख के पीछे पागल बनी फिर रही है, वह सुख कौन-सा है ? क्या —"Eat, drink and be merry' खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ, यही सुख का सूत्र है ? हम पूछते हैं कि अगर इसे ही सुख कहते है तो जिनके यहाँ प्रतिदिन दावतें उड़ती हैं, जिसके भवन आकाश से बातें कर रहे हैं, जिनके पास कार, टी वी., फ्रीज, आदि एक से एक बढ़कर सुख के साधन है, जिनके यहाँ भोग-विलास और सुख-सुविधा की कोई कमी नहीं है, वे भी अपने अंदर दुःख की आहें भरते दिखाई देते हैं, उन्हें भी रातदिन अपनी धन-सम्पत्ति की, जमीन-जायदाद की, सुख-साधनों की सुरक्षा की तथा आय-करआदि कई करों से निपटने की चिन्ता लगी हुई है, सुखसे नींद नहीं आती। नींद लाने के लिए गोलियाँ खानी पड़ती है, गैस, हार्ट-ट्रबल, ब्लडप्रेशर आदि कई बीमारियाँ लगी हुई हैं। भोजन भी पूरा हजम नहीं होता। क्या यही सुख है, जो बाहर से तो ठाठ-बाट जमाये हुए है और अन्दर दुःख की चिन-गारियों को दबाए हुए है ?

वास्तव में यह सुख नहीं, सुखाभास है। इन्द्रियों और मन को जो विषय प्रिय लगता है, उसे ही भोला मन सुख की संज्ञा दे देता है, और उसी काल्पनिक वैषयिक सुख को पाने के लिए बेतहाशा दौड़ता है। किन्तु वहाँ उसे क्षणिक उत्तेजना और हल्की-सी इच्छापूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता ! उसके पश्चात् फिर वही चिर अतृप्ति, पुनः इच्छा, फिर दौड़, और संघर्ष, तथा दुःख की अनन्त परम्परा !

दूसरा सुख आत्मनिष्ठ है, जो न तो वस्तुनिष्ठ है और न ही इन्द्रिय-विषयजन्य है। उस सुख के पीछे न तो दुःख की चिनगारी है और न ही

सुख के सूर्य के बाद दुःख की कालीरात्रि आने की सम्भावना रहती है। उस आत्मनिष्ठ सुख में प्रेय का नहीं, श्रेय का आग्रह है। वह असीम सुख वस्तु की क्षणिक मधुरिमा मे नही बसता, किन्तु वह आत्मा के निज स्वरूप की प्राप्ति में है। वहाँ राग और मोह से रहित सात्त्विक आनन्द है, पूर्ण तृप्ति है। भगवद्‌गीता (५।२१) में उस आत्मनिष्ठ अक्षय सुख सम्पन्न का लक्षण इस प्रकार दिया है—

बाह्य-स्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्म-योग-युक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

अर्थात्—बाह्य विषयों में आसक्ति-रहित अन्तःकरण वाला पुरुष आत्मा में जिस सुख को प्राप्त करता है, ऐसा ब्रह्मयोग (परमात्मयोग अथवा आत्मस्वरूपरमणयोग) से युक्त आत्मा अक्षय सुख का अनुभव करता है।

प्रस्तुत अड़तीसवें अध्ययन में अर्हतर्षि सातिपुत्र इसी अक्षय सुख का तथा कतिपय सुखाभासों का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—

जं सुहेण सुह लद्धं, अच्चतसुहमेव त।
जं दुहेण दुहं लद्धं, मा मे तेण समागमो॥१॥
सातिपुत्तेण बुद्धेण अरहता इसिणा बुइतं।

अर्थात्—जिस सुख से आत्यन्तिक सुख प्राप्त होता है, वही वास्तविक सुख है; किन्तु जिस सुख से दुःख की प्राप्ति हो, उससे मेरा समागम न हो; ऐसा सातिपुत्र बौद्ध अर्हतर्षि ने कहा।

यहाँ दो प्रकार के सुखों का स्वरूप बताया गया है। एक सुख वह है जो प्रारम्भ में भी मधुर है और अन्त में भी मधुर है।

दूसरा सुख ऐसा है, जो पहले तो मीठा लगता है, परन्तु फिर कड़वा (दुःख से लिप्त) बन जाता है।

भौतिक पदार्थों का या वैषयिक सुख दूसरे प्रकार का है। वह उस मक्खी का सुख है जो शहद देखती है, उसका मिठास देखती है, किन्तु वह यह नहीं देखती कि इसमें गिरने के बाद मेरी क्या हालत होगी?

स्थानांगसूत्र में इस सम्बन्ध में एक चौभंगी बताई गई है—

१. जिसकी आदि में सुख है और अन्त में भी सुख है।

२. जिसकी आदि में सुख है, और अन्त में दुःख है।

३. जिसकी आदि में दुःख है और अन्त में सुख है।

४. जिसकी आदि में भी दुःख है और अन्त में भी दुःख है।

इन चारों भंगों में से प्रथम और तृतीय भंग ग्राह्य है और शेष दो अग्राह्य है।

प्रिय विषयों में सुख और अप्रिय में दुःख की कल्पना करने वाले साधकों की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए अर्हतर्षि सातिपुत्र कहते हैं—

> मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणासणं।
> मणुण्णंसि अगारंसि झाती भिक्खू समाहिए ॥२॥
> अमणुण्णं भोयणं भोच्चा, अमणुण्णं सयणासणं।
> अमणुण्णंसि गेहंसि दुक्खं भिक्खू झियायति ॥३॥
> एवं अणेगवण्णागं तं परिवज्ज पंडिते।
> णण्णत्थ लुब्भई पण्णे एयं बुद्धाण सासणं ॥४॥

अर्थात्—'मनोज्ञ भोजन करके और मनोज्ञ शयनासन पाकर मनोज्ञ भवन में भिक्षु, समाधिपूर्वक ध्यान करता है ॥२॥

अमनोज्ञ भोजन करके और अमनोज्ञ शयनासन पाकर अमनोज्ञ घर में भिक्षु दुःखपूर्वक ध्यान करता है ॥३॥

इस प्रकार का विचार अनेक वर्ण वालों (पचरंगे वस्त्र पहनने वाले साधकों) का है, प्रज्ञाशील पण्डित साधक इस विचार का परित्याग करके कहीं पर भी लुब्ध (आसक्त) नहीं होता; यही बुद्धों (प्रबुद्ध आत्माओं) का शासन (शिक्षण) है ॥४॥

जो भिक्षु मनपसन्द पदार्थों को पाकर सुख का और मन के प्रतिकूल स्थान-भोजनादि पाकर दुःख का अनुभव करता है, वह चाहे किसी भी वेष में, किसी भी सम्प्रदाय में हो, विषयसुखासक्त है। मन के प्रवाह में बहने वाले ऐसे साधक इष्टवियोग-अनिष्टवियोग में शोक की अनुभूति करके अपनी समता की साधना को भंग करते हैं। और इन्द्रिय-विषयनिष्ठ सुख के चक्कर में पड़कर वे दुःख ही पाते हैं। अतः समतायोगी साधक आत्मनिष्ठ अक्षय सुख का ही अनुभव करे। वह इस विषयनिष्ठ सुख-दुःख की गलत विचारधारा को छोड़ दे। और सदैव सामायिकपाठ के इस श्लोक को हृदय में अंकित कर ले—

> दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
> निराकृताशेष-ममत्वबुद्धेः, समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ! ॥३॥

दु:ख हो या सुख हो, शत्रु हो या मित्र वर्ग हो, संयोग हो या वियोग, भवन हो या वन, मिष्ठान्न हो या सूखी रोटी, हे नाथ ! मेरा यह मन इन समस्त वस्तुओं पर से ममत्वबुद्धि का त्याग करके सम हो जाए। अर्थात्—मेरी सब पर समत्वबुद्धि हो ! अर्थात्—मुझे मनोज्ञ वस्तु लुभा न सके और अमनोज्ञ वस्तु के प्रति तिरस्कार न हो।

पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्ति और वचन दोष का त्याग करे

> णाणावण्णेसु सद्देसु सोयपत्तेसु बुद्धिम।
> गेहिं वायपदोसं वा, सम्मं वज्जेज पंडिए ॥५॥
> एवं रूवेसु गंधेसु रसेसु फासेसु अप्पप्पणाफिलावेणं।
> पच जागरओ सुत्ता, अप्पदुक्खस्स कारणा।
> तस्सेव तु विणासाय पण्णे वट्टिज्ज संतयं ॥६॥

अर्थात्—श्रोत्र में प्राप्त नाना वर्णों के शब्दों में आसक्ति (वृद्धि) और वाणी के दोष का बुद्धिमान् पण्डित साधक सदैव सम्यक् प्रकार से त्याग करे ॥५॥

इसी प्रकार रूप, गन्ध, रस और स्पर्शों मे भी साधक को आसक्त नहीं होना चाहिए।

जाग्रत—अप्रमत्त मुनि की पांचों इन्द्रियां अल्पदु:ख का हेतु बनती हैं, किन्तु प्रज्ञाशील साधक को उनके (विषयो के) विनाश के लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥६॥

प्रस्तुत दो गाथाओ में साधक को सुख के सन्दर्भ में इन्द्रिय-विषयों मे अनासक्ति का सन्देश दिया गया है। कान से शब्द टकराते हैं, उन्हें रोका नहीं जा सकता किन्तु मनोज्ञ शब्दों के प्रति आसक्ति भाव को साधक रोक सकता है। इसी प्रकार मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के शुभ पर्याय साधक को प्राप्त हों, उस समय उसे सावधान रहकर मन के भीतर उन्हें प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिए। उनकी प्राप्ति के लिए मन तड़फे नहीं, और उनके वियोग में पलक भीगे नही तो समझना चाहिए, आसक्ति का पाठ साधक ने सीख लिया है। अनासक्ति जल मे रहकर भी जल से निर्लिप्त रहने की कला है। नदी में डुबकी लगाकर भी कोई सूखा निकल आए, तभी चमत्कार है। किनारे पर बैठकर कोई दावा करे कि वह सूखा है तो यह हास्यास्पद होगा। अनासक्ति के अभ्यास से साधक सदैव आत्मनिष्ठ सुख का अनुभव करेगा।

वाणी के दोष हैं—अति बोलना, कठोर बोलना और असमय मे बोलना आदि। उनसे बचने से भी साधक दु:खी नहीं होता। वह शान्ति की

धारा मे अवगाहन कर सकता है। निष्कर्ष यह है कि साधक आसक्ति और वाचालता से बचे।

छठी गाथा में साधक को जागृति का सन्देश दिया गया है। जिस साधक की आत्मा जाग्रत है, वहां इन्द्रियाँ सोई रहती हैं, परन्तु जिसकी इन्द्रियाँ जाग्रत हैं, उसकी आत्मा सुप्त है। जब वनराज जाग्रत होता है, तब उसकी दहाड़ से शृगाल जान लेकर झाड़ियों में दुबक जाते हैं, मृग चौकड़ी भरना भूल जाते हैं, किन्तु जब तक वनराज सोया रहता है, तब तक शृगाल उछल-कूद मचाते हैं, मृग चौकड़ी भरते हैं; ठीक इसी प्रकार जब आत्मा जाग्रत होता है, ज्ञान के प्रकाश को पाता है, तब इन्द्रियों के मृग चौकड़ी भरना भूल जाते हैं। किन्तु जब आत्मा भावनिद्रा में सोया रहता है, तब इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर दौड़ती रहती हैं। जाग्रत रहने वाला आत्मा सदा सुखी रहता है।

व्याधिक्षय या मोहक्षय सुखरूप नहीं

कई लोग स्वस्थता और मोहक्षय आदि को सुखरूप मानते हैं, अर्हतर्षि सातिपुत्र इसका तात्त्विक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए हैं—

> **वाहिक्खयाय दुक्खं वा सुहं वा णाणदेसियं।**
> **मोहक्खयाय एमेव सुहं वा जइ वा सुहं ॥७॥**
>
> **ण दुक्ख ण सुखं वा वि जहाहेतु तिगिच्छति।**
> **तिगिच्छए सु जुत्तस्स दुक्ख वा जइ वा सुहं ॥८॥**
> **मोहक्खए उ जुत्तस्स दुक्ख वा जइ वा सुहं।**
> **मोहक्खए जहाहेउ न दुक्खं न वि वा सुहं ॥९॥**

अर्थात्—व्याधि के क्षय के लिए दुःखरूप या सुखरूप जो औषधियाँ होती हैं, (वैद्य के) ज्ञान से वे उपदिष्ट हैं। इसी प्रकार मोह के क्षय के लिए सुखरूप (या दुःखरूप) जो साधना है, वह भी गुरु से उपदिष्ट है ॥७॥

जिस हेतु को लेकर चिकित्सा की जाती है, वहां सुख भी नहीं है और दुःख भी नहीं है। चिकित्सा में युक्त व्यक्ति (रोगी) को सुख और दुःख हो सकता है ॥८॥

इसी प्रकार मोह-क्षय में युक्त (प्रवृत्त) व्यक्ति को सुख या दुःख हो सकता है, किन्तु मोहक्षय का हेतु सुख और दुःख नहीं है ॥९॥

इन तीनों गाथाओं का परमार्थ यह है कि शरीर में व्याधि है तो

मनुष्य उसे मिटाने के लिए वैद्य की शरण लेता है। वैद्य कड़वी-मीठी जैसी भी औषधि देता है, वह उसे पी जाता है। इसी प्रकार मोहक्षय के लिए साधक को सद्गुरु के निकट जाना पड़ता है। सद्गुरु, जो भी कठोर-सरल साधना बताएँ, उसे अपनाना होता है। तात्पर्य यह है कि व्याधिनाश या मोहनाश दोनों ही अवस्था में वैद्य या गुरु को सुख या दु:ख महसूस नहीं होता है, जो कुछ शरीरजन्य क्षणिक सुख या दुःख महसूस होता है, वह रोगी या मोहनाश के लिए प्रवृत्त साधक को होता है। एक न्यायाधीश अन्य अपराधी को फांसी की सजा देते समय मोह से ग्रसित नहीं होता, किन्तु अपने अपराधी बेटे को सजा देते समय मोह आ जाता है। परन्तु दोनों ही अवस्थाओं में सुख या दुःख न्यायाधीश को महसूस नही होता। किन्तु मोह है वहाँ दु:ख तो है ही।

एक अस्वस्थ व्यक्ति का लक्ष्य होता है—(दवा लेकर) स्वस्थ होना। परन्तु स्वास्थ्य और सुख दोनो भिन्न वस्तुएँ हैं। जो स्वस्थ हो, वह सुखी हो ही, ऐसा एकान्त नहीं है। बहुत-से स्वस्थ व्यक्ति भी चिन्ता, स्वार्थक्षति आदि के कारण दु:खी रहते है।

अथवा रोगी का लक्ष्य सुख या दुःख नही है। उसका लक्ष्य है—स्वस्थ होना, उसके लिए कड़वी या मीठी जैसी भी औषधि होती है, वह लेता है। मोहक्षय की साधना में प्रवृत्त साधक के समक्ष सुख और दुःख आ सकते हैं। कभी मोह रौद्ररूप लेकर आता है। जब मोही व्यक्ति की बात ठुकराई जाती है, तो वह राक्षसीरूप लेकर भी प्रकट होता है। जैसे कि प्रदेशी राजा के सम्मुख सूरिकान्ता रानी के द्वारा मोह का यही रूप आया था। साधना के पथिक के समक्ष मोह मोहिनी का रूप लेकर भी प्रकट होता है, वह भोग की भिक्षा मांगता है। किन्तु साधक को इन दोनो से परे रहना है। उसे सजग रहना है, ताकि मोह का रौद्र और सुन्दर दोनो रूपों का जादू उस पर न चल सके। साधक का लक्ष्य मोह क्षय करके आत्मा का निजरूप प्राप्त करना है, भौतिक सुख-दुःख उसके लक्ष्य नही हो सकते। मोह से विमुक्ति भी अपने-आप में सुखरूप या दुःखरूप नही है। सुख में राग है दु:ख में द्वेष; मोक्ष इन दोनो से परे है। जैसे रोगमुक्त व्यक्ति को हम सुखी या दु:खी न कहकर स्वस्थ कहते है, ठीक इसी प्रकार मोहमुक्त आत्मा स्वस्थ है, निजरूप में स्थित है।

संवेग और निर्वेद : सुखरूप या दुःखरूप

अब प्रश्न यह होता है, कि संवेग और निर्वेद सुखरूप हैं या दुःखरूप ? जैनदर्शन की दृष्टि से अर्हतर्षि ने इसका उत्तर देते हुए कहा—

तुच्छे जणंमि संवेगो, निव्वेदो उत्तमे जणे ।
अत्थि तावीण भावाणं विसेसो उवदेसणं ॥१०॥

सामण्णे गीतणीभाणा, विसेसे मम्मवेहिणी ।
सव्वण्णु-भासिया वाणी णाणावत्थोदयंतरे ॥११॥

सव्व-सत्त-दयो वेसो, णारंभो ण परिग्गही ।
सत्तं तवं दयं चेव, भासंति जिणसत्तमा ॥१२॥

अर्थात्—तुच्छ जन में संवेग रहता है, और उत्तम जन में निर्वेद रहता है। दीनभावों के अस्तित्व में विशेषरूप से (खास) उपदेश दिया जाता है ॥१०॥

सर्वज्ञ-भाषित वाणी नाना अवस्था और उदय (कर्मोदय) के भेद से सामान्य व्यक्ति में गीतरूप बनकर रह जाती है, जबकि विशेष व्यक्ति के मर्म को वेध देती है, अर्थात्—उसके हृदय को स्पर्श कर जाती है। अथवा नाना अवस्था और उदय के अन्तर से वीतराग वाणी सामान्य में गीतरूप होती है और विशेष में मर्मवेधिनी ॥११॥

जिनेश्वरदेव समस्त प्राणियों पर दया, वेश (मुनि के रूप), अनारम्भ अपरिग्रह, सत्त्व—सद्भाव, तप और दया का उपदेश देते हैं ॥१२॥

अनन्त-अनन्त युग से आत्मा गति कर रहा है, उसकी दौड़ भौतिक पदार्थों की ओर हो रही है, जिसका वेग विषम है। और उसकी ऐसी गति-प्रगति दुःख की ओर ले जाती है। किन्तु जब वह स्वात्मोपलब्धि के लिए मोक्षाभिमुख प्रयत्न करता है, तब वही उसका संवेग होता है, जो सुख की ओर ले जाता है। इसी प्रकार विषयों के प्रति अनासक्ति भाव निर्वेद है, वह भी सुख की ओर ले जाता है।

आचार्य सिद्धसेन संवेग और निर्वेद की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—नरकादि गतियों (उनके दुःखों) को देखकर मन में एक प्रकार की भीति पैदा होना संवेग है और विषयों में अनासक्तिभाव निर्वेद है। प्रस्तुत व्याख्या के सन्दर्भ में अर्हतर्षि बता रहे हैं कि तुच्छजनों (अभाव पीड़ितों एवं निर्धनों आदि) में संवेग प्रमुख रहता है, क्योंकि उन्हें भय रहता है कि कहीं हम दुर्गति में न चले जाएँ? पूर्वकृत अशुभ कर्मों के उदय से तो मैं साधनविहीन परिवार में आया, और अब भी यदि अशुभ कर्मों में लिप्त रहा तो पुनः दुर्गति का पथिक बनूँगा। परन्तु जो साधन सम्पन्न हैं, धन-वैभव और भोग-सामग्री की जिनके यहाँ प्रचुरता है, एक दिन वे इन भोगों से ऊब जाते हैं,

उनके मन में विषय-भोगों के प्रति घृणा और विरक्ति हो जाती है, वे इन सबसे अलग होकर निर्जन वन की शीतल शान्ति में आश्रय खोजते हैं।

अतः तुच्छ निःसार मनुष्य में सवेग की बहुलता होती है और उत्तम (उच्च विचारक) मानव में निर्वेद की प्रधानता होती है।

तीर्थंकरों की उपदेश वर्षा तो बादलों की तरह सर्वत्र समानभाव से होती हैं, किन्तु उसके परिणाम में अन्तर आता है, उसका कारण अर्हतर्षि ने ग्यारहवीं गाथा में बताया है। उसका तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ देवो की वाणी सब सुनते हैं। जो केवल श्रवण का माधुर्य पाने के लिए सुनते हैं, उनके लिए वह संगीत बनकर रह जाती है, किन्तु जो विशेष भूमिका में पहुंच चुके हैं, उनके लिए जिनवाणी मर्म-वेधिनी है।

यही कारण है कि गजसुकुमार जैसे भोगप्रधान वातावरण में पले-पुसे व्यक्ति ने तीर्थंकर अरिष्टनेमि की एक ही देशना सुनी तो आत्मा में जागृति की ऐसी लहर आई कि संसार के बन्धन तोड़कर वे चारित्र के महापथ पर चल पड़े। वाणी का प्रभाव व्यक्ति की भूमिका, उपादान और कर्मोदय पर निर्भर है। भूमि शुद्ध होती है तो सामान्य-से बीज और हल्की-सी वर्षा भी काम कर जाती है और भूमि ऊसर है तो न बीज काम करते हैं, और न ही वर्षा कुछ कर सकती है।

उपादान शुद्ध हो, अन्तर् की जागृति हो, तो वाणी के बीज प्रतिफलित होते हैं। यही कारण है कि कुछ भावनाशील श्रोता एक ही प्रवचन सुनकर संसार से विरक्त हो जाते थे। जबकि आजकल प्रवचनो की झड़ी लग जाने पर भी श्रोता भीगते जरूर हैं, किन्तु प्रवचन हॉल से बाहर निकलते ही उनके मन से उसका असर निकल जाता है।

जिस प्रकार पिछली गाथा में बताया है कि तीर्थंकरों के उपदेश का असर किसी पर सवेगरूप होता है, किसी पर निर्वेदरूप मे। उसी प्रकार इस गाथा में तीर्थंकरों के उपदेश का असर कर्णप्रियता के रूप में तथा मर्मवेधीरूप में होता है; यह तो श्रोता की पात्रता और उसकी क्षेत्र विशुद्धि पर निर्भर है।

वीतराग की वाणी सबका हित, सबका विकास और सबके प्रति दया की धारा से ओतप्रोत होती है। जिनेश्वर के शासन में अविकसित एकेन्द्रिय जीवों तक के हित सुरक्षित हैं, षट्कायरक्षा सूचक मुनिवेष भी उन्होंने निर्धारित किया है। षट्कायरक्षक साधकों को आरम्भ-परिग्रह से दूर रहने का सन्देश दिया है। तप सत्य एवं दया भाव के द्वारा आत्मिक शक्ति को जागृत करने

की प्रेरणा उनकी वाणी में है। स्वतत्त्व का अवबोध, 'तप आदि उस स्वरूप-स्थिति तक पहुंचने के सोपान हैं।

फलितार्थ यह है कि संवेग, निर्वेद, जिनभाषित उपदेश या जिनेश्वर का सर्वोदयात्मक उपदेश विषयनिष्ठ सुखों से विरक्त होकर आत्मनिष्ठ सुख के शिखर तक पहुंचने का उपाय है।

आत्मनिष्ठ सुख के लिए वन या आश्रम निवास का औचित्य

अब प्रश्न यह है कि क्या आत्मनिष्ठ सुख की प्राप्ति के लिए वन या आश्रम मे रहना चाहिए या और कोई उपाय है ? इसके समाधान के लिए अर्हर्तर्षि कहते हैं—

दंतिंदियस्स वीरस्स किं रण्णेणास्समेण वा।
जत्थ जत्थेव मोडेज्जा, तं रण्ण सो य अस्समो ॥१३॥
किमुदंतस्स रण्णेण, दंतस्स वा किमस्समे ?
णातिक्कतस्स भेसज्ज, ण वा सत्थस्स भेज्जता ॥१४॥
सुभाव-भावितप्पाणो, सुण्णं रण्ण जणं पि वा।
सव्व एत हि झाणाय, सल्ल-चित्तेव सल्लिणो ॥१५॥
दुहरूवा दुरंतस्स णाणावत्था वसुन्धरा।
कम्मादाणाय सव्वं पि, कामचित्ते व कामिणो ॥१६॥

अर्थात्—जो दमितेन्द्रिय वीर है, उसे अरण्य और आश्रम से क्या प्रयोजन है ? जहाँ-जहाँ मोह का अन्त हो, वही अरण्य है और वही आश्रम है ॥१३॥

इन्द्रिय-विजेता के लिए जंगल क्या और दान्त (दमनशील) व्यक्ति के लिए आश्रम क्या ? अर्थात्—उसके लिए वन और आश्रम दोनों समान हैं। रोग से अतिक्रान्त (मुक्त) के लिए औषध की आवश्यकता नही और शस्त्र के लिए अभेद्यता नहीं, अर्थात्—वह सबको भेद सकता है। अथवा मर्यादाहीन के लिए कोई औषध नही है और स्वस्थ व्यक्ति को भी औषध की आवश्यकता नहीं है ॥१४॥

स्व-भाव से भावित आत्मा के लिए जनशून्य वन और जनयुक्त निवास एक समान है। ये सभी वस्तुएँ उसके लिए उसी तरह धर्मस्थान की निमित्त होती हैं, जिस तरह सशल्य चित्त वाले के लिए आर्त्तध्यान की ॥१५॥

जिस प्रकार कामी व्यक्ति के लिए सारी सृष्टि कामोत्पादक होती है, उसी प्रकार दुरन्त (आर्त्तध्यान से पीड़ित) व्यक्ति के लिए नानारूप में स्थित विराट वसुन्धरा (सृष्टि) दुःखरूप और कर्मादान की हेतु है ॥१६॥

आत्मनिष्ठ सुख की साधना के लिए वन में जाना कोई जरूरी नही है। यदि वन में पहुंचकर भी वृत्तियों पर विजय नही पाई तो वहाँ भी वासना उभर सकती है। वासना का पिपासु वन में आत्मिक सुख शान्ति नहीं पा सकता। जबकि इन्द्रियविजता साधक महलों या भवनो में रहकर भी केवलज्ञान पा सकता है। पर इसका अर्थ यह नही है कि केवल ज्ञान प्राप्ति के लिए महलों में रहना आवश्यक है। अर्हतर्षि अध्यात्म दृष्टि से मार्गदर्शन कर रहे हैं कि स्थान का कोई महत्व नहीं है, महत्व है—मोह-विजय का। जहाँ रहने से मोहरहित मनःस्थिति हो वही रहें, चाहे वह वन हो, आश्रम हो या महल हो। जैनदर्शन कहता है—साधक कहीं भी रहे, अपने स्वभाव में स्थित रहे, निज घर में रहे। आज आत्मा परघर (परभाव) में भटक रहा है, यही तो साधना की विडम्बना है। कविवर बनारसीदासजी कहते हैं—

हम तो कबहुं न निज घर आए।
पर-घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराए।
पर-पद निज-पद मानि मगन ह्वै पर-परिणति लिपटाए॥

मोहदशा ही आत्मा की स्वभाव की (स्व) स्थिति मे पहुंचने में सबसे बड़ी बाधक शक्ति है, उसी को हटाना है। अतः स्थान नही, वृत्तियो को बदलने पर ही आत्मनिष्ठ सुख की प्राप्ति होगी।

वन में जाने मात्र से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जायेगी, यह भ्रान्त धारणा है; क्योंकि जगल में हिमालय जैसी कोई जड़ी-बूटी नही, जो मन को विजय दिला सके। उद्विग्न चित्त वाले व्यक्ति के लिए वन का शान्त वातावरण भी शान्ति नहीं दे सकता। मन में शान्तिधारा बह रही है तो मनोहर वन-स्थली उसमें पवित्रता एवं शान्ति का सचार कर सकती है। अन्यथा दूषित मनोवृत्ति वाले को वनस्थली रोक नहीं सकती। रावण वन से ही सीता का अपहरण करके ले गया था। अतः वन में सभी को आत्म-शान्ति मिल जाती तो सभी वन्य पशु शान्ति के दूत होते।

इसीलिए अर्हतर्षि कहते हैं कि स्व-भाव से जिसकी आत्मा भावित है, वह चाहे सूने वन में है, जनसाधारण में रहे, या स्वर्ण प्रासादों में रहे, सर्वत्र आत्मभाव में लीन हो सकता है, आत्मनिष्ठ सुख पा सकता है। जिसने मन को साध लिया है, उसे भौतिक राग के बंधन बाँध नहीं सकते, वह सबसे अप्रतिबद्ध रहता है। गीता की भाषा में, वह सबमें रहकर भी सबसे

निर्लिप्त रहता है। परभावों से दूर रहकर वह आत्मभाव में स्थित रहता है। वह विश्व में कहीं चला जाय सर्वत्र धर्मध्यान में लीन रहेगा।

विचित्रताओं से भरी इस विशाल सृष्टि में माधुर्य है, किन्तु जिसका मन, स्वार्थ, मोह, आर्त्तध्यान आदि से पीड़ित है, उसके लिए दुःखरूप है। ज्वरग्रस्त व्यक्ति के लिए शीतल-मन्द-सुगन्धित पवन भी कष्टप्रद होता है। वस्तुतः यह सृष्टि अपने आप में न तो सुखरूप है और न ही दुःखरूप। मनुष्य जिस प्रकार की दृष्टि लेकर चलेगा, यह उसी रूप में ढलती हुई दिखाई देगी। वेदना से छटपटाते हुए व्यक्ति को सारी सृष्टि दुःख का सन्देश देती है, जैसे कि कामी के लिए सारी सृष्टि काम की प्रेरणा देती है। अतः दृष्टि बदलते ही सृष्टि बदल जायेगी। सृष्टि को आत्मनिष्ठ सुखरूप बनाने के लिए दृष्टि सम्यक् और पवित्र होनी चाहिए।

सर्वकर्मक्षयंकर तत्त्व ही सर्वदुःखान्तकर

अब अर्हतर्षि उन तत्त्वों का प्रतिपादन करते हैं, जो समस्त कर्मों का क्षय करने में सक्षम हैं—

सम्मत्तं च दयं चेव, णिण्णिदाणो य जो दमो।
तवो जोगो य सव्वो वि सव्वकम्मक्खयकरो॥१७॥

अर्थात्—सम्यक्त्व, दया, निदानरहित दम, संयम, तप और उससे होने वाला समस्त (शुभ) योग, ये सभी कर्मों का क्षय करने वाले है॥१७।

जिसकी दृष्टि सम्यक् हो चुकी है, वह बाहर से हटकर अन्तर् की ओर मुड़ जाता है। उसके अन्तर् में प्राणिमात्र के प्रति आत्मीयता और दया का झरना बहने लगता है। उसकी सर्वसाधनाएँ निदान रहित होती हैं। ऐसे साधक की समस्त शक्ति कर्मक्षय करने में प्रवृत्त हो जाती है। ऐसा ही साधक समस्त दुःखों से रहित होकर आत्मनिष्ठ सुख की पराकाष्ठा पर पहुंच सकता है।

सुख के लिए कौन-सा कार्य करे कौन-सा नहीं

अर्हतर्षि श्रावक की भूमिका पर आरूढ़ व्यक्ति के लिए कार्य-विवेक बताते हुए कहते हैं—

सात्थकं वा वि आरंभं, जाणेज्जा य णिरत्थकं।
पाडिहत्थिस्स जो एतो, तडं घातेति वारणो॥१८॥
जस्स कज्जस्स जो जोगो, साहेतुं जेण पच्चलो।
कज्जं कज्जेति तं सव्वं, कामी वा णग्ग-मुण्डणं॥१९॥

कज्ज-णिव्वत्ति-पाओग्गं, आदेय कज्जकारणं ।
मोक्ख-णिव्वत्ति-पाओग्ग, विण्णेज तु विसेसओ ॥२४॥

अर्थात्– आरम्भ (हिंसात्मक कार्य) सार्थक भी होता है, निरर्थक भी । प्रतिहस्ती के लिए हाथी कभी तट को भी तोड़ देता है ॥१८॥

जो जिस कार्य के लिए योग्य हो, वही उस कार्य को करे, किन्तु जिस कार्य को करने में जिसका सामर्थ्य (या विश्वास) नहीं है, वह उस कार्य को उसी प्रकार छोड़ देता है, जिस प्रकार कामी पुरुष नग्नत्व और मुण्डत्व को छोड़ देता है । १९॥

किसी कार्य की निष्पत्ति (रचना) के लिए उचित कारण अपेक्षित है, जबकि मोक्ष की निष्पत्ति के लिए तो विशेष कारण अपेक्षित है ॥२४॥

जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाने वाला आरम्भ सार्थक आरम्भ है अर्थ दण्ड है; किन्तु जहाँ मनोरंजन आदि के लिए दूसरे प्राणी का उत्पीड़न किया जाता है, वहाँ निरर्थक हिंसा (आरम्भ)—अनर्थदण्ड है । अपध्यान, उपेक्षा और प्रमाद के द्वारा होने वाली हिंसा तथा आवश्यकता से अधिक संग्रह आदि अनर्थदण्ड है ।

अहिंसा का पूर्ण उपासक मुनि तो सार्थक और अनर्थक सभी आरम्भो से विरत रहता है, किन्तु जो स्थूलहिंसा-त्यागी श्रावक है, वह साथक आरम्भ से बच नहीं सकता । अतएव उसके लिए यहां कहा गया है कि वह निरर्थक आरम्भजा हिंसा से बचे । गृहस्थ जीवन का दायित्व निभाते हुए कभी-कभी श्रावक को अन्याय के प्रतीकार के लिए आततायी को दण्ड देना पड़ता है । ऐसे मौके पर वह विरोधी का प्रतीकार करने के लिए हिंसा का आश्रय लेता है तो वह अपनी मर्यादा का भग नहीं करता । उसके निरपराध व्यक्तियों को द्वेषबुद्धि से मारने का त्याग होता है, किन्तु अपराधी को दण्ड देने के लिए वह खुला है । यदि वह अपने इस कर्तव्य से भागता है तो उसकी यह कायरता है, जो मानसिक हिंसा का एक प्रकार है ।

निष्कर्ष यह है कि श्रावक को आत्मनिष्ठ सुख के लिए महारम्भ से हटकर अल्पारम्भ से जीने की कला सीखनी चाहिए ।

साथ ही साधक को अपने बल, उत्साह और साहस के अनुरूप कार्य का चुनाव करना चाहिए । महत्त्वाकांक्षाएँ हों, किन्तु वे अपनी शक्ति और कार्यक्षमता से सन्तुलित हों । पत्थर उठाने की ताकत न हो और पहाड़ उठाने चल पड़े तो परिणाम में निराशा ही मिलेगी । अतः प्रत्येक कार्य के

पूर्व स्वयं की शक्ति, उत्साह, कार्यक्षमता, श्रद्धा, आरोग्य, सहायक, क्षेत्र और काल का विचार करके ही किसी कार्य का प्रारम्भ करना चाहिए। अपनी परिस्थिति का अवलोकन करने के पश्चात् ही आगे कदम रखना चाहिए, ताकि आधे मार्ग से ही वापस न लौटना पड़े। विचारपूर्वक कार्य करने से मानसिक सुख शान्ति भी बनी रहेगी। निराशा, चिन्ता आदि नहीं घेरेगी। साथ ही कार्यसिद्धि के लिए योग्य कारण का विचार करना आवश्यक है। साधन अनुचित है तो साध्य गड़बड़ा जायेगा। मोक्षसाध्य की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शनादि समुचित करण—साधन अपनाने आवश्यक हैं।

किसकी शरण सुखकर ?

अर्हतर्षि अब शरण ग्रहण के विषय मे मार्गदर्शन देते हुए कहते हैं—

जाणेज्जा सरण धीरो, ण कोडि देति दुग्गतो।
ण सीह दप्पिय छेय, णेभ भोज्जा हि जंबुओ ॥२०॥

धीर पुरुष जो शरण दे सकता है, वह अजेय किले से युक्त कोटि (पर्वत-शिखर) भी शरण नही दे सकता। दृप्तसिंह कुशल हाथी को मार नही सकता और शृगाल उसे खा नहीं सकता।

यदि कोई व्यक्ति संकटग्रस्त हो, मरणान्त कष्ट या भय उपस्थित हो, उस समय वह धीर पुरुष की शरण ग्रहण करे। धैर्यशील पुरुष ही शरण दे सकते है। सर्प यदि पीछा कर रहा है तो शक्तिशाली गरुड़ ही बचा सकता है, किन्तु मेंढक की शरण में जाने से क्या वह बचा सकेगा? कदापि नहीं। महापुरुष का जीवन विशाल वृक्ष-सम है, वह दुःख की धूप को अपने पर झेलकर शरण में आये हुए को शीतल छाया प्रदान करते हैं। भगवान् महावीर की शरण लेकर ही चमरेन्द्र प्रथम देवलोक तक पहुंच सका। और उसने शक्रेन्द्र को युद्ध के लिए ललकारा। जब शक्रेन्द्र वज्रज्वालाएँ छोड़ता हुआ उसके प्राण लेने आया तो भगवान् महावीर की शरण ही उसे बचा सकी। भगवती सूत्र (शतक ३) में इस घटना का उल्लेख अंकित है। अतः महापुरुष की शरण ही सुखदायक है।

मुनि अपने वेश एवं रूप के अनुरूप साधना करे

अब अर्हतर्षि मुनिजीवन की साधना के लिए योग्य मार्गदर्शन देते हुए कहते हैं—

वेस-पच्छाण-संबद्धं, संबद्धं वारए सदा।
णाणा-अरतिपाओग्ग णालं धारेति बुद्धिमं ॥२१॥

> बंभचारी जति कुद्धो, वज्जेज्ज मोह-दीवणं ।
> ण मूढस्स तु वाहस्स मिगे अप्पेति सायक ।।२२।।
> पच्छाण चेव रूवं च णिच्छमि विभावए ।
> किमत्थ गायते वाहो तुण्हिका वावि पक्खिता ।।२३।।

अर्थात्—वेश-प्रच्छादन अर्थात् - मुनि के वस्त्रादि से आच्छादित मुनिभाव से विरुद्ध क्रियाओं को रोकता हुआ, वह मिथ्यात्वादि-क्रियाओ से असम्बद्ध रहे। बुद्धिमान् साधक के लिए अरतिप्रायोग्य (आसक्ति विरोधी) वस्तुएँ (मुनिवेष-उपकरणादि) धारण करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसे मुनिभाव से विरुद्ध क्रियाओ से भी बचना आवश्यक है ।।२१।।

ब्रह्मचारी यति क्रुद्ध होकर भी मोहोद्दीपक वस्तुओ का परित्याग करे, क्योंकि मूर्ख शिकारी के बाण मृग को वेध नही सकते ।।२२।।

मुनि वेश और रूप का निश्चयतः विचार करे। व्याध क्यो गाता है और पक्षी चुप क्यों हैं ? ।।२३।।

प्रज्ञाशील साधक संसार की कामना-वासना से मुक्त होता है, अतः उसे अब अन्तर् की साधना तेजस्वी बनानी चाहिए। मुनित्व की उज्ज्वल साधना के लिए केवल मुनिवेश, उपकरण आदि ही पर्याप्त नहीं है, वेषपरिवर्तन के साथ हृदय-परिवर्तन भी अनिवार्य है। आज मुनिवेश को ही मुनित्व समझा जाता है। यह केवल वेश पूजा है। मुनिवेश मे रहा हुआ मुनि वेशरक्षा के साथ-साथ अपने आन्तरिक मुनि-जीवन की रक्षा के लिए सदैव कटिबद्ध रहे। साधक की वृत्ति-प्रवृत्ति मुनिभाव को क्षत-विक्षित न कर सके, इसके लिए सयमविरुद्ध किसी भी विचार और आचार को वह प्रश्रय न दे।

ब्रह्मचारी साधु कभी कुपित न हो, क्योंकि क्रोध आत्मा की विभाव परिणति है—स्वभाव नहीं। कदाचित् क्रोध आ जाय तो भी वह क्रोध के पागलपन मे मोह को उत्तेजित करने वाला कार्य न कर बैठे। क्रोध में आकर मनुष्य संथारा करने को उतारू हो जाय तो यह दुष्प्रत्याख्यान है, यह ज्ञान-प्रेरित त्याग नही, किन्तु आवेशवश किया हुआ है। मोह के कीचड़ में फँस कर साधक अपनी साधना को उसी प्रकार व्यर्थ नष्ट कर देता है, जैसे—मूर्ख शिकारी अपने बाणों को। मोहशील साधक की निर्वाण-साधना लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाती है।

इसके साथ साधक अपना अन्तर्निरीक्षण भी करे कि मेरे मुनिवेष में और उसके रूप यानी मुनिभाव में कहाँ तक साहचर्य है ? वह केवल स्थूल-द्रष्टा बनकर ही अपने माने हुए ऊपरी गज से जीवन को न मापे; अपितु

भीतर की गहराई में प्रवेश करे। वह यह देखे कि मुनिवेश के साथ मुनित्व है या नहीं ? कोरी वेशपूजा अनाचार-परम्परा बढ़ाती है। वह साम्प्रदायिक बुद्धि, कट्टरता, अन्धश्रद्धा को बढ़ावा देती है। व्यक्तिपूजा एवं वेशपूजा दोनों ही साम्प्रदायिकता के दो स्तम्भ हैं। इसमें गुणपूजा को तिलांजलि दे दी जाती है। अतः अर्हतर्षि वेशप्रतिष्ठा के स्थान पर गुणप्रतिष्ठा को विकसित करने की प्रेरणा दे रहे हैं। यही आत्मसुख का राजमार्ग है।

आकाशचारी चिड़िया भी व्यक्ति के बाह्यवेश को नहीं, अन्तर् को परख लेती है। शिकारी जब गाता है तो वह चिड़िया चुप हो जाती है। शिकारी के संगीत पर वह मुग्ध नहीं होती, किन्तु उसकी हिंसात्मक भावना को जान लेती है। इसी तरह श्रावक भी साधु के वेश और बाह्य साधना को, तथा मैले वस्त्रों को आचारनिष्ठा एवं क्रियापात्रता न समझे। वह वेश और रूप को नहीं, साधना और गुण को देखे-परखे।

मायाचारी, दम्भी और मधुरभाषी से दूर रहे

साधक कई बार विशाल परिवार में स्वयं को विशुद्ध संयमी समझ लेता है, परन्तु वह कितने गहरे पानी में है ? इसे देखते-परखते रहना चाहिए। इसी सन्दर्भ में वे कहते है—

परिवारे चेव वेसे य भावितं तु विभावए।
परिवारे वि गभीरे, ण राया णीलजबुओ ॥२५॥
अत्थादाइ जणं जाणे, णाणाचित्ताणुभासकं।
अत्थादाईण वीसगे, पासतस्स अत्थसतति ॥२६॥
डभ-कप्प कसिसम, णियच्छम्मि विभावए।
णिखिलामोसा कारित्तु, उवचारम्मि परिच्छती ॥२७॥
सव्वभावे वुब्बल जाणे, णाणा-वण्णाणुभासकं।
पुप्फादाणे सुणन्दा वा पवकारघर गता ॥२८॥
दव्वे खेरो य काले य, सव्वभावे य सव्वधा।
सव्वेसिं लिंगजीवाण, भावण तु विहावए ॥२९॥

अर्थात्– परिवार (सम्प्रदाय के टोले) में हो या मुनिवेश में, भावित आत्मा ही विशिष्ट भावदशा पा सकती है। विशाल परिवार में होने पर भी नील शृगाल राजा नहीं हो सकता ॥२५॥

अर्थ (धन) का लोभी व्यक्ति नानाविधरूप में चित्ताहारी मधुरभाषा-भाषी समझना चाहिए। अथवा अधिक मधुरभाषी को अर्थाभिलाषी समझना

चाहिए और उसकी अर्थपरम्परा को देखकर लोभी व्यक्ति से दूर रहना ही श्रेष्ठ है ॥२६॥

दम्भपूर्ण आचरण अवश्य ही सिंह के चमड़े से आवृत गीदड़ के समान समझना चाहिए। सम्पूर्ण रूप से असत्याचार सेवन करने वाला उपचार से परखा जाता है ॥२७॥

मनुष्य का स्वभाव बहुत दुर्बल होता है। वह अनेक वर्ण (रूप) का आभास देता है। पुष्प लेने के लिए सुनन्दा प्लवकार (नाव बनाने वाले) के घर गई ॥२८॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा सभी भावों और सभी लिंगो के द्वारा जीवों की भावना को सब तरह से समझना चाहिए ॥२९॥

यहाँ अर्हतर्षि साधक को अपनी साधना की सुरक्षा के लिए कुछ तथ्यों का निर्देश दे रहे हैं। कोई साधक अपनी जमात में रहता हो या मुनि-वेश में, किन्तु भावित आत्मा ही वास्तविक साधक-दशा पा सकती है। मुनि यदि अपने समुदाय में रहता है, इतने से ही वह महान साधक नहीं हो जाता। विशाल शिष्य परिवार में भी कई पोलें चलती है। अतः विशाल परिवार पर से किसी की साधना को नापना गलत होगा। इसी तरह मुनि-वेश को मुनित्व-साधना न समझ ले। मुनिवेश में भी विपथगामी आत्माएं मिल सकती है। अतः मुनिवेश या जमात को संयम का प्रतीक मानना गंभीर भूल है।

बहुत से शृगाल परिवार से घिरा हुआ और नीले रंग मे रगा हुआ शृगाल राजा नही माना जा सकता।

एक शृगाल नगर में आया। वहां कपड़े मे नील देने की धोबी की कुण्डी में गिर गया। इससे वह नीले रग से रग गया। अपने विचित्र नीले रंग के कारण उसने स्वयं को वन का राजा घोषित कर दिया। वन-पशुओ की विशाल सभा जुड़वा कर बैठा हुआ था, तभी वहाँ वनराज (सिह) के आ जाने मे उसकी सारी पोल खुल गई।

अतः साधना के पथ मे वेष नही, आत्मा को बदलने की जरूरत है। आत्मस्थिति बदल गई तो वेष न बदलने पर भी मुक्ति में कोई बाधा नहीं आयगी।

इसके अतिरिक्त साधु अन्दर और बाहर मे एक-सरीखा होना चाहिए। अन्तर् और बाह्य में वैषम्य होने पर साधक का जीवन दंभी हो जायेगा। दम्भी साधक उस शृगाल जैसा है, जो सिंह की खाल पहनकर घूमता है, या पशुओं का राजा होने का स्वप्न देखता है, किन्तु जिस क्षण वह बोलता है, या चेष्टा करता है, उस क्षण उसकी कलई खुल जाती है। इसी प्रकार मुनि

के वेश में घूमने वाले मिथ्याचारी व्यक्ति जनता के समक्ष अपने आपको महान् पहुंचे हुए संत सिद्ध करना चाहते हैं। मैले वस्त्र, बाह्य क्रियाकाण्ड और दूसरों को शिथिलाचारी बताना, और स्वय को दृढ़ाचारी एवं क्रिया-पात्र सिद्ध करना; ये हैं उनके बाह्य प्रदर्शन, जिसके चक्कर में पड़कर भोली-भाली स्थूलदर्शी जनता उन्हें महान् मान लेती है। उनका भीतरी रूप कुछ और होता है, बाहरी रूप कुछ और।

किसी के विषय में सहसा निर्णय न करें

परन्तु यह जरूर है कि मनुष्य का स्वभाव बड़ा विचित्र है। अभी-अभी वह सुन्दर रूप में है, अगले क्षण उसका क्या रूप होगा, कुछ कहा नही जा सकता। राजगृह का रोहिणेय चोर एक दिन भगवान् महावीर के चरणों में सन्त हो गया था। एक समय की गणिका कोशा कामविजेता स्थूलभद्र के निमित्त से श्राविका बन गई थी। उसी कोशा के रूपपाश में बंधे विलासी कुमार स्थूलभद्र एक दिन कामविजेता महान् सन्त स्थूलभद्र बन गया था। वह कोशा की चित्रशाला मे रहकर भी अलिप्त रहा।

इसलिए जैनदर्शन कहता है कि किसी के वर्तमान रूप को देखकर उसके जीवन के विषय में कोई धारणा मत बनाओ, कोई भी निर्णय मत करो। उस पर घृणा न बरसाओ। सम्भव है, वह एक दिन महान् सन्त बन सकता है। और उसके आलोचक उससे भी नीची भूमिका में जा सकते है। अर्जुनमाली के रूप में राक्षस बना हुआ मानव एक दिन भगवान् महावीर के चरणो में महान सत बन जाता है, और अद्भुत क्षमाधारी बनकर सात ही महीनों मे अपने समस्त कर्मों को काटकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। जिससे लोग घृणा करते थे, आज उसी के लिए देवगण दौड़े आ रहे हैं। अतः व्यक्ति किस क्षण बदल जायेगा, कहा नही जा सकता। कई व्यक्ति स्वभाव से बड़े दुर्बल होते हैं। वह कभी किसी बात को स्वीकार करते हैं, दूसरे क्षण इन्कार भी कर देते हैं।

हर व्यक्ति की परिस्थिति, भावना, शक्ति, कार्यक्षमता, उत्साह, श्रद्धा आदि भिन्न-भिन्न होती है। इस विराट विश्व मे अनन्त अनन्त आत्माएँ हैं, सबका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव पृथक् पृथक् है। साधक विवेकपूर्वक सबको समझने की कोशिश करे। एक-सा अपराध होने पर भी अपराधी की मनोवृत्ति, परिस्थिति, भावना आदि देखकर दण्ड दिया जाता है। आगम के साधकों के लिए दर्पिका और कल्पिका ये दो मुख्य दोष विधियाँ बताई गई हैं। उसके अनुसार दण्ड विधान है। अतः किसी भी व्यक्ति के लिए सहसा अच्छा या बुरा निर्णय न दो। उसकी भावना, परिस्थिति आदि को समझो। यही आत्मनिष्ठ सुख में सहायक होगा। □

४२

पापकर्म से विरक्ति

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आस्तिक दर्शनों में पाप और पुण्य का कथन बार-बार आता है। वे मनुष्य के लिए पाप का निषेध और पुण्य का विधान करते हैं। परन्तु पाप क्या है ? व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से पाप का अर्थ होता है—

'पातयत्यधः नरकादिषु आत्मानमिति पापम्'

जो आत्मा को नीचे गिराये, अधःपतन करे वह पाप है।

कुछ लोग कहते हैं–मनुष्य जानबूझकर पाप नही करता वह परिस्थिति से प्रेरित होकर जो कार्य करता है, दुनिया उसे पाप की संज्ञा दे देती है। परन्तु तर्क की कसौटी पर कसने पर यह ठीक नही उतरता। एक शराबी या मांसाहारी भी यह कह सकता है, मै भी परिस्थितिवश शराब पीता हू। मासाहार भी परिस्थितिवश करना पड़ता है। परन्तु मनुष्य क्या परिस्थितियों का गुलाम बनकर आया है ? नहीं, परिस्थतियो पर विजय प्राप्त करने मे ही पुरुष का पौरुष है। वह परिस्थतियों का दास नही, उनका निर्माता-विधाता है।

मनुष्य जब अपने शुभ संकल्प से विचलित हो जाता है, तभी उसे अशुभधारा अपने प्रवाह में बहा ले जाती है, वही पाप है। अगर मनुष्य उसी समय दृढ़तापूर्वक अशुभ की ओर जाने वाले मन को रोक दे, पाप के लिए साफ इन्कार कर दे तो कोई कारण नही कि पाप उसे घसीट ले जाये। मानव पाप से अपने आप को बचाता है। तो वह इन्कार उसे हजार आपत्तियों से बचाता है। इसलिए मनुष्य में 'हाँ' की जगह 'ना' कहने की हिम्मत होनी चाहिए। बालक की तरह निष्पाप रहे तो वह पाप के स्थान पर भी पुण्यशील रह सकता है। प्रस्तुत उनचालीसवें अध्ययन में अर्हतर्षि संजय पाप से विरक्ति का उपदेश देते हुए कहते हैं—

जे इमं पावकं कम्मं, णेव कुज्जा ण कारवे।
देवा वि तं णमंसति, धितिमं दित्ततेजसं ॥१॥

'जो व्यक्ति इस पापकर्म को स्वयं नहीं करता, न ही दूसरों से करवाता है। उस धृतिमान दीप्त-तेजस्वी को देवता भी नमस्कार करते हैं।'

साधक को पापकर्मों से सदैव दूर रहना चाहिए। कई बार पापी लोग अपनी परम्परा निभाने के लिए अपने पुत्र को बार-बार उसी पाप को करने के लिए प्रेरित करते है, जैसे रोहिणेय चोर को उसके पिता लोहखुर ने चोरी न छोड़ने और साधु के शब्द न सुनने की सलाह दी थी। इसी प्रकार कालसौकरिक कसाई ने तथा उसके परिवार ने भी उसके पुत्र को कसाईकर्म करने के लिए प्रेरित किया था, परन्तु जो व्यक्ति अपने संकल्प पर दृढ़ रहता है, उसे कोई भी बलात् पाप की ओर नहीं घसीट सकता। जो व्यक्ति स्वयं दृढ़ रहकर पाप-परिणति में लिप्त नहीं होता, और न ही अन्य व्यक्ति को उस ओर प्रेरित करता है। ऐसा निष्पाप साधक दिव्य तेज से आलोकित रहता है। अहिंसा और करुणा की सौम्य भावधारा उसके मुख पर अठखेलियाँ करती है। इसीलिए देवगण भी उसके चरणों में आ झुकते हैं।

यद्यपि भौतिक वैभव में देवगण मानव की अपेक्षा बहुत आगे हैं, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में तो मानव से बहुत पीछे हैं। सर्वार्थसिद्ध के वैमानिक देव तैंतीस सागर पर्यन्त प्रयत्न करे तब भी केवलज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते जबकि मानव का पुरुषार्थ सही दिशा में गति करे तो ४८ मिनट में ही केवलज्ञान पा सकता है। मोक्ष की सिद्धि मानव बहुत अल्प क्षणों में कर सकता है, जबकि देव या नारक या अन्य गति के प्राणी हजार प्रयत्न करने पर भी मोक्ष नहीं पा सकते। कहना चाहिए कि भौतिक वैभव की दृष्टि से महान् देवगण भी आध्यात्मिक वैभव मे आगे बढ़े हुए मनुष्य के चरणों में झुकते हैं।

पाप अन्धकार की ओर पुण्य प्रकाश की ओर ले जाता है

आगे अर्हतर्षि संजय पाप और पुण्य के परिणामों की चर्चा करते हुए कहते हैं—

> **जे णरे कुव्वती पाव, अंधकार महं करे।**
> **अणवज्ज पंडिते किच्चा, आदिच्चेव पभासती ॥२॥**

'जो मानव पापकर्म करता है, वह अन्धकार फैलाता है, जबकि पण्डित पुरुष अनवद्य कर्म करता हुआ सूर्य की भाँति प्रकाशित होता है।'

वास्तव में पाप स्वयं अन्धकार में होता है। महात्मा गाँधी ने कहा था—पापकर्म को अंधेरे की जरूरत होती है। पाप और पुण्य की परिभाषा करते हुए एक विचारक ने कहा है—

'प्रच्छन्नं पापम्, प्रकटं पुण्यम्'

जो भी छिपकर होता है, वह पाप है और जो प्रकट होता है, वह पुण्य है। मनुष्य सुरापान, व्यभिचार, स्वामिद्रोह परस्त्रीगमन, चोरी, स्त्रीवध या बालवध आदि पाप प्रायः छिपकर करता है, किन्तु दान परोपकार धर्माचरण, दया आदि धर्म या पुण्य प्रकट में करता है। पापाचरण का कोई भी ढिंढोरा नहीं पीटता; बल्कि उसे छिपाता है, परन्तु पुण्यकर्म या धर्माचरण का प्रायः ढिंढोरा पीटता है। किन्तु एक बात निश्चित है, कि ज्यों-ज्यों मनुष्य पाप को छिपाता है, त्यों-त्यों उसके मन में अज्ञानान्धकार बढ़ता जाता है। शंख स्मृति में कहा है—

कृत्वा पापं न गूहेत, गूहमानं विवर्धते।

पापकर्म करके उसे छिपाओ मत। छिपाया हुआ पाप बढ़ता जाता है।

जो व्यक्ति प्रकाशपथ प्राप्त कर चुका है, वह प्रज्ञाशील पुरुष निष्पाप जीवन बिता कर पुण्यप्रभा से आलोकित होता है और विश्व में सूर्य की भांति प्रकाश की किरण देता है।

कदाचित् पाप हो जाय तो पुनः उस पाप को न करे

कदाचित् मोहवश साधक से पाप हो जाय तो क्या करना चाहिए? इस विषय में अर्हतर्षि संजय मार्गदर्शन देते हैं—

सिया पावं सइ कुज्जा, ण तं कुज्जा पुणो पुणो।
णाणि कम्मं च णं कुज्जा, साधुकम्मं वियाणिया ॥३॥

'कदाचित् (मोहवश) एक बार पाप हो जाय, तब भी साधक उस पाप को पुनःपुनः न करे। ज्ञानी पुरुष श्रेष्ठ कार्यों को समझ कर सदैव उन्हीं को करने में रत रहे।'

अर्हतर्षि इसी तथ्य का विश्लेषण करते हुए कहते हैं। उनके कथन का भावार्थ इस प्रकार है—

'कदाचित् पापकर्म हो जाय तो पुनः-पुनः उसका आचरण करके उसका समूह न बनाए, जिससे उस साधक को पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करना पड़े। यदि गुप्तरूप से कोई पाप किया हो; तब भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से, कर्म (क्रियात्मक रूप) से तथा अध्यवसाय से सम्यक् प्रकार से (किसी योग्य गीतार्थ साधक के समक्ष) निष्कपट रूप से आलोचना करे।'

कई व्यक्ति, जिन्हें पापकर्म के प्रति घृणा, अरुचि या विरक्ति नहीं होती, ढीठ होकर पापकर्म करते जाते हैं, उनको कोई खटक, लज्जा या शंका नहीं होती। पाश्चात्य विचारक 'लिटन' के शब्दों में—'ऐसे व्यक्ति को पाप पहले मजेदार लगता है, फिर आसान हो जाता है, फिर हर्षदायक, फिर बार-बार किया जाता है, फिर आदतन किया जाता है, उसकी जड़ जम जाती है, फिर आदमी गुस्ताख हो जाता है, फिर हठी, फिर वह कभी न पछताने का मकसद कर लेता है और फिर तबाह हो जाता है।'

परन्तु लज्जाशील और पाप-विरक्त साधक या सज्जन एक बार कहीं फिसल भी जाता है तो वह भूल सदा उसे कचोटती रहती है। वह फिर उस ओर कदम नहीं बढ़ाता। दशवैकालिक सूत्र (८/२) में साधक के लिए कहा गया है—

> से जाणमजाणं वा कट्टु आहम्मियं पयं।
> संवरे खिप्पमप्पाणं, बीयं तं न समायरे॥

'विवेकी साधक, यदि जाने-अनजाने कोई पापकर्म कर बैठे तो अपनी आत्मा को शीघ्र ही उससे रोक ले; और दुबारा फिर ऐसा न करे।'

कदाचित अनिच्छापूर्वक किसी अनिष्ट प्रवृत्ति में भाग लेना पड़े तो उस समय अपनी ज्ञानचेतना खुली रखे, पाप को पाप माने और शीघ्र ही उससे अलग हट जाने का विचार रखे।

पाप से मुक्त होने का उपाय

छद्मस्थ मनुष्य का गिरना स्वाभाविक है, परन्तु गिरकर वहीं पड़े रहना दुर्बलता है, गिरकर उठ खड़े होना बहादुरी है।

पाश्चात्य विचारक 'लोंगफैलो' के इन सूत्रों को याद रखकर पापों से मुक्त होने का प्रयत्न करो—

> "Manlike it is to fall into sin.
> Fraudlike it is to dwell therein.
> Christlike it is for sin to grieve.
> Godlike it is all sin to leave.'

'पाप में पड़ना मानव-स्वभाव है, उसमें जुड़े रहना शैतान का स्वभाव है, पाप पर खेद करना सन्त स्वभाव है और सब पापों से मुक्त होना परमात्म-स्वभाव है।

भगवान् पार्श्वनाथ के युग की एक घटना है। जयघोष और आचार्य विशाख दोनों एक ही गुरु के शिष्य थे। परन्तु दोनों के आचार में रात-दिन का अन्तर था। आचार्य विशाख के आश्रम में कामभोग और विलास का साम्राज्य था, जबकि जयघोष के आश्रम में स्त्री का निवास नहीं होता था। आचार्य विशाख भौतिकवादी और तांत्रिक विद्या-पारंगत था। अनेक महा-राजा तांत्रिक विद्या के चमत्कार से उसे गुरु मानते थे। जयघोष के 'सिद्ध-वैताल' नामक एक शिष्य था। विशाख के अनुयायी 'सिद्ध-वैताल' को बहकाने लगे कि 'तू अपने गुरु जयघोष को छोड़ दे और विशाख को गुरु मान ले।' परन्तु उसने ऐसा करने से साफ इन्कार कर दिया। अतः विशाख के शिष्यों ने सिद्धवैताल को भ्रष्ट करने का षड्यन्त्र रचा। एक बार उन्होंने रोहिणी नाम की नृत्यांगना के नृत्य का आयोजन किया। पहले दिन सिद्ध-वैताल उसके नृत्य से बिल्कुल विचलित न हुआ। दूसरे दिन एक अंधेरी गुफा में रात्रि को उस नृत्यांगना का नृत्य रखा गया। रोहिणी के नेत्र कटाक्ष से सिद्धवैताल के मन में विकार जागा। रोहिणी उसे कहती है—मै अपनी माँ का आशीर्वाद लेकर अभी आती हूँ। इधर सिद्धवैताल के मन मे मथन जागा। गुरु का स्मरण किया। गुरु के समक्ष अपने हृदय में प्रविष्ट पाप की आलोचना की, और कामिनी सग से बचाने की प्रार्थना की। गुरु विचक्षण थे। उन्होंने कहा—'तू घबरा मत! नारी को भगिनी या माता के रूप में देखा जा सकता है। तू निष्पाप और निष्कपट रहना। सब ठीक हो जायेगा।'

उधर रोहिणी माता का आशीर्वाद लेकर आई। सिद्धवैताल ने रोहिणी को आसन पर बिठाकर कहा—'मुझे तुम्हारी पूजा करनी है।' वह अत्यन्त प्रसन्न हुई। वैताल ने उसके गले में पुष्पहार पहनाया और कहा— 'जय हो माता भगवती! आज से तुम्हीं मेरी सच्ची माता हो। मैने अपनी माता का सुख नही पाया, तुम मुझे अपना पुत्र मानो।'' रोहिणी यह सुनकर स्तब्ध हो गई। उसकी आँखों से हर्षाश्रु उमड़ पड़े। रोहिणी की माता जयकुण्डला ने जब यह सुना कि मेरी पुत्री ने माता-पुत्र का सम्बन्ध बांधा है तो वह भी आश्चर्यचकित हो गई। रोहिणी ने नृत्य-गान आदि सब छोड़कर आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने की प्रतीज्ञा ले ली।

रोहिणी को देखकर वैताल के जीवन में जो दृष्टिदोष हुआ। उसके प्रायश्चित्त के रूप उसने गुरु से २१ दिन के निर्जल उपवास ग्रहण किये। उपवास के दिनों मे वह ध्यानस्थ रहता था।

बन्धुओ ! सिद्धवैताल के जीवन में जरा-सा दृष्टिदोष का पाप आया, परन्तु उसने गुरु के समक्ष आलोचना करके उसका प्रायश्चित्त ग्रहण कर आत्मशुद्धि की। इसी प्रकार प्रज्ञाशील साधक को चाहिए कि भूलों की आवृत्ति न होने दे। एक भूल क्षम्य हो सकती है, किन्तु भूलों का समूह भयकर परिणाम ला सकता है। अत. भूलों का प्रतिक्षण निरीक्षण-परीक्षण और परिमार्जन करता रहे। शुद्ध अन्त.करण से योग्य गीतार्थ गुरु के निकट निष्कपटभाव से शुभ अध्यवसायपूर्वक आलोचना करके आत्म-शुद्धि करे। कपटसहित आलोचना से आत्मशुद्धि संभव नही है। जो आलोचना में कपट करता है, वह उस माया के फलस्वरूप मरकर नरक या तिर्यंचगति में जाता है। जैसे रोगी डॉक्टर के सामने छल करता है तो उसका उचित निदान और चिकित्सा न होने से वह स्वस्थ नहीं हो सकता, इसी प्रकार गुरु के समक्ष कपटमुक्त आलोचना किये बिना आत्मा में भी स्वस्थता एव पवित्रता नहीं आ सकती।

पूर्वजीवन के पापकर्म का पश्चात्ताप और संसार से विरक्ति

अब संजय अर्हतर्षि अपने पूर्वजीवन में हुए पापकर्म की आलोचना करते हुए कहते हैं—

> संजएणं अरहता इसिणा बुइत
> ण वि अत्थि रसेहिं भद्दएहिं, संवासेण य भद्दएण य।
> जत्थ मिए काणणोसिते उवणामेति वहाए संजये ॥५॥

संजय अर्हतर्षि कहते हैं—'मुझे अब मधुर रसों और सुन्दर नयनाभिराम निवास-स्थानों से कोई प्रयोजन नही रहा, जहाँ कि संजय ने वन-वन में रहे हुए निर्दोष मृग मारे थे।

यहाँ संजय अर्हतर्षि मृगवध के लिए वन में जाने वाला संजय (राजा) उत्तराध्ययन सूत्र (अ. १८/गा. १-१८) में वर्णित कम्पिलनरेश संजय ही है या और कोई सजय है ? यह विचारणीय है। वह संजय मृगया का शौकीन है। वन में एक मृग को बाण से बींध देता है। आहत मृग ध्यानस्थ मुनि गर्दभालि के निकट जाकर गिर गया था। अश्वारूढ़ सजय राजा भयभीत होकर मुनि के पास आया। मुनि कुछ भी नहीं बोलते, तब और भी भयभीत होकर राजा संजय ने क्षमायाचना की। मुनि ने संजय राजा को अभयदान दिया और जीवनभर अभयदाता बनने का संकल्प कराया। सजय राजा को अब हिंसादि पापों से विरक्ति हो गई। वह राज्य छोड़कर मुनि-चरणों में दीक्षित हो गया।

प्रस्तुत अध्ययन के उपदेशक संजय अर्हतर्षि के मन में पूर्व जीवन में मृगवध जैसे अपने हिंसात्मक पाप कृत्यों से विरक्ति हो चुकी है और मधुर आस्वादनों तथा सुन्दर भवनों में भी उन्हें अब कोई रुचि नहीं रही।

वर्णन साम्य को देखते हुए दोनों संजय ऋषि एक ही हैं, ऐसा प्रतीत होता है। जो भी हो, संजय ऋषि अपने जीवन का उदाहरण प्रस्तुत करके प्रत्येक साधक को अपने पूर्वजीवन में या इस जीवन में हुए जरा-से पाप की भी शुद्ध हृदय से आलोचना करने और आत्मशुद्धि करने की प्रेरणा दे रहे हैं कि जितना सांप से डरकर दूर भागते हो, उतना ही पाप से डरकर दूर भागो। उत्तराध्ययन सूत्र (२९/६) के अनुसार कृतपाप के पश्चात्ताप से भी जीव वैराग्यवान् होकर क्षपक श्रेणी प्राप्त कर लेता है।

आप भी पापकर्म से दूर रहें, पूर्वकृत पापों की आलोचना करके शुद्ध हों, और नये पाप करने से हिचकिचाएँ।

□□

४३

इच्छाओं के इन्द्रजाल से बचें !

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

मनुष्य का मन विराट् सागर है। जिसमें प्रतिक्षण सैकड़ों लहरें उठती हैं। उनकी चकाचौंध में मनुष्य का मन लुभा जाता है। वह उन लहरों के पीछे बेतहाशा दौड़ने का प्रयत्न करता है, किन्तु उन्हें पकड़ नहीं पाता, हार-थक कर वहीं बैठ जाता है। उसका असन्तोष उसके मन को दुःखित करता है, इतने में दूसरी लहर आकर फिर उसके मन में नाचने लगती है। यों मनुष्य उन लहरों के पीछे दीवाना बनकर दौड़ लगाता है, लेकिन पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता। वह विवश होकर हाथ मलता रह जाता है। वह सोचता है— इस इच्छा की पूर्ति के बाद मैं सन्तुष्ट हो जाऊंगा, परन्तु याद रखिए— हर इच्छा की पूर्ति, अपूर्ति का नया द्वार खोलती है।

पाश्चात्य विचारक सिसरो ने ठीक ही कहा था—

The thirst of desire never filled, nor fully satisfied.

'इच्छाओं की प्यास कभी नहीं बुझती और न ही पूर्णरूप से सन्तुष्ट होती है।'

इच्छाओं को पालकर मनुष्य दुःख, भय और चिन्ताओं को पालता है। इच्छाओं के संकेत पर चलने वाले मानव की स्थिति वैसी ही है, जैसी सागर की लहरों के अनुरूप चलने वाले नाविक की होती है। महाकवि शेक्सपीयर ने कहा था— 'इच्छा यदि घोड़ा बन जाती तो प्रत्येक मनुष्य घुड़सवार हो जाता।' मनुष्य सोचता है कि मैं इच्छाओं पर सवार हूं, लेकिन वास्तव में इच्छाएं ही उस पर सवार हो जाती हैं।

प्राचीन संस्कृत नाटक 'मर्म-मंजरी' में 'भद्रायु' नामक एक विदूषक का आख्यान है। एक बार भद्रायु जंगल में रास्ता भूल जाने से भटक गया। रात हो गई। वह घबराया। अतः एक पेड़ पर चढ़कर वह बैठ गया। अचानक उस पेड़ के नीचे एक बाघ आ गया। बाघ को देखते ही 'भद्रायु' मौत के भय से कांपने लगा। इसी में उसके हाथ से डाली छूट गई। वह सीधा बाघ पर जा गिरा। बाघ तो मानो बिजली गिरी हो, इस प्रकार भौंचक्का होकर छलांगें मारता हुआ जंगल की ओर भागा। भद्रायु उसकी पीठ पर एकदम चिपक गया। उसने घबरा कर बाघ के गले में अपनी बाँह भिड़ा दी। बाघ और घबराकर तेजी से भागने लगा। वनवासी लोग और राजा भद्रायु का साहस देखकर खुश हो गए। उन्होंने कहा—भूदेव ! आज तो आपने कमाल कर दिया ! जंगल के राजा सरीखे बाघ पर सवारी करके इसे दौड़ा-दौड़ा कर थका दिया है आपने ! धन्य है आपको ! अब तो इससे नीचे उतरो।"

भद्रायु के मुँह से बड़ी मुश्किल से ये शब्द निकले—"पर मैं कैसे नीचे उतरूं ?"

उन प्रेक्षकों को कैसे समझ में आता कि बाघ पर से उतरना कितना कठिन था ? क्योंकि यदि वह बाघ पर से उतरता तो बाघ निर्भय होकर उसे तुरन्त खा जाता।

अधिकांश लोगों को ऐसा ही मालूम होता है कि वे इच्छाओं के बाघ पर सवार हैं, पर वास्तव में यही उन पर सवार है। सवारी का प्रारम्भ सरल है, पर बाद में वे भद्रायु जैसे बन जाते है, जिन्हें इच्छाओं का बाघ छोड़ता नहीं।

आज इच्छाएँ अधिकांश मानवों के मन पर शासन करती हैं। इच्छाओं से शासित व्यक्ति अपनी सच्ची स्वतंत्रता को खो बैठता है। यद्यपि बाहर से वह स्वतंत्र दिखाई देता है, किन्तु गहराई में उतर कर देखा जाए तो ज्ञात होगा कि वह इच्छाओं की मजबूत रस्सी से बंधा है और बेड़ियों से बंधे कैदी की तरह वह दुःख पाता है।

बहुविध इच्छाओं के इन्द्रजाल में बंधे हुए

प्रस्तुत चालीसवें अध्ययन में "दीवायन अर्हतर्षि' ने इच्छाओं के इन्द्रजाल से बचने का निर्देश देते हुए कहा—

'इच्छमणिच्छ पुरा करेज्जा'—दीवायणेण अरहता इसिणा बुइतं ।
इच्छा बहुविधा लोए, जाए बद्धो किलिस्सति ।
तम्हा इच्छमणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेधती ॥१॥

अर्थात्—दीवायन अर्हतर्षि बोले—(हे साधक !) पहले इच्छा को अनिच्छा के रूप में बदल दो।

'लोक में अनेक प्रकार की इच्छाएं हैं, जिनसे बंधकर आत्मा संक्लेश पाता है। अतएव साधक इच्छा को अनिच्छा से जीत कर ही सुख पा सकता है।'

दस प्रकार की मुख्य इच्छाएँ

वैसे तो शास्त्र में कहा गया है—'इच्छा हु आगाससमा अणंतया' इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं। अर्थात्—उनका कोई अन्त नहीं आता। परन्तु स्थानांगसूत्र में दस प्रकार की आशसाएँ—इच्छाएं कही हैं—

(१) इहलोक की इच्छा करना, यथा—'तप आदि के प्रभाव से मैं चक्रवर्ती बनूँ।'

(२) परलोक की इच्छा करना, यथा—'मैं इन्द्रादि बनूँ।'

(३) उभयलोक की इच्छा करना, जैसे—'इन्द्रादि देव बनकर चक्रवर्ती आदि बनूँ।'

(४) जीने की इच्छा करना, यथा—'मैं चिरकाल तक सुखपूर्वक जीवित रहूँ।'

(५) मरने की इच्छा करना, यथा—'मैं इतना दुःख पा रहा हूं, इससे तो मृत्यु आ जाए तो अच्छा।'

(६) काम की इच्छा करना, यथा—'मुझे अच्छे शब्द और रूप सुनने-देखने को मिलें।'

(७) भोग की इच्छा करना, यथा—'मुझे अच्छे गध-रस-स्पर्श की प्राप्ति हो।'

(८) लाभ की इच्छा करना, यथा—'मुझे धर्म के फलस्वरूप यश-कीर्ति, धन आदि का लाभ हो।'

(९) पूजा की इच्छा करना, यथा—'ससार में मैं पूजा जाऊँ, मेरी प्रसिद्धि एव प्रतिष्ठा दूर-दूर तक हो।'

(१०) सत्कार की इच्छा करना, जैसे—'मेरा सर्वत्र सत्कार हो, जय-जयकार हो।'

पुरा अर्थात्—चारित्र-ग्रहण से पूर्व उपर्युक्त प्रकार की जितनी भी इच्छाएं साधक के मन में हों, उन्हें तिलांजलि दे दे, उनसे विरक्ति और अनिच्छा प्राप्त करे। वह आत्मसन्तोष में रमण करे। अथवा पुरा यानी शीघ्रदीक्षित हुआ मुनि इच्छा को अनिच्छा से जीते।

एक फिलोसफर था। उसने अपने जीवन को इस प्रकार के सांचे में ढाला था कि उसे कभी कोई इच्छा नहीं होती थी। उसके एक शिष्य ने पूछा—'आपका जीवन इच्छा रहित कैसे बना ?

वह बोला—'मैंने सदैव यह ध्यान रखा है कि इच्छाओं की प्यास कभी बुझती नहीं, इच्छा की भूख कभी तृप्त नहीं होती, और इच्छा से कभी किसी को सुख भी नहीं मिला। तब इच्छा करने से और उसके पीछे व्यर्थ दौड़ने से क्या लाभ ? यही सोचकर मैं किसी प्रकार की इच्छा नहीं करता।"

सचमुच उस दार्शनिक का यह अभ्यास प्रशंसनीय है।

वास्तव में रहीम के दोहे कितने प्रेरणादायक हैं—

जहाँ चाह वहाँ आह है, बनिए बेपरवाह।
चाह जिन्हों की मिट गई, वे शाहन के शाह ॥१॥
चाह चमारी चोरटी सौ नीचन की नीच।
मैं था पूरन ब्रह्म यदि, चाह न होती बीच ॥२॥

ज्ञानसार में उपाध्याय यशोविजयजी ने इसी तथ्य को प्रगट किया है—

निःस्पृहत्वं महासुखम्'

—इच्छाओं का त्याग ही महासुख का कारण है।

इच्छाभिभूत व्यक्ति की दूषित मनोवृत्ति का जिक्र करते हुए अर्हतर्षि दीवायन कहते हैं—

इच्छाभिभूया न जाणंति, मातरं पितरं गुरु।
अधिक्खिवंति साधू य, रायाणो देवयाणि य ॥२॥

"इच्छाओ से घिरे हुए मनुष्य न तो माता को जानते हैं, न पिता को और गुरु को ही जानते हैं। वे साधु, राजा और देवताओ को भी तिरस्कृत कर सकते हैं।'

इच्छाओ के इन्द्रजाल में फँसा हुआ मनुष्य अपनी इच्छाओ के आगे किसी को कुछ भी नहीं गिनता। उसकी इच्छापूर्ति के मार्ग में यदि कोई रोड़ा बनता है, तो वह उसका सामना करने को तैयार हो जाता है, उसे अपमानित करने मे नहीं चूकता, फिर भले ही वे माता-पिता हों या गुरु हो। वह साधु, राजा और देवताओ की भी अवगणना कर बैठता है।

मोहम्मद गजनवी ने जब यह सुना कि सोमनाथ महादेव के मन्दिर में अपार धन है तो उसकी लालसा बलवती हो उठी। अपनी धनप्राप्ति की इच्छा को पूर्ण करने के लिए उसने वहाँ के पुजारियों शासकों, पुरोहितों,

देवों आदि को कुछ भी नहीं गिना और महादेव की मूर्ति को तोड़कर उसके नीचे गड़े हुए धन को बटोर कर ले गया, परन्तु इस निकृष्ट इच्छापूर्ति का नतीजा इतना भयंकर हुआ कि वह सुख से न जी सका, सारा गजनी शहर धूल में मिल गया। उसके उत्तराधिकारी भी दुःखपूर्वक हाय-हाय करके मरे।

औरंगजेब ने अपनी राज्यलिप्सा के लिए दारा, शुजा और मुराद अपने तीनों भाइयों को बुरी तरह मरवा डाला। अपने पिता शाहजहाँ को कैद करके अनेक यातनाएँ देने लगा। किसी की भी सलाह न मानी। परन्तु इस प्रकार की निकृष्ट राज्येच्छा की पूर्ति का नतीजा दुःखदायक ही हुआ।

इच्छा के साथ धनहानि आदि कई प्रकार के दुःख लगे हुए हैं, उनका निरूपण करते हुए अर्हतर्षि कहते हैं—

इच्छामूलं णियच्छति, धणहाणि बंधणाणि य।
पिय-विप्पओगे य, बहूजम्माइं मरणाणि य ॥३॥

'इच्छा के मूल में धनहानि और बन्धन रहे हुए हैं। साथ ही प्रिय-वियोग तथा बहुत बार जन्म एवं मरण भी लगे हुए हैं।'

कुछ लोगों ने भ्रान्तिवश सुख की व्याख्या की है—'इच्छापूर्तिजन्यं सुखम्।'- मन में इच्छा उत्पन्न होते ही उसकी पूर्ति हो जाना सुख है। परन्तु इच्छापूर्ति सुख नहीं, सुखाभास है। इच्छा झटपट पूरी नहीं होती, उसमें कई बार तन, धन और प्राण स्वाहा हो जाते हैं, अपने प्रियजनों का वियोग भी हो जाता है। अनैतिक इच्छापूर्ति से सुख के बदले प्रायः दुःख, बन्धन और क्लेशों की विशाल परम्परा खड़ी मिलती है। रावण ने भी तो सुखप्राप्ति के लिए सीता का जबरन अपहरण करके लंका लाकर अपनी इच्छा पूर्ति का प्रयास किया था। पर उसे बदले में क्या मिला था—लंका का सर्वनाश, अपने कुटुम्बीजनों का वियोग, क्लेशपूर्वक स्वयं की मृत्यु। जरासंध और कीचक को अपनी इच्छापूर्ति के प्रयत्न मे क्या सुख मिला ? दुःख, क्लेश, घृणा और तिरस्कार ही तो पाया उन्होने ! क्या ही अच्छा होता यदि वे अपनी बुरी इच्छाओं को उठने के साथ ही कुचल देते ! एक दृष्टि से पश्चिमी विचारक फ्रेंकलिन का यह सुझाव ठीक ही लगता है— 'बाद में उत्पन्न होने वाली सारी इच्छाओं की पूर्ति करने की अपेक्षा पहली इच्छा का दमन कर देना कहीं अधिक सरल और श्रेयस्कर है।'

अर्हतर्षि दीवायन पुनः इच्छा के स्वभाव को प्रकट करते हुए साधकों को परामर्श देते हैं—

इच्छंतं नेच्छति इच्छा, अणिच्छतं पि इच्छति ।
तम्हा इच्छामणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेहती ॥४॥

'इच्छा अपने चाहने वाले को नहीं चाहती, किन्तु वह इच्छारहित को चाहती है। इसलिए इच्छा को अनिच्छा से जीतकर साधक सुख प्राप्त करता है।'

इच्छा का यह अनोखा स्वभाव है कि वह उसे नहीं चाहती जो इच्छाओं का गुलाम है। परन्तु मन में जो किसी प्रकार की इच्छा, योजना, कल्पना या लालसा किये बिना कर्मठतापूर्वक कार्य करता है, जिसे धन, यश, पद आदि किसी भी प्रकार की चाह नही है, जो समाज-सेवा या देश-सेवा के लिए मर-मिटने को तैयार होता है, अर्थात् जिसके मन मे निस्पृहता है, इच्छाओं पर जिसने विजय पा ली है, वही मुक्ति-सुख प्राप्त करता है। वही शान्ति पाता है। गीता में भी कहा है—

विहाय कामान् य सर्वान्, पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकार, स शान्तिमधिगच्छति ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को छोड़कर निस्पृह होकर विचरण करता है, ममता अहंकार से रहित वही व्यक्ति शान्ति पाता है।

अन्त में अर्हतर्षि ने अपनी-अपनी योग्यता, क्षमता और भूमिका को देखकर अपनी इच्छाओं का त्याग करने अथवा इच्छाओं के इन्द्रजाल से बचने को प्रेरणा देते हुए कहा है—

दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ जहाथाम तहा ।
बलं जधावीरिय अणिगूहंतो आलोएज्जासित्ति ॥५॥

साधक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अपनी धृति, साहस एवं बल को देखे। अपनी शक्ति को न छिपाता हुआ इच्छात्याग की साधना करे।

साधक को अपनी भूमिका और शक्ति के अनुसार इच्छाओं पर संयम रखना उचित है। अपने पास जितनी शक्ति है, तदनुसार परिवार से लेकर विश्व तक अपने कर्तव्य का पालन करने में शक्ति लगानी चाहिए। उसके बीच में यश, धन, सम्मान, साधन, सुख-सुविधा आदि की इच्छा नहीं रखनी चाहिए।

बन्धुओ ! इन स्वर्णसूत्रों को हृदय में अंकित करके निरर्थक इच्छाओं के इन्द्रजाल से बचें और सम्यक् इच्छाएँ ही करें।

□□

४४

साधना को जीविका का साधन मत बनाओ !

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

भगवान् महावीर ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप की साधना को इहलोक-परलोक की किसी भी कामना, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, यशकीर्ति एव जीविका का साधन बनाने से साफ मना किया है। जो लोग तप आदि साधना का प्रदर्शन करके आजीविका का या मनोज्ञ भोजन-पान-वस्त्रादि पाने का साधन बना देते हैं, वे साधक आत्मनिष्ठा को छोड़कर शरीरनिष्ठ हो जाते हैं। वे बहिर्दृष्टि होकर केवल वर्तमान सुख-सुविधापरायण हो जाते हैं। बहिर्दृष्टि देह से ऊपर उठकर देहातीत को देखने नहीं देती, जबकि अन्तर्दृष्टि आत्मा को बाहर से हटाकर अन्तर्मुखी बनाती है, वह आत्मा के यथार्थ विकास, निजगुणरमण, आत्मशुद्धि, स्वभाव-रमण आदि के अन्तर् में निरीक्षण-परीक्षण की प्रेरणा देती है। वह शरीर के नही आत्मा के सौन्दर्य को निरखने के लिए प्रेरित करती है।

प्रस्तुत इकचालीसवें अध्ययन में इन्द्रनाग अर्हतर्षि रत्नत्रयसाधना के पीछे बहिर्दृष्टि साधकों की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए कहते हैं—

जेसिं आजीवतो अप्पा, णराण बलदंसणं।
सवं ते आमिस किच्चा, जणा सचिणते जणं ॥१॥
विकीतं तेसि सुकड तु, तं च णिस्साए जीविय।
कम्मचेट्ठा अजाता वा, जाणिज्जा ममका सढा ॥२॥

अर्थात्— जो आत्मा (साधक) अपनी आजीविका के लिए अपनी तप आदि शक्तियों का प्रदर्शन करते हैं। वे अपने तप को दूषित करके मनुष्यों की भीड़ इकट्ठी करते हैं ॥१॥

उन (कामना सहित तप करने वालो) का सुकृत मानो बिका हुआ होता है। उस सुकृत पर आधारित उनका जीवन भी मानो बिक जाता है।

उनकी क्रियाएँ भी अनार्यवत् होती हैं। उन साधकों का स्वभाव स्वार्थी (ममत्वशील) और कपटी (शठ) हो जाता है ॥२॥

साधक की तपःसाधना कर्मक्षय के लिए होती है, किन्तु कर्मक्षय के बजाय जब वह उस तपःसाधना को प्रदर्शन, आडम्बर, प्रसिद्धि, कामना एवं आजीविका का साधन बना देता है, तब आत्मशुद्धि के बजाय आत्मा को यश-प्रतिष्ठा की कामना या भौतिक चाह की कालिमा से कलुषित कर देता है।

इस रूप में साधक अपनी तप की शक्ति का प्रदर्शन करके उस शक्ति को मिट्टी के मोल बेच देता है।

इसी प्रकार जो साधक किसी भी फलाकांक्षा को लेकर रत्नत्रय आदि की साधना करता है, वह अपनी साधना को कंकर बना देता है। यह सरासर सौदेबाजी है। गृहिणी दिन भर घर का कार्य करती है, किन्तु बदले में वह कभी अपने श्रम का मूल्य नहीं चाहती, जबकि एक मजदूरनी आठ घंटे तक काम करके पारिश्रमिक माँगती है। फलतः एक गृह-स्वामिनी बनती है, जबकि दूसरी केवल गृहदासी कहलवाकर मजदूरी के बारह रुपये लेकर चली जाती है। इसी प्रकार जो साधक अपनी साधना के बदले में कुछ नहीं चाहता, वह अपनी आत्मा का स्वामी बनता है; किन्तु जो साधक साधना का कुछ फल चाहता है, वह अपनी इच्छा का दास बनकर अपनी साधना को सस्ते भावों में बेच देता है।

पूणिया श्रावक के विषय में प्रसिद्ध है कि उसकी सामायिक साधना की प्रशंसा सुनकर मगधनरेश श्रेणिक उसकी सामायिक-साधना को खरीदने के लिए आया था। परन्तु पूणिया श्रावक ने इस अमूल्य साधना को किसी भाव में भी नहीं बेची। अतः साधक अपनी साधना के बीच में फलासक्ति को न आने दे, अन्यथा फल पाने की धुन में वह पथभ्रष्ट हो जायगा। फलासक्ति देवलोक और मनुष्यलोक क्या, मोक्ष की भी नहीं होनी चाहिए। कोई भी साधना हो, वह किसी भी फलाकांक्षा या फलासक्ति से रहित होनी चाहिए। उसमें इहलोक में धन, यश, पुत्र, स्वास्थ्य, बल, मकान या अन्य किसी भी वस्तु की कामना भी नहीं होनी चाहिए। न ही अगले जन्म में किसी भी प्रकार की भोगाकांक्षा या सुखाकांक्षा ही होनी चाहिए। गीता में बताया गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।

तेरा कर्म (कार्य) करने में अधिकार है, फल की ओर आँख उठाकर न देखो। फलासक्त व्यक्ति के जीवन की मस्ती छिन जाती है। वह लोभ-वृत्ति में पड़कर रात-दिन उसी में रचा-पचा रहता है। उसकी साधना मानो

बिक जाती है। फल पाने की धुन में साधक कभी-कभी साधनशुद्धि का विवेक भी भूल जाता है।

तात्कालिक लाभ : बहुत बड़ी हानि

अब अर्हतर्षि इन्द्रनाग वर्तमान सुख में मोहित साधकों को चेतावनी के स्वर में कहते हैं—

> गलुच्छिन्ना असोते वा, मच्छा पावंति वेयणं।
> अणागतमपस्संता, पच्छा सोयंति दुम्मती ॥३॥
> मच्छा व झीणपाणिया, कंकाणं घासमागता।
> पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो, मोहमल्लपणोल्लिया ॥४॥
> विसं पावंति उक्कंठं, वारिमज्झे व वारणा।
> आहारमेत्त-संबद्धा, कज्जाकज्ज-णिमिल्लिता ॥५॥
> मक्खिणो घतकुम्भे वा, अवसा पावंति संखयं।
> मधु पावेंति दुबुद्धी, पवात से ण पस्सति ॥६॥

अर्थात्—अस्रोत (निर्जलस्थल) में कंठ छिदा हुआ मत्स्य जैसे वेदना पाता है, इसी प्रकार भविष्य (अनागत) को न देखने वाला दुर्मति साधक बाद में पश्चात्ताप करता है ॥३॥

जैसे मत्स्य पानी मे रहित होकर कंकास के घास में फँस जाता है, इसी प्रकार मोहरूप मल्ल से प्रेरित प्राणी केवल वर्तमान सुख के आस्वादन में गृद्ध हो जाता है ॥४॥

जैसे पानी में रहा हुआ हाथी मदोन्मत्त बनता है और वहीं अविवेक से आसक्त होकर दैन्य को प्राप्त होता है, अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है। इसी प्रकार सरस स्वादिष्ट आहार पर ही जिसकी दृष्टि है, ऐसा साधक कार्य-अकार्य के विवेक से आँखें मूद लेता है ॥५॥

जैसे घी के घड़े में पड़ी हुई मक्खी विवश होकर विनाश को प्राप्त होती है, इसी प्रकार शहद के लिए वृक्षाग्र पर स्थित दुर्बुद्धि जीव सोचता है कि मैं मधु प्राप्त करूँगा, किन्तु वह यह नहीं देखता कि मैं नीचे (गहरे कुँए में) गिर जाऊँगा ॥६॥

अर्हतर्षि इन चार गाथाओं में उन प्राणियों की मनोवृत्ति का चित्रण करते हैं, जो केवल वर्तमान सुख को ही देखते हैं, भविष्य में भयंकर दुखद परिणाम को नहीं देखते। यह भी एक प्रकार से फलासक्त मानव का जीवन है, जो केवल वर्तमान सुख को देखने वाली मछली जैसा है। मछली मांस की आशा से जलस्रोत से बाहर आ जाती है; अथवा मांस के प्रलोभन में

फँसकर केवल मांस को देखती है, उसके पीछे छिपे काँटे को नहीं देखती। फलतः वह अपना कंठ छिदवा लेती है। इसी प्रकार वर्तमान सुखाभिलाषी अदूरदर्शी मानव भी तात्कालिक लाभ के पीछे बहुत बड़ी हानि को निमन्त्रण दे देता है। वे भावी परिणाम की ओर दृष्टि नहीं डालते, केवल वर्तमान सुखापेक्षी होते हैं।

अपनी खुराक के लोभ में दौड़ने वाली मछली पानी से बाहर आकर समुद्र तटवर्ती कंकास घास में फस जाती है और तड़फ-तड़फ कर मर जाती है। इसी प्रकार मोह से उद्वेलित आत्मा वर्तमान विषय-सुख के रस में आसक्त होकर दुःखी होता है।

वर्तमान भोगों की आसक्ति में फंसा हुआ मानव सचमुच दयनीय है। वह अपनी स्वतत्रता को उसी प्रकार खो बैठता है, जिस प्रकार कीचड़ से सने पानी में फंसा हुआ हाथी अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है। वह अपनी शक्ति के मद में आकर पानी में आगे से आगे बढ़ता हुआ दलदल में फंस जाता है। उसे किनारा दिखता है, लेकिन वहाँ तक पहुँच नहीं सकता। इसी प्रकार भोगो के दलदल मे फँसा हुआ व्यक्ति अधिकाधिक मद करता है, उसकी दृष्टि केवल सरस स्वादिष्ट आधार पर ही होती है। वह अविवेक-पूर्वक अनाप-शनाप आहार पेट में ठूँस तो लेता है, लेकिन भोजन के साथ विवेक भूल जाता है, इसी प्रकार ऋद्धि-रस-साता-गौरव के मद मे छका हुआ साधक भी आहार का विवेक भूल जाता है। फलतः भोगो के बीच में फँसकर वह अपनी सयम-साधना को चौपट कर देता है। भोजन का, भोगों का या कार्याकार्य का विवेक उसे नहीं रहता। इस प्रकार का साधक भी उस हाथी की तरह भोगों के भंवरजाल में फंसकर योग-साधना से भ्रष्ट हो जाता है।

जिस प्रकार घी को पाने की आशा से घी के घड़े में कूदने वाली मक्खी के भाग्य में मौत का वारट है, इसी प्रकार जो मधुबिन्दु की आशा से वृक्ष की अधकटी शाखा पर बैठा है। वह मधुबिन्दु को देखता है, किन्तु डाली टूटते ही नीचे अधकूप मे अपने गिरने को नही देखता। यही वर्तमान सुख को देखने वाले की विडम्बना है।

अज्ञानी आत्मा की मूढ़ क्रीड़ाएँ

अब अर्हतर्षि अज्ञानी की मोहमोहित बनकर की जाने वाली निन्दनीय क्रीड़ाओं का वर्णन करते हैं—

आमीसत्थी झसो चेव, मग्गते अप्पणा गलं ।
आमीसत्थी चरित्तं तु, जीवे हिंसति दुम्मती ॥७॥
अणग्घेयं मणिं मोत्तुं, सुत्तमत्ताभिनंदती ।
सव्वण्णु-सासणं मोत्तुं, मोहादीएहिं हिंसती ॥८॥

अर्थात्—जिस प्रकार मांसार्थी मत्स्य अपना आहार (मांस का टुकड़ा) खोजता है । इसी प्रकार दुर्बुद्धि मानव भी आमिषार्थी के चरित्र की तरह अपना शिकार खोजकर प्राणिहिंसा करता है ॥७॥

जिस प्रकार अल्पबुद्धि वाला मानव कीमती रत्न को फेंककर केवल सूत के धागे के साथ खेलने लगता है, उसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति भी सर्वज्ञ का शासन छोड़कर मोहग्रस्त पुरुषों के साथ हिंसा (पाप) का आचरण करता है ॥८॥

आशय यह है कि मांसार्थी केवल मांस के टुकड़े को देखता है, किन्तु उसके पीछे लगे कांटे को नहीं देखता । इसी प्रकार हिंसाप्रिय मानव भी मत्स्य के जीवन का अनुकरण करता हुआ प्राणिवध की ओर प्रेरित होता है । वह आरम्भ (हिंसा) के मिठास को देखता है, किन्तु उसके दारुण विपाक को नहीं देखता ।

यदि बंदर को हार दे दिया जाए तो तो वह मूर्ख बंदर उस हार में गूँथी हुई अमूल्य मणियों को फेंक देता है और केवल सूत (धागे) से खेलता है । यही कहानी मोहमोहित साधकों की है, जो मणिवत् अमूल्य सर्वज्ञ वीतराग के शासन को छोड़कर मोह-मोहित व्यक्तियों के साथ क्रीड़ा करते हैं । ऐसा साधक आत्मसाधना को भूलकर ससार-साधना में लग जाता है। उसकी क्रिया उस बालक की सी है, जो मिठाई के प्रलोभन में अपना बहुमूल्य आभूषण दे देता है । भोगों की तुच्छ लिप्सा में आत्मा के निजस्वभाव का त्याग करने वाला साधक उससे अधिक बुद्धिमान नहीं है ।

तप आदि को आजीविका के साधन बनाने वाले साधक

अब अर्हतर्षि इन्द्रनाग तप आदि विविध साधनाओं को आजीविका के साधन बनाने वाले साधकों के अशुद्ध जीवन का वर्णन करते हुए कहते हैं—

सोअमत्तेण विसं गेज्झ, जाणं तत्थेव जुंजती ।
आजीवत्थं तवो मोत्तुं, तप्पते विविहं बहुं ॥९॥
तव-णिस्साए जीवंतो, तवाजीवं तु जीवती ।
णाणमेवोवजीवंतो, चरित्तं करणं तहा ॥१०॥

लिंगं च जीवणट्ठाए, अविसुद्ध ंति जीवति ।
विज्जा - मंतोवदेसेहिं, दूति-संपेसणेहि वा ॥११॥
भावी तवोवदेसेहिं अविसुद्ध ंति जीवति ।
मूल-कोवुय-कम्मेहिं, भासा - पणाइएहिं या ॥१२॥
अक्खाइओवदेसेहिं अविसुद्धं तु जीवति ।
....

अर्थात्—श्रोत्र-मात्र से ही विष ग्राह्य है, किन्तु यह जानकर भी अज्ञानी वहीं अपने आपको जोड़ता है। सम्यक् तप को छोड़कर वह आजीविका के लिए विविध तप करता है ॥६॥

तप का आश्रय करके जीने वाला साधक तपोजीवन जीता है। कुछ लोग ज्ञान से जीवन जीते हैं और कुछ साधक चरण-करणरूप चारित्र क्रिया को उपजीवन बनाते हैं ॥१०॥

जिन्होंने वेष को जीवन (जीविका) का साधन बनाया है, वे भी अशुद्ध जीवन जीते हैं। विद्या और मंत्र के उपदेश एवं दूती की तरह गृहस्थों को सन्देश पहुँचाना, तथा भावी तप या भवितव्य भविष्यवाणी के उपदेश से जीना भी अशुद्ध जीवन है ॥११-१२॥

मूल (जड़ी-बूटी) या कौतुहल पूर्ण कर्मों के द्वारा, भाषा-चातुर्य से, आख्यायिका (कथा) कहकर या अक्ष-पासे आदि के उपदेश से जीने वाला भी अशुद्ध जीवन जीता है ॥१२-१३॥

विविध साधनाओं को आजीविका का साधन बनाने वाले का साधना-जीवन कितना दूषित, परवश और लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है? इस विषय में इन गाथाओं में काफी प्रकाश डाला गया है।

विष का नाम सुनकर उसका पान कर लेने वाला विष का जानकार है, ज्ञानी नहीं। ज्ञान और जानकारी में बहुत बड़ा अन्तर है। ज्ञान भीतरी होता है, जानकारी ऊपरी मात्र। 'ज्ञानस्य फलं विरतिः'—ज्ञान का फल विरति है, ज्ञान होने के बाद आत्मा बुरी वृत्तियों-प्रवृत्तियों से हट जाता है, जबकि जानकारी के लिए ऐसा नियम नहीं है। जिसने केवल कानों से ही नहीं, हृदय से भी सुना है, वह स्वयं को साधना में जोड़ देता है। फिर उस साधक का तप एकमात्र आत्मशुद्धि के लिए होता है। उसका यह ज्ञान परिपक्व हो जाता है कि अग्नि सोने को शुद्ध करती है, ऐसे ही तप आत्मा को शुद्ध करता है। किन्तु तप की जानकारी वाला साधक तप को आजीविका का साधन बनाकर तप की तेजस्विता को समाप्त कर देता है।

साधना की तीन श्रेणियाँ हैं—ज्ञान, तप और चारित्र। कुछ साधक साधना में तप को सर्वोपरि स्थान देते हैं। वे अहर्निश तपःसाधना में रत रहते हैं। आत्मा क्या है ? उसकी अशुद्ध दशा क्यों है ? शुद्धस्थिति कैसे सम्भव है ? इन बातों का ज्ञान उन्हें नहीं है, करना भी नहीं चाहते। इसी प्रकार कुछ लोग चारित्रसाधना के नाम पर केवल कुछ क्रियाकाण्ड कर लेते हैं। वे साधना के क्षेत्र में दौड़ना जानते हैं, दौड़ते भी हैं, पर उन्हें न लक्ष्य का पता है और न राह की पहचान है। कुछ साधक ज्ञान की मशाल लिये हुए आगे बढ़ रहे हैं, उनके जीवन-साधना में ज्ञान का प्रकाश है, वे सही लक्ष्य को भी जानते हैं, किन्तु उन्हें क्रिया से इन्कार है। उनका मस्तिष्क चलता है, पर पैर नहीं चलते। वे केवल वाणी-विलास मात्र से अपने मन को सन्तुष्ट कर लेते हैं। ऐसे लोग ज्ञान को जीविका का साधन बनाकर चलते हैं।

कुछ लोग वेश को आजीविका का साधन बना लेते हैं। मुनि-वेश तो केवल जनता के विश्वास के लिए है। परन्तु जिन्हें साधना का सही उद्देश्य पाना नहीं है, वे अपने वेश को अपने जीने का साधन बना लेते हैं। वे कर्त्तव्याकर्तव्य का, मौलिक मर्यादाओं का विवेक भुला कर एक मात्र साधुवेश के द्वारा जनता को ठगते है।

भौतिक विद्या, मन्त्र, भविष्यवाणी, जड़ी-बूटी, कौतुक, भाषाचातुर्य, कथा— उपदेश आदि को आजीविका का साधन बनाना, साधु जीवन के लिए उचित नहीं है। जिन साधको के पास साधना का सच्चा रस नहीं है, वे भौतिक विद्या, मन्त्र-तन्त्र, ज्योतिष आदि के बल पर समाज में, अपना वर्चस्व जमाते हैं। कुछ स्वार्थी भक्त भी लोभवश उनके बहकावे में आ जाते हैं, साधु को भी प्रसिद्धि आदि का लोभ सताता है।

इस प्रकार दोनो लोभ की दुनिया में भटक जाते हैं।

निष्कर्ष यह है कि साधक जब अपने पास अर्जित विविध विद्या, ज्ञान आदि की शक्ति को जीविका के साधन के रूप में उपयोग करता है, तब उसका जीवन अशुद्ध, दूषित, लक्ष्यभ्रष्ट और वीतराग-आज्ञाबाह्य हो जाता है। साधक को अपनी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना के बल पर जीना चाहिए। ताकि वह जिस उद्देश्य से दीक्षित हुआ है, तदनुसार लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

कौन-सा श्रेयस्कर : कठोर तप या शुद्ध धर्माचरण

साधना के मार्ग में कई साधक केवल एक चीज को ही पकड़ कर

दूसरी साधनाओं को गौण कर देते हैं, परन्तु यह साधना का दोष है, इसी बात को अर्हतर्षि कहते हैं—

> मासे मासे य जो बालो, कुसग्गेण आहारए ।
> ण से सुयक्खायधम्मस्स, अग्घति सतियं कलं ॥१४॥

'जो अज्ञानी (बाल) महीने महीने भर का तप करके, उसमें कुश के अग्रभाग जितना भोजन करता है, किन्तु वह सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रुताख्यात धर्म की सौवीं कला को भी नहीं प्राप्त कर सकता।'

यह कहानी उन साधकों की है, जो विवेकदृष्टि के अभाव में कठोर तप करते हैं, शरीर सूखकर कांटा हो जाता है, लोगों से वाहवाही भी मिल जाती हैं। वे सोचते है, हमारी साधना बहुत लम्बी-चौड़ी है, हमने कठोर तप किया है, इतना घोर कष्ट सहा है, इतना त्याग किया है, किन्तु जब विवेक की तराजू पर रखकर उसे तौला जाता है तो आत्म-धर्म के सही पथ पर वे अभी एक कदम भी आगे नहीं बढ़े हैं। दुनिया की तथा भोली जनता की आँखों में वे भले ही ऊँचे उठे हुए प्रतीत होते हों, पर सम्यक् धर्म साधना से कोसों दूर हैं। उनकी अज्ञानपूर्वक की हुई कष्ट साधना को यहाँ सद्धर्म की सौवी कला से भी अल्प माना गया है।

शुद्ध भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करे

प्रश्न होता है साधक को भी जीवनयापन के लिए आहार-वस्त्र-पात्र आदि कुछ साधनों की आवश्यकता रहती है, उनकी पूर्ति कैसे करे ? कैसे शुद्ध जीवन रखे ? अतः अर्हतर्षि अन्तिम तीन गाथाओं द्वारा इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

> मा ममं जाणउ कोयी, माहं जाणामि कंचि वि ।
> अण्णातेणत्थ अण्णातं चरेज्जा समुदाणिय ॥१५॥
> पचवणीमगसुद्ध जो भिक्खं एसणाए एसेज्जा ।
> तस्स सुलद्धालाभा हणणादी विप्पमुक्क दोसस्स ॥१६॥
> जहा कवोता य कविंजला य गावो चरती इह पातडाओ ।
> एवं मुणी गोयरियं चरेज्जा, णो वि लवे णो विय संजलेज्जा ॥१७॥

अर्थात्—कोई मुझे नही जाने और मैं भी किसी को नही जानूं। इस प्रकार अज्ञात के साथ अज्ञात होकर साधक समाज में सामुदानिक भिक्षाचर्या करे ॥१५॥

जो साधक श्वान आदि पाँच वनीपक से शुद्ध भिक्षा एषणाविधि (गवेषणा, ग्रहणेषणा; परिभोगैषणाविधि) के साथ ग्रहण करता है,

कर्महनन के लिए भोजन करने वाले अथवा प्रासुक भोजन करने वाले उस दोषरहित साधक के लिए लाभ सुलभ है ॥१६॥

जैसे कपोत, कपिंजल पक्षी और गायें अपने प्रातः भोजन के लिए जाते हैं, उसी प्रकार साधु भी गोचरी के लिए जाए। वह भिक्षा के समय अधिक न बोले और इच्छित आहार की प्राप्ति न होने पर मन में जले नहीं ॥१७॥

निष्कर्ष यह है कि साधु शुद्ध भिक्षाचरी से अपना जीवन-निर्वाह करे। गृहस्थ के घरों में न तो स्वयं का गोत्रकुल आदि के रूप में परिचय दे और न ही उनके कुलों के खास परिचय में उतरे। स्वयं भी अज्ञात रहे और दूसरों के विषय में भी ज्ञात न करे। वह यही देखे कि आहार शुद्ध है या नहीं ? शुद्ध विधिपूर्वक दिया जा रहा है या नहीं ? शुद्ध आहार के लिए वह किसी एक घर या सम्पन्न घरों से नही, किन्तु उच्च-नीच-मध्यम सभी कुलों से भिक्षाचरी करे। गृहस्थदशा के परिचय के आधार पर वह साधना में आगे नहीं बढ़ सकेगा, कदम-कदम पर उसे मोह घेर लेगा। उसकी साधना बहिर्मुखी बन जाएगी। तथा पहले बताई हुई अशुद्ध आजीविकाओं को छोडकर जीवन निर्वाह के लिए निर्दोष एषणीय आहार ले। भिक्षाचर्या के समय शान्त, अनुद्विग्न और अक्षुब्ध रहे तथा लाभ और अलाभ में समभाव रखे। यही मुनि जीवन की शुद्ध साधना है, जिससे कर्मों का क्षय करके वह एक दिन सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकेगा। □

४५

क्षुद्र से विराट बनो !

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आज मैं जीवन के उस रहस्य को प्रकट कहना चाहता हूं, जिसके कारण मनुष्य, विशेषतया साधक, ज्यों-ज्यों अधिकार, पद, सत्ता या सम्पत्ति में उच्च होता जाता है, त्यों-त्यों क्षुद्र होता जाता है, उसके मन में संकुचितता आ जाती है। इसीलिए सोम अर्हतर्षि जीवन के इस महान रहस्य का उद्घाटन करते हुए बयालीसवें अध्ययन में कहते हैं—

अप्पेण बहुमसेज्जा जेट्ठ-मज्झिम-कणिट्ठं ।
णिरवज्जे ठितस्स तु णो कप्पति पुणरवि सावज्जं सेवित्तए ।
सोमेण अरहता इसिणा बुइतं ।

'साधक ज्येष्ठ, मध्यम या कनिष्ठ (किसी भी पद पर हो, वह (विचार या ज्ञानक्षेत्र में) अल्प से अधिक पाने (आगे बढ़ने) की चेष्टा करे। जो साधक निरवद्य में स्थित हो गया है, उसे (उससे आगे निरवद्यतर मे प्रवेश करना चाहिए किन्तु) सावद्य का पुनः सेवन करना कल्पनीय नहीं है, इस प्रकार सोम अर्हतर्षि ने कहा।'

साधक किसी भी रूप में हो, वह चाहे आचार्य हो, उपाध्याय हो, स्थविर हो, या लघु मुनि के रूप में ही क्यों न हो, वह अल्प से बहुत्व की ओर ही सदा प्रस्थान करें। वह क्षुद्र से विराट बनने का प्रयत्न करे। वैदिक ऋषि ने भी यही कहा—

'यो वै भूमा तत्सुखम्, नाऽल्पे सुखमस्तीति।'

जो विराट है, विशाल है, वही सुखरूप है, अल्प में सुख नहीं है। तात्पर्य यह है कि साधक मन से भी विराट बने। तंगदिली दूर करे। 'मैं' और मेरे' के क्षुद्र घेरे को तोड़कर विराट बने। अपने निकटवर्ती साधकों को

ही नहीं, दूरवर्ती साधकों को भी अपना माने। सम्प्रदायों की संकीर्ण दीवारों को समाप्त कर अन्य सम्प्रदायों के लोगों को भी अपनाए। संघ में सभी साधु-श्रावकों का मनोबल समान नहीं हो सकता। कई साधु महीने तक की तपश्चर्या करते हैं, कई प्रतिदिन भोजन करते हैं। कोई स्थूल आचार में दृढ़ होते हैं, कोई विवेकपूर्वक मौलिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से माप-तौल कर चलते हैं, कोई ज्ञान के क्षेत्र में मन्द होते हैं, कोई तीव्र; अतः साधक अपनी विशाल, अनेकान्त एवं विचार-आचार सहिष्णु दृष्टि से सबका समन्वय करके चले। विचार की इसी विशालता को प्राप्त करने का संकल्प साधक के मन में हो।

स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरे साधकों की सेवा करे। कष्ट निवारणार्थ करुणा करे। गुणग्राहिता और आत्मीयता रखे। क्षुद्र हृदय न रखकर हृदय को उदार रखे। ज्ञान की अल्प किरण को विराट रूप दे।

भारतीय संस्कृति के ज्योतिर्धर आचार्य अपने शिष्यों को विदा देते समय यही आशीर्वचन कहते थे—

'धर्मे ते धीयतां बुद्धिः, मनस्ते महदस्तु च'

'हे शिष्य ! तुम किसी भी क्षेत्र में जाओ, तुम्हारी बुद्धि धर्म में स्थिर रहे, तुम्हारा मन महान् बने।'

तुम अपने साधक-जीवन के लक्ष्य को भी छोटा (क्षुद्र) मत बनाओ। लक्ष्य को छोटा बनाना मन की क्षुद्रता और संकीर्णता का परिचायक है।

साधक के सामने सदैव कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्ति—सर्व दुःखों से मुक्ति या मोक्षप्राप्ति का लक्ष्य होना चाहिए। परन्तु आज कई उच्च साधकों के समक्ष भी लक्ष्य स्पष्ट नहीं है। उनसे पूछा जाय कि आपकी साधना का लक्ष्य क्या है ? तो वे भी सच्चाई के साथ कुछ भी स्पष्ट नहीं कह सकते। क्योंकि बड़े से बड़े साधक का अन्तर्मन यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा और प्रभाव जैसी क्षुद्र बातों में उलझा हुआ है। मोक्ष और स्वर्ग की बातें करने वाले सिर्फ साधना का चमत्कार दिखाने में अटके हुए हैं। वे इहलौकिक ऋद्धि-सिद्धि-लब्धि-उपलब्धि को पाने की धुन में ही अहर्निश एकाग्र रहते हैं।

अधिकांश लोगों से पूछने पर इसी क्षुद्र लक्ष्य का संकेत मिलेगा—'मोक्ष तो इस काल में मिलना कठिनतम है। बल्कि मोक्ष पंचमकाल में इस क्षेत्र के लोगों को मिल ही नहीं सकता। अब रहा देवलोक, वह भी किसने देखा है, स्वर्ग से आकर कोई कहता नहीं कि मैं स्वर्ग में हूं, सुखी हूं। इसीलिए हमें

तो न मोक्ष चाहिए और न स्वर्ग। हमारे पास पर्याप्त धन हो, बंगला, कोठी, हो, कार हो, स्त्री-पुत्र सुखी हों, बस यही हमें पर्याप्त है।

आज अधिकतर लोग इहलौकिक ऋद्धि-सिद्धि-प्रसिद्धि के लक्ष्य वाले मिलेंगे, जो अपने लक्ष्य को अत्यन्त क्षुद्र बना लेते हैं। परन्तु याद रखिये अपने लक्ष्य को इतना छोटा बनाने वाले लोग स्वार्थी, अपने ही तुच्छ हित के लिए प्रपंच करने वाले, अनुदार और अन्त में दुःखी बन जाते हैं। इसीलिए सोम अर्हतर्षि साधक को अपने लक्ष्य को क्षुद्र नहीं, विराट बनाने का निर्देश कर रहे हैं, जिसमें स्वार्थ, अनुदारता, संकीर्णता, हृदय की तुच्छता आदि न हों।

मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है—जो इस तथ्य को समझने में उपयोगी होगा।

एक राजा के कोई सन्तान नहीं थी। राजा और रानी दोनों चिन्तित रहा करते थे कि पुत्र के बिना हमारा राज्य कौन संभालेगा, अराजकता छा जाएगी। राजा को रह-रहकर यह चिन्ता सता रही थी। एक दिन राजा निश्चय करके घोर जंगल में निकल गया, अपने इष्टदेव से पुत्र-प्राप्ति की प्रार्थना करने। राजा एकाग्रचित्त होकर ध्यान में बैठ गया। **'कार्यं वा साधयेयम्, देहं वा पातयेयम्'**, ऐसा संकल्प मन में कर लिया। राजा ने ज्यों ही आँखें खोलीं, सामने वाले एक पेड़ के नीचे एक छोटे-से शिशु को लेटा हुआ देखा। राजा पहले तो आश्चर्यचकित हो गया। उसने सोचा कि इस निर्जन वन में, यह अकेला शिशु कैसे आ गया? इसके पास इसकी मां या कोई अभिभावक भी नहीं है। फिर विचार आया कि मेरी प्रार्थना के प्रभाव से शायद मेरे भाग्य से ही यह शिशु यहाँ आ गया हो। राजा ने उस बालक को गोद में ले लिया और मन ही मन यह संकल्प किया कि मैं चुपचाप इस बालक को अन्तःपुर में जाकर रानी को सौंप दूँगा, उसे अपने औरस पुत्र की तरह इसका पालन करने का कहूंगा। जब यह कुछ बड़ा हो जाएगा तो इसे राजकुमार के समान समस्त शिक्षाएँ दिलाएँगे। जब विवाह योग्य हो जाएगा तो किसी योग्य राजकुमारी के साथ इसका विवाह कर देंगे। फिर सारा राज्य इसे सौंप कर हम वन में जाकर साधना करेंगे। राजा उस बच्चे को लेकर सीधा राजमहल में पहुंचा और रानी को सौंपते हुए कहा—प्रिये! लो, तुम्हारे लिये यह बालक लाया हूं, इसका पुत्रवत् पालन करना। राजा ने अपना मनोरथ भी दोहरा दिया। रानी भी राजा के मनोरथ से सहमत होकर उस बालक का पुत्रवत् पालन करने लगी। वह बालक भी स्वयं को

राजकुमार तथा राजा-रानी को पिता-माता मानने लगा। वह लड़का सयाना होकर राजधर्म की शिक्षा-दीक्षा पाने लगा तो राजा यदाकदा उसके समक्ष अपने मनोरथ को दोहराता था। वह भी उनके प्रति कृतज्ञता प्रगट करता था।

राजदरबारियों को पता लगा कि राजा किसी अज्ञातकुल वाले लड़के को लाये हैं, तथा उसी को अपना राज्य और वैभव सौंपेंगे। उन ईर्ष्यालु लोगों को यह बात सहन न हुई। उन्होंने निश्चय किया कि इस लड़के को किसी तरह से राजा से विमुख कर देना चाहिए। एक दिन दरबारी लोग शिष्ट-मण्डल के रूप में तथाकथित राजकुमार से मिलने आए। राजकुमार को वे एकान्त में ले गए और कहा—'हम आपके हित की कुछ बातें आपसे कहने आए हैं। फिर उन्होंने उससे पूछा—'आप कौन हैं ?'

'मैं कौन हूं ? क्या आपको पता नहीं है ? मैं राजकुमार हू। राजा और रानी मुझे अपना पुत्र मानते हैं।'—राजकुमार बोला।

आगन्तुक—'यह ठीक है कि राजा-रानी आपको अपना पुत्र मानते हैं। परन्तु आप राजा के वास्तविक पुत्र तो नही हैं।'

राजकुमार—'इससे क्या फरक पड़ता है ? मैं राजा का वास्तविक पुत्र हूं या नही ? इससे उनके मन में कोई दूसरी बात नहीं है।'

दरबारी—फरक क्यों नही पड़ता ? आपको यही तो अनुभव नहीं है। राजा जब तक आप पर प्रसन्न है, तब तक आपको सब तरह से दुलार मिलेगा, परन्तु जिस दिन राजा आपसे नाराज हो गए, उस दिन आपको यहाँ से निकाल भी सकते हैं। कहावत है—

राजा जोगी अगनि जल, इनकी उलटी रीत।
डरते रहियो परशराम, थोड़ी रखियो प्रीत॥

यदि राजा आपसे नाराज हो गए और आपको निकाल दिया तो आप कहां जाएँगे ? क्या आपने अपना कोई ठिकाना बना रखा है, जहाँ स्वतंत्र रूप से रह सकें। क्या अपने जीवननिर्वाह के लिए भी आपके पास कुछ पूँजी है, जिससे स्वतंत्ररूप से जी सकें। और फिर आपका विवाह नही होगा, तो क्या आप आजीवन अकेले ही जिंदगी दुःख से काट सकेंगे ?

राजकुमार—'हाँ, आपकी बात में कुछ तथ्य लगता है। जरा स्पष्ट कहिए कि मुझे क्या करना चाहिए ? आप तो मेरे हित की बात कहने आए हैं।'

दरबारियों ने सोचा कि तीर ठीक निशाने पर लगा है। अतः अब इसे राजा से विमुख करने का अच्छा मौका है। अतः उन्होंने कहा—'हम तो आपके हितैषी बनकर आए हैं। माने, न मानें, आपकी इच्छा है। हमें इससे कोई हानि-लाभ नहीं होने वाला है। देखिये—राजा जब तक आप पर प्रसन्न हैं, उनसे स्वतंत्ररूप से रहने के लिए एक भवन मांग लें। बीस हजार रुपये मांग लें और किसी दासी-वासी से अपनी शादी कराने का कह दें, ताकि आप निश्चिंत हो जाएँ।'

यद्यपि राजा ने बराबर अपने मनोरथ उस लड़के के सामने दोहराये थे, परन्तु उसके मन में आज राजा के प्रति अविश्वास पैदा हो गया। पता नहीं, राजा कब राज्य देगा, कब सारा राजकोष सौंपेगा, और कब राजकुमारी के साथ मेरी शादी करेगा? लड़के ने उन दरबारियों की बात मानते हुए कहा—'ठीक है, मैं राजा से यही मांगूगा।' दरबारी चले गए।

एक दिन तथाकथित राजकुमार मुंह लटकाए उदास-सा होकर राजा के पास पहुंचा। राजा ने पूछा—'बेटा! आज क्या बात? उदास क्यों हो? क्या किसी ने तुम्हें कुछ कह दिया?'

राजकुमार—'नहीं, पिताजी! आपकी और माताजी की मुझ पर कृपा हो, फिर मुझे कौन कुछ कह सकता है? किन्तु मैं अब तक आपके आश्रित जीता था, अब मैं स्वतंत्र रूप से जीना चाहता हूँ, ताकि अपना भाग्य अजमा सकूँ।'

राजा—'बोलो, क्या चाहते हो?'

राजकुमार—'मुझे एक छोटा-सा मकान मिल जाए, जिसमें मैं स्वतंत्र रूप से रह सकूँ। दस-बीस हजार रुपये मिल जाएँ, जिससे मैं जीवननिर्वाह कर सकूँ या कोई आजीविका का साधन कर सकूँ। और किसी दासी-वासी के साथ मेरी शादी करा दीजिए, ताकि मैं अकेलेपन से छुटकारा पाकर निश्चिंतता से गृहस्थाश्रम चला सकूँ।'

यह सुनते ही राजा का माथा ठनका। सोचा—यह मांगता है छोटा-सा मकान, मैं तो इसे सारा राज्य देने का मनोरथ कर चुका था, यह दस-बीस हजार रुपये चाहता है मैं तो इसे सारा राजकोष देना चाहता था, फिर यह किसी दासी के साथ शादी करने को तैयार है, जबकि राजकुमारी के साथ शादी करने का मेरा मनोरथ था। मालूम होता है, यह किसी के बहकावे में आ गया है। इसे मेरे पर विश्वास नहीं रहा। अब यह मेरे काम का नहीं। इसने अपना दायरा छोटा-सा बना लिया है।

राजा ने उसे कहा—'जो कुछ तुमने मांगा, वह मुझे मंजूर है।'

राजा ने उसकी मांगें पूरी करके उसे अलग कर दिया। राजा अब पूर्ववत् पुत्ररहित हो गया।

बन्धुओ ! यह कहानी यह बताती है कि उस लड़के के सामने राजा ने कितनी ही बार विशाल मनोरथ को दुहराया था, फिर भी उसने दरबारियों के बहकावे में आकर राजा के प्रति अविश्वास करके अपनी जिंदगी का लक्ष्य अत्यन्त छोटा बना लिया। इसी प्रकार उच्च साधक के समक्ष भी भगवान् द्वारा प्रतिपादित वचन है कि "साधक ! मोक्ष का राज्य तुम्हें प्राप्त होगा, अनन्तज्ञानादि-चतुष्टय का मोक्ष का राज्यकोष तुम्हारे अधिकार में होगा और मुक्तिकन्या तुम्हारा अवश्य वरण कर लेगी।" परन्तु यदि साधक भगवान् के उक्त कथन पर अविश्वास करके अपने तप-संयम की साधना के फलस्वरूप स्वर्ग तथा उसके कामभोगों का निदान कर ले—स्वर्ग की तुच्छ कामना कर ले, अथवा पुनः गृहस्थाश्रम में जाकर इहलौकिक सुखभोगों की लिप्सा करले तो अपने विराट निरवद्य लक्ष्य को अत्यन्त क्षुद्र और सावद्य बना लेता है। दुःखों से सर्वथा मुक्ति के विशाल लक्ष्य को छोड़कर जब साधक स्वर्ग के या इहलोक के वैषयिक सुखों के प्रलोभनवश अपने लक्ष्य को क्षुद्र बना लेता है तो उसका जीवन 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' हो जाता है। उसे वैषयिक सुख मिलने पर भी मन की अशान्ति, बेचैनी, चिन्ता संकट आदि दुख घेरे रहते हैं।

फिर साधु ने जब दीक्षा ली थी, तब सावद्य को छोड़कर निरवद्य स्थिति प्राप्त करने का लक्ष्य बनाया था, किन्तु जब लक्ष्यभ्रष्ट होकर लक्ष्य से अत्यन्त पीछे हट जाता है तो वह निरवद्य सकल्प को छोड़कर पुनः सावद्य-स्थिति की और लौट जाता है, स्वर्ग और मनुष्य लोक की रंगीन कल्पनाओं के पंख लगाकर ऊपर उड़ना चाहता है, परन्तु वह ऊपर उड़ना नहीं है, नीचे की ओर गिरना है, उत्थान से पतन की ओर आना है।

अतः प्रत्येक साधक को विराट् लक्ष्य रखकर ही सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय की निरवद्य साधना करनी चाहिए। □

४६

श्रेष्ठ मानव का लक्षण

सुज्ञ धर्मप्रेमीजनो !

मैं आपसे एक प्रश्न पूछ लूं कि आप मानवों में श्रेष्ठ मानव बनना चाहते हैं, अथवा निकृष्ट ? आप सभी बनना तो श्रेष्ठ ही चाहते हैं, परन्तु क्या आप जानते हैं कि श्रेष्ठ मानव कौन हो सकता है ? शायद आप नहीं बता सकते हों, तो अर्हतर्षि यम ने तेतालीसवें अध्ययन में यही बताया है—

लाभंमि जे ण सुमणो, अलाभे णेव दुम्मणो ।
से हु सेट्ठे मणुस्साणं, देवाणं व सयक्कऊ ॥१॥
जमेण अरहता इसिणा बुइतं ।

इसका भावार्थ यह है कि 'जो मनुष्य लाभ में (प्राप्ति होने पर) सुमन (हर्षित) नहीं होता और अलाभ में (अप्राप्ति में) दुर्मन (अप्रसन्न-खिन्न) नहीं होता, वही व्यक्ति मनुष्यों में वैसा ही श्रेष्ठ है, जैसा कि देवों में शतक्रतु (देवेन्द्र) है; ऐसा यम नामक अर्हतर्षि बोले ।'

जन साधारण की मनोभूमि कुछ इसी ढंग की होती है, कि वह सजीव-निर्जीव अभीष्ट मनोज्ञ पदार्थ की प्राप्ति होने पर हर्षावेश में आजाता है, जबकि अभीष्ट पदार्थ का वियोग या अभाव होने पर मन में खिन्नता, उद्वेग, अप्रसन्नता आदि होती है । अत: साधक की मनःस्थिति देखते हुए भगवान् महावीर ने अपनी अन्तिम देशना में कहा था—

लाभालाभे, सुहे - दुहे, जीविए-मरणेण य ।
समो णिंदा - पसंसासु तहा माणावमाणओ ॥

लाभ हो या अलाभ, सुख हो या दुःख, जीवन रहे या आज ही मृत्यु हो जाए, निन्दा हो या प्रशंसा, सभी अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों में साधक समभाव रखे।

अगर साधक अपने मन पर इतना शासन, नियंत्रण या नियमन करले कि प्रिय वस्तु उसके मन को गुदगुदाए नहीं, और अप्रिय वस्तु उसके मन को डांवाडोल न कर सके, उसकी मुस्कान छीन न सके। अर्थात् लाभ और अलाभ में उसकी मनःस्थिति सम रहे तो वह समाज में उसी तरह सुशोभित होता है जिस तरह देवसभा में देवेन्द्र। ऐसा ही मानव श्रेष्ठ है, वही मनुष्यों द्वारा पूजित,अर्चित होता है। आप भी लाभ-अलाभ आदि प्रत्येक प्रवृत्ति में समभाव रखकर आगे बढ़िये, आपको जीवन का सच्चा आनन्द आएगा। आप जीवन की श्रेष्ठता सम्पादन कर लेंगे। □

४७
सम्यक् निर्णय का सदुपाय

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

साधक के सामने कभी-कभी बड़ी पेचीदा समस्या उपस्थित हो जाती है। कभी-कभी उसके समक्ष एक धर्मसंकट पैदा हो जाता है। उस समय वह निर्णय नही कर पाता कि किस मार्ग को ग्रहण करे या किसका पक्ष ले? गृहस्थ-जीवन में कभी-कभी किसी व्यक्ति के विषय में आप वास्तविक निर्णय नहीं कर पाते कि यह व्यक्ति ऐसा है या वैसा? प्रस्तुत चवालीसवें अध्ययन में अर्हतर्षि वरुण सम्यक् निर्णय का सदुपाय बताते हुए कहते हैं—

दोहिं अंगेहिं उप्पीलितेहिं आता जस्स ण उप्पीलति।
रागंमे य दोसे य से हु सम्मं णियच्छति॥
वरुणेण अरहता इसिणा बुइतं।

'राग और द्वेष, इन दो अंगों की उत्पीड़ना—संवेदना से जिसकी आत्मा उत्पीड़ित नहीं होती, वही सम्यक् निर्णय कर पाता है, ऐसा वरुण अर्हतर्षि ने कहा।'

राग और द्वेष, ये दोनों उत्तेजनारूपी विषबेल के कटु फल है। द्वेष की संवेदना कटु होने से आत्मा उत्पीड़ित हो ही जाती है, परन्तु राग की संवेदना भी कम कटु नही है। जिस वस्तु पर राग होता है, उसके प्रति ऐसा पक्षपात, आसक्तियुक्त मन एवं ममत्वपूर्ण झुकाव हो जाता है कि राग-दृष्टि वाला मनुष्य उसके सौ-सौ दोष होने पर भी नहीं देख पाता। राग की अन्धता, द्वेष की अन्धता से तीव्र है। रागी दोष नहीं देखता, तो द्वेषी गुण नहीं देखता। अर्थात्—जिसके प्रति मन में द्वेष, घृणा और ईर्ष्या की गांठ बंध जाती है, उसके सौ गुणों में से एक भी नहीं दिखाई देता। सास के मन में बहू के प्रति जब द्वेष की गांठ बँध जाती है तो उसे बहू का एक भी गुण नहीं दिखाई देता। बेटी में कितने ही दोष हों, मां की दृष्टि में एक भी दोष नहीं दिखता।

इसीलिए वरुण ऋषि कहते हैं, जब मन में किसी के प्रति राग हो, या द्वेष हो तो व्यक्ति सही निर्णय नहीं ले सकता, क्योंकि राग-द्वेष-युक्त दृष्टि वस्तु का सही मूल्यांकन नहीं कर पाती। अतएव कहा गया है कि राग-द्वेष से रहित बुद्धि ही ठीक निर्णय ले सकती है, क्योंकि व्यक्ति का मन तब स्वस्थ और शान्त होता है। एक अंग्रेज विचारक ने कहा है -

Never make a decision, when you are down-hearted.

जब तुम्हारा मन खिन्न हो, तब किसी प्रकार का निर्णय न लो। आवेश के क्षणों में लिया हुआ निर्णय ठीक नहीं होता, फिर वह आवेश राग का हो, या द्वेष का। अतः वस्तुस्वरूप को समझने और सम्यक् निर्णय लेने के लिए आपको राग-द्वेष से रहित होना चाहिए। □

४८

अन्तर्दृष्टि साधक की वृत्ति-प्रवृत्ति

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

इस संसार में दो प्रकार की दृष्टि वाले मानव होते हैं—एक अन्तर्दृष्टि वाले और दूसरे बहिर्दृष्टि वाले। अन्तर्दृष्टि वाला साधक आत्मिक सुख की परिधि को मानकर चलता है, जबकि बहिर्दृष्टि मानव बाह्य-इन्द्रियजन्य सुख को प्रमुख मानकर चलता है। अन्तर्द्रष्टा साधक प्राणिमात्र के प्रति आत्मवत् भाव को लेकर चलता है। उसके अन्तर् में प्राणिमात्र के प्रति करुणा का निर्झर बहता है। वह आत्मा से बहिर्भाव—परभाव से—पापादि प्रवृत्ति से तथा विभावादि विकारों से दूर रहता है। विषयों में आसक्त तथा कषायों में रत नहीं होता। यह ऋषिभाषित का अन्तिम प्रवचन है। यह इस ग्रन्थ का ४५वां अध्ययन है। इसके प्रवक्ता हैं—वैश्रमण अर्हतर्षि। इसमें अन्तर्दृष्टि वाले साधक की वृत्ति-प्रवृत्ति की झांकी दी गई है। मैं इन गाथाओं पर अधिक विवेचन न करके गाथाओं का भावार्थ मात्र ही आपके समक्ष प्रस्तुत करूँगा।

पापकर्म का निषेध : क्यों और कैसे ?

इस अध्ययन में सर्वप्रथम अन्तर्दृष्टि सम्पन्न साधक को पापों से दूर रहने का युक्तिपूर्वक निर्देश किया है। वह इस प्रकार है—

> अप्प च आउ इह माणवाणं सुचिरं च कालं णरएसु वासो।
> सव्वे य कामा णिरयाण मूलं, को णाम कामेसु बुहो रमेज्जा ॥१॥
>
> पावं ण कुज्जा, ण हणेज्ज पाणे, अतीरसेणेव रमे कषायो।
> उच्चावएहिं सयणासणेहिं, वायुव्व जालं समतिक्कमेज्जा ॥२॥
>
> जे पुमं कुरुते पावं ण तस्सऽप्पा धुवं पिओ।
> अप्पणा हि कडं कम्मं, अप्पणा चेव भुज्जती ॥३॥

*पावं परस्स कुव्वंतो, हसते मोह-मोहितो ।
मच्छो गलं गसंतो वा, विणिघायं ण पस्सति ॥४॥

पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो, मोह-मल्ल-पणोल्लितो ।
दित्तं पावति उक्कंठं, वारिमज्झे व वारणो ॥५॥

परोवघात-तल्लिच्छो, दप्प-मोह-बलुद्धुरो ।
सीहो जरो दुपाणे वा, गुणदोसं न विंदति ॥६॥

सवसो पावं पुरा किच्चा, दुक्खं वेदेति दुम्मती ।
आसत्त कंठपासो वा, मुक्कधारो दुहट्टिओ ॥७॥

पावं जे उपकुव्वंति, जीवा सोताणुगामिणो ।
वड्ढते पावकं तेसिं, अणगाहिस्स वा अणं ॥८॥

अणुबद्धमपस्सता, पच्चुप्पण्ण-गवेसका ।
ते पच्छा दुक्खमच्छंति, गलुच्छित्ता जहा झसा ॥९॥

आताकडाण कम्माणं, आता भुंजति तं फलं ।
तम्हा आतस्स अट्ठाए, पावमादाय वज्जए ॥१०॥

जं हता जं विवज्जेति, जं विसं वा ण भुंजति ।
जं ण गेण्हति वा वालं, णूणमत्थि ततो भयं ॥११॥

धावंतं सरसं नीरं, सच्छं वाढिं सिंगिणं ।
दोसभीरू विवज्जेंति, पावमेवं विवज्जए ॥१२॥

पावकम्मोदयं पप्प, दुक्खतो दुक्खभायण ।
दोसादोसोदधी चेव, पावकज्जा पसूयति ॥१३॥

अर्थात्—यहाँ मनुष्यों की आयु अल्प है और नरक में (पापकर्मों के फलस्वरूप) सुदीर्घकाल तक निवास होता है । सभी कामभोग (कामना-वासना) (अनन्त दुःखयुक्त) नरकों के मूल हैं । फिर कौन बुद्धिमान् (नरक दुःखमूल) कामभोगों में आनन्द मानेगा ॥१॥

निष्कर्ष यह है कि मानव की कामभोगजनित क्षणिक सुखानुभूति अपने पीछे नरकों की सागरोपम लम्बी दुःख-परम्परा लिये रहती है । सभी कामनाओं का पर्यवसान नरक में होता है ।

साधक पाप न करे, न ही प्राणियों की हिंसा करे । विषयों में कदापि

---

१. गाथा संख्या ४ से १० तक प्रथम भाग के पृष्ठ २१०-२१२ पर अध्याय १८ में गाथा संख्या ११ से १६ के रूप में आ चुकी है ।

रमण (आसक्ति) न करे। विषयविरक्त साधक उच्च-नीच शयनासनों में सुखी-दुःखी न हो। जैसे—जाल में से हवा पार हो जाती है, इसी तरह साधक को आसक्ति से पार हो जाना चाहिए ॥२॥

मनुष्य के मन में निहित लोभ और मोह पाप एवं हिंसा के प्रेरक तत्त्व हैं, साधक को पापं और हिंसा से, तथा आसक्ति से दूर रहना चाहिए। विषयों से विरक्ति ही आत्मनिष्ठ सुख का कारण है।

जो व्यक्ति (पुरुष) पाप करता है, निश्चय ही उसे आत्मा प्रिय नहीं है, क्योंकि स्वकृत कर्म (अशुभकर्म) को आत्मा स्वयं ही भोगता है ॥३॥

मोहमोहित आत्मा दूसरे (की हानि) के लिए हँस-हँसकर पाप करता है, वह उसके दुखद परिणाम को नही देखता, जैसे मछली आटे की गोली को गले में उतारती हुई खुश होती है, मगर उसके पीछे छिपी हुई अपनी मौत को नहीं देखती ॥४॥

मोहमल्ल से प्रेरित आत्मा वर्तमान विषय-सुख के रस में गृद्ध हो जाता है। (वह भविष्य में होने वाले कटु-परिणामों से आँखें मूँद लेता है।) जिस प्रकार हाथी पानी में रहकर मदोन्मत्त हो जाता है, उसी प्रकार मोह के कीचड़ में फँसकर आत्मा अधिक मोहान्ध हो जाता है ॥५॥

दर्परूपी मोहमल्ल से उद्धत बना हुआ व्यक्ति दूसरे के घात में आनन्द मानता है। जैसे वृद्धसिंह उन्मत्त होकर विवेक खो बैठता है और निर्बल प्राणियों की हिंसा करता है, इसी प्रकार मोहोन्मत्त मानव गुण-दोष का विवेक भूल जाता है (अहं को चोट लगते ही वह निर्बल पर टूट पड़ता है।)॥६॥

आत्मा स्ववश होकर पाप करता है। वह दुर्बुद्धि पूर्वकृत पाप के कारण दुःख का अनुभव करता है। पाप में आकण्ठ डूबा (आसक्त) हुआ व्यक्ति अनेक कष्टों और विपत्तियों की धारा में अपने आपको (खुला) छोड़ देता है ॥७॥

जो (वैषयिक) सुखाभिलाषी जीव के सुख के लिए पाप करते हैं, उन सुखार्थी आत्माओं का पाप उसी तरह बढ़ता जाता है, जिस प्रकार ऋण लेने वाले पर (प्रतिदिन) ऋण बढ़ता जाता है ॥८॥

जो केवल वर्तमान सुख को ही खोजते है, किन्तु उससे अनुबद्ध फल को नहीं देखते। वे जीव बाद में उसी प्रकार दुःख पाते हैं जिस प्रकार गला बींधी हुई मछली ॥९॥

वर्तमान सुख पर जिनकी दृष्टि है, वे उस सुख के साथ बँधी हुई

भावी दुःखों की परम्परा को नहीं देखते। जैसे—भोली मछली केवल आटे को देखती है, उसके समान पीछे छिपे हुए (उसकी मृत्यु के कारणभूत) काँटे को नहीं देखती।

आत्मा ही कर्मों का कर्ता है, और आत्मा ही उनका भोक्ता है। इसलिए साधक आत्मा के अभ्युदय के लिए पापकर्म करना छोड़ दे ॥१०॥

हत्यारे ने अभी मारना छोड़ दिया है, (किन्तु उसकी हिंसकवृत्ति नहीं मिटाई गई) विष (घर में रखा है) खाया नहीं गया, (संभव है, भूल से उस विष का उपयोग हो जाय), इसी प्रकार सर्प (घर में कहीं बैठा है) पकड़ा नहीं गया है, (वह छिपा हुआ सर्प कभी भी प्रहार कर सकता है) (तीनों को जब तक दूर न किया जाय, तब तक) इनसे भय बना रहता है, (इसी प्रकार पाप की वृत्ति-प्रवृत्ति का समूल परिहार करना चाहिए।) ॥११॥

(पिपासाकुल) सर्प या सींग वाले पशु जब स्वच्छ पानी की ओर दौड़ते हैं, तब भीरु व्यक्ति (उनके बीच में न आकर डरकर दूर से ही) उन्हें छोड़ देते हैं, उसी प्रकार दोषभीरु व्यक्ति को दूर से ही पाप को छोड़ (रोक) देना चाहिए ॥१२।

पाप से दूर होने के लिए पहली शर्त है—पाप को पाप माना जाय। पाप के प्रति उपेक्षा करने वाला या उसे स्वीकार न करने वाला एक नया पाप और करता है। यदि लाचारीवश कोई पाप हो गया है, तो उसके प्रति पश्चात्ताप और आलोचनापूर्वक प्रायश्चित्त करने का प्रयत्न होना चाहिए।

पापकर्मों के विपाकोदय के समय आत्मा दुःख का अनुभव करता है, परन्तु एक दुःख नये अनेक दुःखों की परम्परा लेकर आता है। दोषी व्यक्ति नये दोषों को ग्रहण करता है और इस रूप में वह पापकर्मों को जन्म देता है ॥१३॥

आशय यह है कि दुःख आने पर अगर दोषी व्यक्ति का मन शान्त है तो वह कर्मों का और तज्जन्य दुःख का क्षय करता है। किन्तु विपाकोदय के समय मन अशान्त हो गया और वह निमित्तों पर आक्रोश करने लगा तो दुःखभोग के समय नये कर्मों का उपार्जन कर लेगा। इस प्रकार वह भविष्य के दुःखों की नींव डाल देता है।

इस जीवन से आगे भी शुभाशुभ फल मिलेगा

प्रश्न होता है कि यह जीवन बिताकर मनुष्य जब चिरनिद्रा में सो जाता है, तब क्या जीवनतत्त्व समाप्त हो जाता है? यदि ऐसा है तो फिर

शुभ या अशुभ कर्मों का फल कब मिलेगा ? इसी का समाधान करते हुए अर्हतर्षि कहते हैं—

उब्भिवारा जलोहंता तेतणीए मतोद्दिठर्त ।
जीवितं वा वि जीवाणं, जीवंति फलमंदिरं ॥१४॥

भूकम्प से, जल-समूह से, आग से या तृणसमूह से मरकर भी जीवों का पुनर्जीवन प्रारम्भ हो जाता है, (जीवनतत्त्व समाप्त नहीं होता) । फल का आश्रयस्थान (मन्दिर)—कर्म यदि विद्यमान है तो जीवों का जीवन चालू रहेगा ॥१३॥

किसी दुर्घटना से मरने के बाद स्थूलदृष्टि वाले लोग ऐसा सोचते हैं कि जीवन समाप्त हो गया, परन्तु जीवन का तत्त्व समाप्त नहीं हुआ। जीवन के नाटक का एक दृश्य समाप्त हुआ है, पूरा नाटक नहीं। दृश्य बदलते हैं, दृष्टा नहीं बदलता । एक जन्म में किये हुए पुण्य-पाप का फल अन्य जन्मों में भोगना पड़ता है। जन्म-मृत्यु की परम्परा जब तक कर्म है, जब तब तक चलती रहेगी ।

अहिंसा का पालन क्यों और कैसे ?

सभी जीव जीना चाहते हैं, मृत्यु किसी को प्रिय नहीं है, इसलिए साधक को प्राणिहिंसा का पाप नहीं करना चाहिए, इसी विषय को युक्तिपूर्वक समझाते हुए अर्हतर्षि कहते हैं—

देज्जा हि जो मरंतस्स, सागरंतं वसुन्धरं ।
जीवियं वा वि जो देज्जा, जीवित तु स इच्छती ॥१५॥
पुत्त-दारं धणं रज्जं, विज्जा सिप्पं कला गुणा ।
जीविते सति जीवाणं, जीविताय रतो अयं ॥१६॥
आहारादि तु जीवाणं, लोए जीवाण विज्जति ।
पाण-संधारणट्ठाय दुक्खणिग्गहणा तहा ॥१७॥
सत्थेण वण्हिणा वा वि खते दड्ढे व वेदणा ।
सए देहे जहा होति, एवं सव्वेसि देहिणं ॥१८॥
पाणी य पाणिघातं च, पाणिणं च पिया दया ।
सव्वमेतं विजाणित्ता, पाणिघातं विवज्जए ॥१९॥
अहिंसा सव्वसत्ताणं सदा णिव्वेयकारिका ।
अहिंसा सव्वसत्तेसु परं बंभमणिंदियं ॥२०॥

देविंदा दाणविंदा य णरिंदा जे वि विस्सुता ।
सव्वसत्तदयोवेतं मुणीसं पणमंति ते ॥२१॥
तम्हा पाणदयट्ठाए तेल्लपत्तधरो जधा ।
एगग्गमणीभूतो दयत्थी विहरे मुणी ॥२२॥

अर्थात्—मरने वाले से (अन्तिम समय में) पूछा जाए कि सागर-पर्यन्त यह पृथ्वी दी जाए या जीवन दिया जाए ? तो वह (मरने वाला इन दोनों में से) जीवन ही चाहेगा ॥१५॥

पुत्र, पत्नी, धन, राज्य, विद्या, शिल्प, कला और गुण ये सभी पदार्थ प्राणियों के जीवित रहने पर ही, उनके जीवन को आनन्द दे सकते हैं ॥१६॥

इसलिए मनुष्य इन सभी प्रिय वस्तुओं को छोड़कर जीवन को महत्व देता है ।

लोक में जीवों के द्वारा दूसरे जीवों को आहारादि इसलिए दिये जाते हैं कि वे अपनी प्राण रक्षा कर सकें और दुःख का निग्रह कर सकें ॥१७॥

जैसे अपने शरीर में शस्त्र और अग्नि से आघात, और दाह होने (जल जाने) पर वेदना होती है, वैसे ही सभी देहधारियों को होती है ॥१८॥

इसलिए किसी भी प्राणी को शस्त्र से चोट पहुंचाना या अग्नि से जलाना नहीं चाहिए क्योंकि सभी प्राणियों की सुख-दुःख की अनुभूति हमारे जैसी ही है । अपनी अंगुलि में कोई सुई चुभोता है, तो पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा दूसरे के शरीर में सुई चुभोने पर होती है ।

प्राणियों को प्राणघात अप्रिय है, समस्त प्राणियों को दया प्रिय है । इस तत्व को भली-भांति समझ कर समस्त प्राणियों की हिंसा का त्याग करे ॥१९॥

समस्त प्राणियों को दया प्रिय है, हिंसा किसी को प्रिय नहीं है । इसलिए हिंसा का त्याग करना अनिवार्य है। अहिंसा के तत्व को भली-भांति समझने वाला व्यक्ति प्रत्यक्ष और परोक्ष (परम्परा से होने वाली) हिंसाओं से अवश्य बचेगा ।

अहिंसा समस्त प्राणियों को शान्ति देने वाली है । वह समस्त प्राणियों में (निहित आत्मगुण होने के कारण) अतीन्द्रिय परब्रह्म है ॥२०॥

समस्त प्राणियों के प्रति दयायुक्त मुनीश्वर को देवेन्द्र, दानवेन्द्र और ख्यातिप्राप्त नरेन्द्र भी प्रणाम करते हैं ॥२१॥

इसलिए दयाशील (दयार्थी) मुनि प्राणियों पर दया के लिए तेलपात्र-धारक की भाँति एकाग्र मन होकर विचरण करे ॥२२॥

भरत चक्रवर्ती ने एक अश्रद्धालु स्वर्णकार के हाथ में तेल से लबालब भरा कटोरा देकर अयोध्या के बाजारों में घूमने का आदेश दिया तथा इस प्रकार उसे जीवन में अनासक्ति, सावधानी और एकाग्रता का पाठ पढ़ाया था, उसी प्रकार दयालु साधक भी विषयों तथा सांसारिक रागरंग, हिंसादि पाप एवं विकारों से मन को हटाकर एक मात्र प्राणिमात्र के प्रति समभाव, दयाभाव में एकाग्रचित्त होकर चले।

जिनेश्वर की आज्ञा, अनुशासन : सिद्धान्त और शासन का महत्व

आत्मनिष्ठ सुख के अन्तर्द्रष्टा साधक के जीवन को अक्षय सुख की प्राप्ति के लिए जिनेन्द्र भगवन्तों की आज्ञा, सिद्धान्त, अनुशासन, शासन आदि के परिपालन का निर्देश करते हुए, अब अर्हतर्षि वैश्रमण कहते हैं—

आणं जिणिंद भणितं, सव्वसत्ताणुगामिणिं।
समचित्ताभिणंदित्ता, मुच्चंती सव्वबंधणा ॥२३॥
वीतमोहस्स दंतस्स, धीमंतस्स भासितं जए।
जे णरा णाभिणंदंति, ते धुवं दुक्खभागिणो ॥२४॥
जेऽभिणंदंति भावेण, जिणाऽणं तेसि सव्वधा।
कल्लाणाइं सुहाइं च, रिद्धीओ ण य दुल्लहा ॥२५॥
भणं तधा रम्ममाणं, णाणाभावगुणोदयं।
फुल्लं व पउमिणीसंडं, सुतित्थं गाहवज्जित ॥२६॥
रम्मं मतं जिणिंदाणं, णाणाभाव-गुणोदय।
कस्सेयं ण प्पिय होज्जा, इच्छियं व रसायणं? ॥२७॥
अण्हातो व सर रम्मं, वाहितो वा रुयाहरं।
च्छुहितो व अहाऽऽहारं, रणे मूढो व वंदिय ॥२८॥
वण्हिं सीताहतो वा वि, णिवायं वाऽणिलाहतो।
तातार वा भउव्विग्गो, अणत्तो वा धणागमं ॥२९॥
गंभीरं सव्वतोभद्दं, हेतु-भंग-णयुज्जलं।
सरण पयतो मण्णे, जिणिंद-वयणं तहा ॥३०॥
सारदं वा जलं सुद्धं, पुण्णं वा ससि-मंडलं।
जच्चमणिं अघट्ट वा, थिरं वा मेतिणी-तलं ॥३१॥

सामाविय-गुणोपेतं भासते जिणसासणं ।
ससी-तारा-परिच्छिण्ण, सारदं वा नभंगण ॥३२॥
सव्वण्णुसासणं पप्प विण्णाणं पवियम्भते ।
हिमवंतं गिरिं पप्पा तरुणं चारु आगमो ॥३३॥
सत्तं बुद्धी मती मेधा गंभीरत्तं च वड्ढती ।
ओसधं वा सुहं कंतं जुज्जए बल-वीरियं ॥३४॥
पयंडस्स णरिंदस्स कंतारे देसियस्स य ।
आरोग्गकारणो चेव आणाकोहो दुहावहो ॥३५॥
सासणं जं णरिंदाओ, कंतारे जे य देसगा ।
रोगुग्घातो य वेज्जातो, सव्वमेत हिए हियं ॥३६॥
आणा-कोवो जिणिंदस्स सरण्णस्स जुतीमतो ।
ससारे दुक्खसंबाहे दुत्तारो सव्वदेहिणं ॥३७॥
तेलोक्क-सार-गरुअं धीमतो भासितं इमं ।
सम्म काएण फासेत्ता, पुणो ज विरमे ततो ॥३८॥
बद्धचिधो जधा जोधो, बम्मारूढो थिरायुधो ।
सीहणायं विमुंचित्ता, पलाअं तो ण सोभतो ॥३९॥
अगंधणे कुले जातो, जधा णागो महाविसो ।
मुंचिता सविसं भूतो पियंतो जाति लाघवं ॥४०॥
जधा सप्पकुलोब्भूतो रमणिज्जं पि भोयणं ।
वंत पुणो स भुंजतो धिद्धिकारस्स भायणं ॥४१॥
एवं जिणिंद-आणाए सल्लुद्धरणमेव य ।
णिग्गमो य पलित्ताओ सुहिओ सुहमेव तं ॥४२॥

अर्थात्—साधक प्राणिमात्र का अनुगमन करने वाली जिनेन्द्र-कथित आज्ञा को समचित्त (एकाग्रमन) से स्वीकार करके सभी बन्धनों से मुक्त होता है ॥२३॥

संसार में जो वीतमोह (वीतराग), दान्त एवं स्थितप्रज्ञ के वचन को स्वीकार नहीं करते, वे मनुष्य अवश्य ही दुःख के भागी होते हैं ॥२४॥

जो व्यक्ति जिनेश्वर देवों की आज्ञा का सब प्रकार से भावपूर्वक अभिनन्दन करते हैं, उनके लिए कल्याण और सुख तो स्वतः प्राप्त हैं, ऋद्धियाँ भी उनके लिए दुर्लभ नहीं हैं ॥२५॥

जैसे नानाविध भावों और गुणों के उदय में रमण करता हुआ मन

आनन्द पाता है, मगरमच्छरों से रहित श्रेष्ठ तीर्थ विकसित पद्मिनियों के समूह से शोभा पाता है, इसी प्रकार नानाविध भावों और गुणों से उदित जिनेश्वर का मत (सिद्धान्त) सुरम्य है। इच्छित रसायन की भांति जिनेश्वरों का यह दर्शन (सुतीर्थ) किसे प्रिय नहीं होगा ? ।।२७।।

जैसे स्नान न किये हुए व्यक्ति के लिए सरोवर रम्य होता है, रोगपीड़ित के लिए रोगहारक (वैद्य) का घर (औषधालय) प्रिय होता है, क्षुधातुर (भूखे) आदमी को आहार प्रिय होता है, युद्ध में मूढ़ आकुल व्यक्ति सुरक्षित स्थान पसन्द करता है, शीत से पीड़ित व्यक्ति को अग्नि प्रिय लगती है, वायु के प्रकोप से पीड़ित व्यक्ति निर्वात स्थान चाहता है। भयोद्विग्न व्यक्ति सुरक्षा चाहता है और कर्जदार व्यक्ति धनप्राप्ति चाहता है। इसी प्रकार जन्म और मृत्यु की परम्परा से पीड़ित व्यक्ति को वीतराग का शासन प्रिय होता है ।।२८-२९।।

जिस प्रकार तृषार्त्त (प्यास से व्याकुल) व्यक्ति को पानी मिलने से वह आनन्दित होता है, उसी प्रकार गम्भीर, सर्वतोभद्र, हेतु, भग और नय से उज्ज्वल जिनेन्द्रदेव के वचनों की शरण में आने वाला मनुष्य आनद पाता है ।।३०।।

जैसे शरद ऋतु में जल शुद्ध होता है, पूर्ण चन्द्रमण्डल रमणीय प्रतीत होता है, प्रकाश करती हुई उच्चजाति की मणि और विशाल भूतल स्थिर होता है, इसी प्रकार स्वाभाविक गुणों से युक्त जिनशासन भी उसी प्रकार सुशोभित होता है, जिस प्रकार चन्द्र तारागण से व्याप्त शारदीय गगनांगण सुशोभित होता है ।।३१-३२।।

जिसने सर्वज्ञ का शासन पाया है, उस आत्मा का विज्ञान वैसा ही विकसित होता है, जैसे कि हिमालय में वृक्ष का सौन्दर्य विकसित हो जाता है। जिस प्रकार तेजपूर्ण औषधि से बल और वीर्य की वृद्धि होती है, इसी प्रकार जिनेन्द्रदेव के शासन से सत्त्व, बुद्धि, मति, मेधा और गम्भीरता की वृद्धि होती है ।।३३-३४।।

संसाररूपी अरण्य में प्रचण्ड राजा का, गुरु का और आरोग्यकारक वैद्य की आज्ञा का पालन न करना दुःख का कारण है। राजाओं का शासन, (संसाररूपी) वन के मार्गदर्शक गुरु का उपदेश और वैद्य से रोग का उपचार यह सब हितप्रद होता है, (उसी प्रकार सर्वज्ञ का शासन भी सर्वहितकर होता है।) ।।३५-३६।।

पुण्यराशि से देदीप्यमान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा की अवहेलना इस दुःखपूर्ण संसार में सबके लिए दुःखप्रद होगी। त्रैलोक्य के सारभूत महाप्रज्ञाशील बीतराग पुरुषों ने जो कुछ कहा है वह साधक के जीवन के लिए सम्यक् (सुखद) है, उसका काया से सम्यक् स्पर्श करके फिर उससे पीछे न हटे ॥३७-३८॥

राजचिह्न बांधकर रथ पर चढ़ा हुआ स्थिरायुध योद्धा सिंहनाद करके यदि रणभूमि से पलायन करता है, तो वह उसके लिए शोभास्पद नहीं है। अगन्धन कुल में पैदा हुआ सर्प जहर को फेंककर पुनः उसे ग्रहण करता है, तो वह हीनता (लघुता) को प्राप्त करता है ॥३९-४०॥

जैसे रुक्मिकुल में उत्पन्न सर्प सुन्दर भोजन करके, उसे वमन कर देता है और पुनः उसे खाता है तो धिक्कार का पात्र होता है, इसी प्रकार जिनेन्द्रदेव की आज्ञा यथावत् पालन करने से आत्मा पर लगे हुए शल्यों का उद्धार (निकालना) होता है। संसार की आग से निकल कर वह साधक सुखी होता है और वास्तव में वही सच्चा सुख है ॥४१-४२॥

वीतराग की आज्ञा किसी प्राणिविशेष पर नहीं, किन्तु समस्त प्राणियों पर अनुकम्पा रखने की है। उसमें किसी भी प्राणी के प्रति पक्षपात या भेदभाव का नाम नहीं है। वीतराग की समस्त विधि-निषेधात्मक आज्ञाएं साधक के लिए हितकर हैं। उन आज्ञाओं के पीछे उनकी कोई व्यक्तिगत आकांक्षाएँ नही हैं, क्योंकि वे स्वयं मोहातीत है। साथ ही वे इन्द्रियविजेता हैं, उन्होंने स्वयं उन आज्ञाओं का अनुपालन किया है। उसके बाद ही साधक के लिए विधान किया है। वे अनन्त-प्रज्ञाशील है। केवलज्ञान के प्रकाश पुंज से उन्होंने साधकों को ज्ञान-किरणे दी हैं। उनकी आज्ञाओं को ठुकरा कर हम उन्हें तो कष्ट नहीं दे सकते, क्योकि वे स्वयं वीतराग हैं, परन्तु हम उनकी आज्ञाओं को ठुकराकर अपने आपको दुःख और बंधनों की शृंखला में बाँध देते है।

जिस प्रकार तेजस्वी राजा के आदेश का पालन न करने पर व्यक्ति स्वय को कठोरतम दण्ड की विडम्बना में डाल लेता है, वैद्य के पथ्यापथ्य का आदेश न मानकर रोगी अपने रोग को दुगुना कर लेता है, इसी प्रकार निःस्वार्थ, निःस्पृह जगद्गुरु वीतराग के आदेश की अवहेलना करके व्यक्ति उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता, किन्तु अपने जीवन की सीधी राह में कांटे बिखेर लेता है।

मोहविजय और कषायविजय के पवित्र आदेश का पालन न करके

व्यक्ति मोह के जाल में फंसता है और दुःख परम्परा को निमन्त्रण देता है। शरण्यभूत वीतरागदेव की आज्ञा कठोर होने पर भी उसका सम्यक् रूप से काया के द्वारा अनुपालन करना आवश्यक है। वीतरागदेव की कल्याणप्रद आज्ञाओं का यथोचित पालन सुख की शाश्वत राह दिखाता है। आत्मशक्ति के साथ उसे अनेक लब्धियां भी प्राप्त हो जायँ तो कोई आश्चर्य नहीं। जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के यथावत् पालन से शल्योद्धरण सम्भव है। साधक इसका सम्यक् परिपालन करके दावानल से निकल कर शाश्वत शान्ति पा सकता है तथा सभी दुःखों से मुक्त हो सकता है। वीतरागदेव का शासन सम्यक्त्वशील आत्मा को अत्यन्त प्रिय लगता है।

ऋद्धि गर्व और साता गर्व—दुःखकारक

अब अर्हतर्षि ऋद्धि और साता के गर्व से होने वाले दुःखों को जानकर उनसे दूर रहने का संकेत करते हैं—

इंदासणी ण त कुज्जा, दित्तो वण्ही अणं अरी।
आसाविज्जंत-सम्बन्धो, जं कुज्जा रिद्धिगारवो ॥४३॥

विस - गाह - सरछूढं, विसं - वामाणुजोजितं।
सामिस वा णदी-सोय, य साताकम्म दुहंकरं ॥४४॥

हेम वा आयस वा वि बधणं दुक्खकारण।
महग्घस्सावि दंडस्स णिवाए दुक्खसंपदा ॥५०॥

असज्जमाणे दिव्वम्मि धीमता कज्जकारणं।
कत्तारे अभिवारित्ता विणीयं देहधारणं ॥५१॥

अर्थात्—इन्द्र का वज्र, प्रज्वलित अग्नि, ऋण और शत्रु इतनी हानि नहीं पहुंचा सकते, जितना कि मन से आस्वादन (रस) लिया जाता हुआ ऋद्धि का गर्व हानि पहुंचाता है ॥४३॥

विष और मगरमच्छ आदि से व्याप्त सरोवर, विषमिश्रित नारी (विषकन्या) तथा मांसयुक्त नदी-स्रोत की भाँति सुख के कर्म भी अन्त में दुःखकारक होते हैं ॥४४॥

बन्धन लोहे का हो, या सोने का दुःख का ही कारण होता है। दण्ड (डण्डा) कितना ही मूल्यवान क्यों न हो, (पीठ आदि पर) पड़ने पर दुःख तो अवश्य होता है ॥५०॥

दिव्य लोक (स्वर्ग) में अनासक्त होकर बुद्धिमान कार्य और कारण को

पहचाने। कर्त्ता अर्थात् आत्मा का अनुसरण करके साधक देहधारण को दूर (समाप्त) करे ॥५१॥

इन्द्र का वज्र, प्रदीप्त आग, कर्ज और शत्रु, ये सभी व्यक्ति को संकट में डाल सकते हैं, पर ये सभी आत्मा को उतनी पीड़ा नहीं पहुंचा सकते, जितना कि मन में घुसा हुआ ऋद्धि का गर्व। गौरव ऋद्धि का हो, रस का हो या साता का; एक प्रकार से रौरव बनकर मन में जब धधकता है; तो सद्‌गुणों को भस्म कर डालता है। रावण तथा सुभूम चक्रवर्ती जैसे इस गौरव की आग में ही राख हो गये। हिटलर और मुसोलिनी के गर्व ने जर्मनी और इटली का पतन करवाया।

कर्म चाहे सुखरूप हो या दुःखरूप, उसका अन्तिम परिणाम दुःखरूप ही होता है। मरुदेवी माता को पूर्ण सातावेदनीय का उदय होने पर भी जन्म-मरण का एवं वियोग का दुःख तो था ही। अतः सम्यग्दर्शन-सम्पन्न आत्मा सुख-सातारूप कर्म का भी गर्व न करे, उसका भी अन्त करे।

सुरम्य सरोवर भी अगर मगरमच्छों से व्याप्त है, या उसका पानी विष मिश्रित है तो कोई भी उसमें डुबकी लगाना नहीं चाहेगा। अनिन्द्य सुन्दरी विषकन्या का स्पर्श प्राणघातक होता है, मांस के टुकड़ों से युक्त नदी का प्रवाह मछलियों के लिए प्राणघातक हो सकता है, इसी प्रकार सुखदायक शुभकर्म भी अशुभ विपाक को लिए रहता है। सुख की अत्यधिकता से या गर्व से मनुष्य की विवेक ज्योति लुप्त हो जाती है। वह सुख के गर्व में पागल हो उठता है। दुर्योधन, रावण और कोणिक सुख के अहंकार में पागल ही तो थे।

पुण्य भले ही सुखदायक लगता हो, है वह बन्धहेतुक ही। पाप लोहे की बेड़ी है तो पुण्य सोने की बेड़ी है। पाप कारागृह की काली कोठरी है तो पुण्य नजरबन्द कैद है। नजरबद कैद मे व्यक्ति महलों में रहता है और महलों के पूरे आराम उसे मिलते हैं, किन्तु मुक्ति नही मिल सकती। पुण्य दुनिया के पूरे सुख दे सकता है, किन्तु संसार की नजरकैद से मुक्ति नहीं दिला सकता। मुक्ति का अभिलाषी साधक पुण्यरूपी स्वर्ण श्रृंखला को भी तोड़ना चाहेगा। वह इसमें आसक्त नही होगा। पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त सुख से भी वह आसक्त नहीं होगा।

लिंग और वेष आदि का महत्त्व आत्मनिष्ठा में है

साधक को लिंग और वेष आदि को महत्त्व न देकर आत्मा को लक्ष्य में रखकर साधना करने का निर्देश देते हुए अर्हतर्षि कहते हैं—

कोसीकिते व्वाऽसी तिक्खो भासच्छण्णो व पावओ ।
लिंग-वेस-पलिच्छण्णो अजियप्पा तहा पुमं ॥४५॥

अर्थात्—जैसे तीक्ष्ण तलवार म्यान में रहती है, और अग्नि भस्माच्छादित रहती है, इसी प्रकार अजितात्मा (इन्द्रियों को वश में न रखने वाले) पुरुष नानाविध लिंग और वेष में छिपे रहते हैं ॥४५॥

जिनका लिंग और वेश तो सयमी साधक का है, परन्तु जिनके मन में वासना की ज्वाला शान्त नहीं हुई है ऐसे व्यक्ति स्व-पर वंचना करते हैं। ऐसे व्यक्ति आत्मनिष्ठ सुख से दूर रहते हैं। आत्मनिष्ठ सुख के इच्छुक साधक लिंग और वेष से अपना स्वार्थ सिद्ध न करके आत्मा के प्रति वफादार रहे।

विभिन्न तृष्णाओं से दूर रहो

इससे आगे तीन गाथाओं द्वारा आत्मनिष्ठ साधक को विभिन्न तृष्णाओं से दूर रहने का अर्हतर्षि सन्देश दे रहे है—

कामा मुसामुही तिक्खा, साताकम्मानुसारिणी ।
तण्हा सातं च सिग्घ च, तण्हा छिंदति देहिणं ॥४६॥
सदेवोरग गंधव्वं सतिरिक्खं समाणुसं ।
बत्त तेहिं जगं किच्छ तण्हा-पास-णिबंधणं ॥४७॥
अक्खोवंगो वणे लेवो, तावण ज जउस्स य ।
णामण उसुणो ज च, जुत्त तो कज्ज-कारणं ॥४८॥

अर्थात्—काम तीक्ष्ण मृषामुखी (असत्यवादी) कैंचियां है। वे सात कर्मानुसारी हैं। किन्तु यह तृष्णा शरीरधारियों की शान्ति और तृषा को शीघ्र काट देती है ॥४६॥

जिसने तृष्णा का बन्धन तोड़ दिया है, उसने देव, नाग, गन्धर्व और तिर्यञ्च तथा मनुष्य सहित सम्पूर्ण लोक का त्याग कर दिया ॥४७॥

आँख मे अजन लगाना, व्रण (मुंहासे) पर (कीम, स्नो आदि का) लेप लगाना, लाख का तपाना और बाण का झुकाना इन सबके पीछे योग्य कार्य-कारण-परम्परा काम कर रही है ॥४८॥

कामनाएँ एवं वासनाएं जहाँ रहती हैं, वहाँ असत्य अवश्य रहता है। कामी व्यक्ति अपने पाप को छिपाने के लिए सौ-सौ झूठ का आश्रय लेता है। तृष्णा सुख चाहती है, किन्तु वह देहधारियों की शान्ति को अविलम्ब भंग कर देती है। दुनिया के आधे से अधिक संघर्ष तृष्णा के नियन्त्रण के

अभाव के कारण होते हैं। तृष्णा का गुलाम सारी दुनिया का गुलाम है। तृष्णाविजयी सारी दुनिया पर विजय पा लेता है।

तृष्णाशील व्यक्ति का जीवन सदैव भौतिक प्रवृत्तियों में बीतता है। स्वाध्याय, ध्यान, जप आदि के महत्वपूर्ण समय का उपयोग वह अपने बनाव शृंगार में, सौन्दर्य-प्रसाधन में बिताता है। नेत्रांजन, बालों की सजावट, स्नो-पाउडर आदि में घटों लगा देने वालों के पास आत्म-चिन्तन एवं साधना के लिए पाँच मिनट का समय नहीं है। ज्ञानी की समस्त क्रियाएँ सोद्देश्य और आत्मसाधना को लेकर होती है, जबकि रागी एवं तृष्णाशील की समस्त क्रियाएँ रूपतृष्णा, लोभतृष्णा आदि के रूप में राग-पोषक होती हैं।

देही की रक्षा के लिए देह की रक्षा करे

देह से अनेक पाप होते हैं, इसलिए क्या साधक देह का त्याग कर दे ? या कोई और उपाय है, जिससे वह देह की रक्षा करता हुआ, उसे पापकर्मों से बचाए ? इस सन्दर्भ में अर्हतर्षि कहते है—

सागरेणावणिज्जोको आतुरो वा तुरंगमे।
भोयणं भिज्जएहिं वा जाणेज्जा देहरक्खणं ॥५२॥
आहारादी - पडीकारो सव्वण्णु - वयणाहितो।
अप्पा हु तिव्व-वण्हिस्स संजमट्ठाए संजमो ॥४६॥

अर्थात्—समुद्र में नाविक (लक्ष्य तक पहुंचने के लिए) नौका की रक्षा करता है, आतुर व्यक्ति घोड़े की रक्षा करता है, भिद्यक (भूखा) व्यक्ति भोजन की रक्षा करता है, वैसे ही साधक देह की रक्षा करता है ॥५२॥

पेट (भूख) की ज्वाला को शान्त करने के लिए आहारादि द्वारा प्रतीकार करना सर्वज्ञ वचनों से सम्मत है, वह सयमस्थित साधक के संयम के लिए हितप्रद है ॥४६॥

साधक देह की आसक्ति नहीं रखता, किन्तु देह तो रखता ही है। देह को वह धर्मपालन के साधन के रूप में स्वीकार करता है। नाविक समुद्र की लहरों में नौका की रक्षा करता है, क्योंकि वह जानता है कि नौका द्वारा ही उसकी जीवन नैया तिर रही है, और तट पर पहुंचने के बाद वह स्वयं नौका को छोड़ देता है। इसी प्रकार अपनी मंजिल पर पहुंचने के लिए घुड़सवार घोड़े पर चढ़ता है, लेकिन मंजिल पर पहुंचने के बाद स्वयं घोड़े से उतर जाता है। इसी प्रकार क्षुधित व्यक्ति भूख लगने पर भोजन करता

है और क्षुधापूर्ति होने के बाद स्वयं उससे मुँह मोड़ लेता है। इसी प्रकार साधक देह की रक्षा करता है, पर उसका उद्देश्य देह की रक्षा नहीं, अपितु आत्म-रक्षा है। जब तक देह द्वारा देही को पोषण मिलता है, तब तक वह देह की रक्षा करता है, जब लक्ष्य पर पहुंच जाता है, तब देह को छोड़ देता है। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र (२६/३३) में कहा गया है कि साधक ६ कारणों से आहार करता है—क्षुधा की शान्ति, रत्नाधिकों की सेवा, ईर्यासमिति, सयम यात्रा का निर्वाह, प्राणरक्षा और धर्मचिन्तन।

निष्कर्ष यह है कि उसका भोजन केवल शरीर के पोषण के लिए नहीं अपितु संयम की रक्षा आदि के रूप में आत्मविकास के लिए होता है। इस प्रकार साधक द्वारा किया जाने वाला भोजन सर्वज्ञों द्वारा अनुमत है।

अपनी शक्ति का संयम में उपयोग करे

अब अर्हतर्षि भोजन द्वारा प्राप्त होने वाली शक्ति का उपयोग दूसरों को दबाने-सताने में नही, अपितु ज्ञान-दर्शन-चारित्र पालन मे करने का निर्देश करते हुए कहते हैं—

> **जातं जात तु वीरिय सम्मं जुज्जेज्ज संजमे।**
> **पुप्फादीहि पुप्फाणं रक्खंतो आदिकारणं ॥५३॥**

साधक अपने भीतर प्रकट होने वाली शक्ति का संयम में सम्यक् प्रकार से उपयोग करे। पुष्पों का उपयोग करने वाला पुष्पों के आदिकारण बीज की रक्षा करता है।

बन्धुओ !

साधक सात्त्विक उपायों से शक्ति प्राप्त करे, किन्तु उस शक्ति का विवेकपूर्वक उपयोग करे। संयम में किया गया पुरुषार्थ आत्मविकास में सहायक होता है। तभी आध्यात्म रस का आनन्द प्राप्त होगा। आत्मिक शक्ति प्राप्त होगी। परन्तु यदि शक्ति का गलत उपयोग किया तो वह देवत्व के बदले राक्षसत्व की ओर ले जायगी। राम ने शक्ति का सही उपयोग करके देवत्व पाया था, और रावण ने उसका गलत उपयोग करके राक्षसत्व पाया। शक्ति दोनों को प्राप्त हुई थी। अतः शक्ति का उपयोग सुन्दर ढंग से करने वाला जीवन का वास्तविक आत्मनिष्ठ सुख-आनन्द प्राप्त करता है। आप भी अपनी शक्ति का सदुपयोग करें, तभी जीवन सार्थक होगा।

□□

उपसंहार

सुज्ञ श्रोताओ !

मैं पिछले दिनों से आपको ऋषिभाषित सूत्र पर प्रवचन सुनाता रहा हूँ। आज मैने आप लोगों को इस सूत्र के अन्तिम अध्ययन पर प्रवचन सुनाया है। उसमे अर्हतर्षि वैश्रमण ने साधक को अपनी शक्ति का सयम में उपयोग करने की प्रेरणा दी है। इस ४५वें अध्ययन के साथ ही ऋषिभाषित सूत्र समाप्त हो गया है।

अब मैं आपको इस सूत्र के सम्बन्ध मे कुछ विशेष जानकारी देना चाहता हूँ। इसमें पहली बात तो यह है कि ये अर्हतर्षि किस तीर्थंकर के शासनकाल में हुए हैं। दूसरी यह कि मूल ऋषिभाषित के अध्ययनों का नामकरण किस शैली के आधार पर हुआ है। तीसरी यह कि इन अर्हतर्षियों की विषय प्रतिपादन शैली क्या है और उसमें कैसे अनुभूत रहस्य भरे हैं।

अर्हतर्षियों के नाम और समय

हाँ तो अब पहली बात लीजिए—

बन्धुओ ! इन अर्हतर्षियों के नाम और वे किस तीर्थंकर के शासनकाल में हुए, इस सम्बन्ध में निम्न सग्रहिणी गाथाएँ प्राप्त होती हैं—

> **पत्तेयबुद्धमिसिणो बीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।**
> **पासस्स य पण्णरस वीरस्स विलीणमोहस्स ॥**

अर्थात्—बीस अर्हतर्षि प्रभु अरिष्टनेमि के शासन काल में हुए, पन्द्रह भगवान पार्श्व के काल में और शेष दस भगवान महावीर के समय में हुए।

इसका अभिप्राय यह है कि इन अर्हतर्षियों का सम्पूर्ण काल अन्तिम तीन तीर्थंकरों तक विस्तृत है।

एक बात यहाँ विशेष कहने की है कि भगवान अरिष्टनेमि का युग ही कर्मयोगी श्रीकृष्ण का युग है। उस समय से भारत का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त होता है, तथा भारतीय उपमहाद्वीप में प्रवहमान धार्मिक, सामाजिक,

राजनीतिक, नैतिक आदि सभी विचारधाराओं की भी जानकारी प्राप्त होती है।

इस दृष्टि से ऋषिभाषित सूत्र को विशेष महत्व प्राप्त हो जाता है, क्योंकि इसमें विभिन्न अर्हतर्षियों के वक्तव्यों के माध्यम से तत्कालीन जन-मानस की दशा का परिज्ञान होता है; साथ ही धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विचारधाराओ के स्वर किस रूप में प्रस्फुटित हुए, इस प्रवाह पर तथ्यपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

अब मैं उन अर्हतर्षियों के नाम गिनाता हूँ—

णारद-वज्जियपुत्ते-असिते-अगारसि-पुष्फसाले य।
वक्कल-कुम्मा-केवलि-कासव तह तेतलिसुते य॥

मंखली-जण्ण-मयालि-बाहुय-मुह-सोरियाण विदूविपू।
वरिसकण्हे-आरिय-उक्कलवादी य तरुणे य॥

दगभाले-रामे य तहा हरिगिरि-अम्बड-मयंग-वारत्ता।
तत्तो य अद्द य वद्धमाणे-वाउ वा तीसतीमे॥

पासे-पिंगे-अरुणे-इसगिरि-अद्दालए य बित्ते य।
सिरिगिरि-सातियपुत्ते-सजय-दीवायणे चेव॥

तत्तो य इंदणागे-सोम-यमे चेव होइ वरुणे य।
वेसमणे य महप्पा चत्ता पचेव अक्खाए॥

अर्थात्—(१) नारद (२) वज्जियपुत्र
(३) असित (४) अंगरिसि
(५) पुष्पसाल (६) वल्कलचीरी
(७) कूर्म (८) केतलि (पुत्र)
(९) काश्यप (१०) तेतलिपुत्र
(११) मंखली (१२) यज्ञ
(१३) भयाली (१४) बाहुक
(१५) महु (१६) सोरियायण
(१७) विदु (१८) वरिसवकृष्ण
(१९) आरियायन (२०) उत्कलवादी
(२१) तरुण (गाथापतिपुत्र) (२२) दगभाली
(२३) रामपुत्र (२४) हरि
(२५) अम्बड (२६) मातंग

(२७) बारत्त	(२८) आर्द्रक
(२९) वर्द्धमान	(३०) वायु
(३१) पार्श्व	(३२) पिंग
(३३) अरुण	(३४) ऋषिगिरि
(३५) अद्दालक	(३६) वित्त (तारायण)
(३७) सिरिगिरि	(३८) सातिपुत्र
(३९) संजय	(४०) दीवायन
(४१)) इंद्रनाग	(४२) सोम
(४३) यम	(४४) वरुण और

(४५) वैश्रमण।

यह ४५ अर्हतर्षि हैं।

बन्धुओ ! इन नामों में कुछ नाम ऐसे हैं जो अन्य परम्पराओं में अधिक प्रचलित थे, जैसे—सातिपुत्र, बौद्ध परम्परा में प्रचलित नाम है, इनके नाम के साथ बुद्ध विशेषण भी लगा हुआ है, लेकिन यहाँ बुद्ध का अभिप्राय जागृत—ज्ञानप्राप्त आत्मा से है बौद्ध परम्परा या धर्म से नहीं है। इसके अतिरिक्त सोम, यम, वरुण, अरुण, इन्द्रनाग आदि शब्द वैदिक परम्परा में अधिक प्रचलित हैं। लेकिन इन नामों के आधार पर इन्हें अन्य परम्पराओं का समझना भूल होगी। इनके द्वारा कथित सिद्धान्तों से स्पष्ट है कि ये सभी अर्हत् परम्परा के ऋषि थे।

साथ ही यह बात भी स्पष्ट है कि ये सभी जैनधर्म, तत्त्वज्ञान और आचार-विचार में बहुत गहरे उतरे हुए थे।

अध्ययनों का नामकरण

बन्धुओ ! किसी भी ग्रन्थ अथवा उसके अध्यायों के नामकरण की प्रमुख दो शैलियाँ है—(१) विषय पर आधारित और (२) वक्ता या रचयिता अथवा प्रमुख पात्र पर आधारित। इसके अतिरिक्त कभी-कभी तीसरी शैली का प्रयोग भी कर लिया जाता है, वह है—गाथा अथवा श्लोक के प्रथम शब्द के आधार पर।

जैन ग्रन्थों में नामकरण की ये तीनों शैलियां प्रचलित थीं। उदाहरणार्थ—उत्तराध्ययन सूत्र का विनयश्रुत अध्ययन', आचारांग का 'शस्त्र परिज्ञा अध्ययन' आदि विषय पर ही आधारित नाम हैं।

दूसरी शैली का प्रयोग उत्तराध्ययन सूत्र के 'कपिलीय', 'संजयीय' आदि अध्ययनों के नामकरण में हुआ है।

वास्तव में यह दूसरी शैली व्यक्ति प्रधान रचनाओं में प्रयुक्त होती है, उदाहरणार्थ—शांतिनाथ चरित्र, रामायण, ऋषभ चरित्र, जंबूकुमार चरित्र आदि-आदि।

तीसरी शैली जिसमें अध्ययन की प्रथम गाथा के प्रथम शब्द के आधार पर नामकरण किया जाता है, एक विशिष्ट शैली है। इसका आधार जन-प्रचलन है। वस्तुतः यह नाम जनता द्वारा दिया जाता है, इसमें रचयिता का नाम गौण हो जाता है और रचना प्रमुख हो जाती है।

इस शैली के उदाहरण हैं—भक्तामरस्तोत्र, नमोत्थुणं, लोगस्स आदि। 'भक्तामर' आचार्य मानतुंग रचित भक्तिपरक स्तुति काव्य है, और 'णमोत्थुण' शक्रेन्द्र द्वारा की गई भगवान महावीर की स्तुति है तथा 'लोगस्स' है चतुर्विंशतिस्तव, इसमे वर्तमानकालीन चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है किन्तु ये तीनों अपने-अपने काव्यों के प्रथम शब्द से जन-जन में विख्यात हैं।

तीसरी शैली की प्रमुख विशेषता यह भी है कि प्रस्तुत कृति जन-जन में अधिक लोकप्रिय रही है, यह सहज ही कहा जा सकता है। आप सभी जानते हैं कि भक्ति काव्य 'भक्तामर' का जैन जगत में कितना प्रचार है, लाखों जैन और यहाँ तक कि अजैन भी इसका नित्य पाठ करते हैं।

यही बात लोगस्स' और 'णमोत्थुणं' के विषय में सत्य है। सामायिक साधना के समय और यों भी अधिकांश जैनधर्मानुयायी इनका पाठ करते रहते हैं। ये दोनों पाठ भी जन-जन में बहुत प्रचलित हैं।

प्रस्तुत कृति 'ऋषिभाषितानि' के नामकरण में प्रथम और तृतीय—दोनों शैलियों का प्रयोग हुआ। सम्पूर्ण रचना का नाम है—इसिभासियाइं अथवा ऋषिभाषितानि; अर्थात् ऋषियों द्वारा कहा हुआ; यह नाम वक्ताओं पर आधारित है।

तृतीय शैली में इसके अध्ययनों के नाम रखे गये हैं। इस सम्बन्ध में ५ सग्रहिणी गाथाएँ प्राप्त होती हैं। वे ये हैं--

सोयव्व जस्स अविलेवे आदाणरक्खि माणे य।
तम सव्वं आराए जाव य सद्धेय णिव्वेय ॥१॥
लोगेसणा किमत्थं जुत्तं सतो तत्थेव विसए।
विज्जा वज्जे आरिय उक्कल णाहति जाणामि ॥२॥
पडिसाडी ठवणा दुवेमरणे सव्वं तहेव वसे य।
धम्मे य साहू सोते सवंति अहसव्वतो समेलोए ॥३॥

किसी बाले य पंडित सहणा तह कुप्पणा य बोद्धव्वा ।
तप्पत उदय य सुव्वां पावे तह इच्छमिच्छा य ।।४।।
आजीवओ य अप्पजिण य एसितव्व बहुधम्मु ।
लाभे दो ठाणेहिं य अप्प पापाण हिंसायु ।।५।।

— इसिभासित अत्थाहिगार संगहिणी समत्ता

अर्थात्—(१) सोयव्वं (२) जस्स
(३) अभिलिव (४) आदाणरक्खि
(५) माण (६) तम
(७) सव्वं (८) आराए
(९) जाव (१०) सद्धे य
(११) णिव्वेय (१२) लोगेसणा
(१३) किमत्थं (१४) जुत्तं
(१५) साता (१६) विसय
(१७) विज्जा (१८) वज्ज
(१९) आरिय (२०) उक्कल
(२१) णाहृति जाणामि (२२) पडिसाडी
(२३) ठवण दुवेमरणे (२४) सव्वं
(२५) वंस (२६) धम्म
(२७) साहु (२८) सोत
(२९) सवति (३०) अहसव्वतो
(३१) समेलोए (३२) किसी
(३३) बाले य पंडित (३४) सहणा
(३५) कुप्पणा (३६) तप्पत
(३७) उदय (३८) सुव्वा
(३९) पाव (४०) इच्छमणिच्छ
(४१) आजीवओ (४२) अप्पजिणय
(४३) लाभे (४४) दो ठाणेहि और
(४५) अप्पं पापाण हिंसायु ।

यह ऋषिभाषित सूत्र के ४५ अध्ययनों के नाम हैं ।

सज्जनो ! जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूं कि जनता उसी कृति का नामकरण करती है, जो लोकप्रिय हो । इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि ऋषिभाषित सूत्र के ये अध्ययन उस युग में अधिक लोकप्रिय रहे होंगे ।

लेकिन यहाँ, यह भी समझ लेना उपयुक्त होगा कि कोई भी रचना अकारण ही जनता का कण्ठहार नहीं बन जाती। उसमें अपनी—स्वयं की कुछ मौलिक विशेषताएँ होती हैं, कुछ गुण होते हैं, प्रेरणाएँ होती हैं और जीवन-दृष्टियाँ होती हैं। सबसे बड़ी विशेषता होती है—साधारण जन सरलता से समझ सकें, ऐसी सहज, सरल और प्रवाह युक्त शैली तथा भाषा।

ऋषिभाषित सूत्र में ये सभी गुण भरपूर मात्रा में हैं। इसमें जितने भी कथन हैं, सभी अनुभूत सत्य हैं।

इसमें एक सर्वांगपूर्ण जीवन दृष्टि है। पाठक के जीवन के लौकिक और लोकोत्तर—सभी क्षेत्रों में समुचित प्रेरणा का प्रकाश इसके अध्ययनों से प्राप्त होता है।

मैं आप लोगों से अनुरोध करता हूँ कि इसमें दिये गये प्रेरणा सूत्रों को जीवन-व्यवहार में लाइये। यदि आप ऐसा करेंगे तो आपका व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का जीवन सफल बनेगा, ऐसी आशा है।

अन्त में आपसे यही कहूंगा कि आप अपने जीवन को अधिक स्वस्थ, सुखी; समझदारीपूर्ण और शान्त बनाने का सकल्प लें। □